कश्मीर का संस्कृत साहित्य को योगदान

डॉ० वेद कुमारी

जम्मू कश्मीर में संस्कृतसाहित्य की प्राचीनतम कृति के सन्दर्भ में विद्वानों मे अभी तक मतैक्य नहीं हो पाया है। कुछ विद्वान् 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण, (पांचवीं-छठी शताब्दी) को प्राचीनतम मानते हैं तो अन्य नीलमतपुराण' (सातवीं शताब्दी) को। यद्यपि 'पादताडितक' के रचनाकाल के विषय में ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं परन्तु आधुनिक शोध के आधार पर उसका रचनाकाल पांचवीं शताब्दी ठहरता है। ऐसे मे इस बात के महत्त्व को सहज ही रेखाङ्कित किया जा सकता है कि इस प्रदेश की संस्कृतसाहित्य को देन की समीक्षा करना कितना कठिन एवं कष्टसाध्य कार्य है। एक बात निर्विवाद है कि कश्मीर की धरती ने पुराण, नाटक, काव्य, दर्शन, व्याकरण, तन्त्र एवं अलङ्कारशास्त्र आदि को समृद्ध बनाने में अभूतपूर्व योगदान दिया है। डॉ० वेदकुमारी ने इस ग्रन्थ में उन्हीं रचनाओं की चर्चा की है जो प्रकाश में आ चुकी हैं। अनेक ऐसे ग्रन्थ जिनका यत्र तत्र उल्लेख मिलता है किन्तु जिनके बारे में ठोस और प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नही है उनका विचार करने से जानबूझ-कर बचा गया है।

इस ग्रन्थ मे संस्कृतसाहित्य को जम्मू कश्मीर के योगदान की प्रामाणिक जानकारी दी गयी है। सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य का विकासक्रम भी प्रकारान्तर से प्रदर्शित किया गया है। सस्कृतसाहित्य के विद्वानों के लिए भी इसमें उपयोगी सामग्री मिलेगी। सस्कृतसाहित्य के अनुरागियों और अनुसन्धाताओं के लिए इस कृति की उपयोगिता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

कश्मीर का संस्कृतसाहित्य को योगदान

डॉ० वेदकुमारी

जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़,
जम्मू
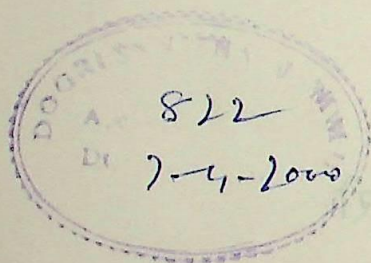
जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू
द्वारा प्रकाशित
रूपाभ प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली
द्वारा मुद्रित

मूल्य : रु० ३२.००

प्रथम संस्करण : १९८७

आवरण : हरिप्रकाश त्यागी

KASHMIR KA SANSKRIT SAHITYA KO YOGADANA
by Dr. Ved Kumari

अपनी बात

सन् १९५८ ई० में जम्मू कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़ की स्थापना इस विश्वास के साथ की गयी थी कि इसके द्वारा न केवल विभिन्न कलाओं को पास लाने का प्रयत्न किया जायेगा अपितु विभिन्न भाषाओं के साहित्य को भी एक दूसरे के पास लाने में सफलता मिलेगी। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि हम अपने उद्देश्य में सफल रहे हैं। हमने जहां एक ओर 'शीराज़ा' (आठ भाषाओं में प्रकाशित द्विमासिक पत्रिका), 'हमारा साहित्य' (वार्षिक संकलन) तथा अन्य प्रकाशनों के माध्यम से इस प्रदेश की सभी मान्यताप्राप्त भाषाओं के लेखकों को प्रोत्साहित किया है वहां एक भाषा के साहित्य को अनुवाद के माध्यम से दूसरी भाषा में लाकर सभी भाषाओं में आपसी समझ और सौहार्द को बढ़ावा देने का यत्किंचित् प्रयास किया है। 'कश्मीरी साहित्य का इतिहास' तथा 'डोगरी भाषा : उद्भव और विकास' जैसी पुस्तकें हमारे इस दावे को सही साबित करती हैं क्योंकि इन विषयों पर मूल भाषाओं में प्रामाणिक रचनाओं के प्रकाशन में अभी समय लगेगा।

एक समय कश्मीर को देववाणी संस्कृत का घर कहा जाता था। यहां के साहित्यसाधनारत आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र को अपनी मौलिक उद्भावनाओं से समृद्ध किया था। यही कारण है कि आज भी हिन्दी साहित्य में आलोचना के लिए इन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के सहारे ही आगे बढ़ा जा सकता है। हमारे कुछ प्रगतिशील आलोचक इस मुद्दे को लेकर दुखी रहते हैं कि इन आचार्यों की स्थापनाओं के रहते हिन्दी आलोचना की स्वतन्त्र पद्धति का विकास नहीं हो सका है। वास्तव में हिन्दी आलोचना ने प्रारम्भ से ही भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र की लीक पर चलते हुए एक खास ऊंचाई तक पहुंचने की कोशिश की है। अब समय और स्थितियों के बदलाव से हिन्दी आलोचना के मुहावरे में भी अन्तर आया है। यदि हम स्थापित पद्धति में युगानुकूल परिवर्तन करने में असमर्थ रहते हैं तो इसमें दोष पद्धति का नहीं हमारा होगा। इस सत्य

को जाने बिना हिन्दी आलोचना का स्वतन्त्र विकास सम्भव नहीं हो सकेगा।

डॉ० वेदकुमारी जब इस पुस्तक पर काम कर रही थीं तो मेरे मन में यह प्रश्न उठता था कि ऐसी विश्वविदित समृद्ध भाषा के सन्दर्भ में किसी एक प्रदेश के योगदान कीं चर्चा का भला क्या अर्थ हो सकता है? परन्तु विचार करने पर लगा कि बात केवल इतनी नहीं है। हमारे सरोकार कहीं ज़्यादा गहरे हैं। कश्मीर के एक प्रदेश में पनपी और विकसित इस संस्कृत भाषा का न केवल कश्मीरी, डोगरी, हिन्दी, बंगाली आदि भाषाओं के साथ सम्बन्ध है अपितु विश्व की अन्य भारोपीय परिवार की भाषाओं के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारी भावी पीढ़ी संस्कृत के प्रति एक अजीब उदासीनता का भाव ओढ़े हुए है। इसे उसकी गौरवशाली परम्परा का परिचय देना एक पुनीत कार्य है। इससे भी अधिक आवश्यक उन साधकों की साधना का लेखा जोखा लेना है जो धीरे धीरे काल की पर्तों के तले दबते जा रहे हैं। यहां डॉ० वेदकुमारी ने जाने हुए को नयी दृष्टि से जानने और जो अन्यान्य कारणों से बिखरे पड़े हैं और जिनके कालान्तर में भुला दिए जाने की सम्भावना है—उन्हें हमारे लिए प्रयासपूर्वक सहेजने का अभिनन्दनीय कार्य किया है। हम आशा करते हैं कि भविष्य के अनुसंधित्सुओं एवं संस्कृत-प्रेमियों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होगी।

रमेश मेहता
सम्पादक हिन्दी

भूमिका

कश्मीर की धरती प्राचीनकाल से संस्कृतभाषा और संस्कृतसाहित्य की प्रमुख क्रीडास्थली रही है। काव्य, काव्यशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, आयुर्वेद, इतिहास आदि अनेक क्षेत्रों में कश्मीर के संस्कृतलेखकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भल्लट, शिवस्वामी, कल्हण, बिल्हण, शम्भु, मङ्ख, रत्नाकर, जोनराज, श्रीवर आदि कश्मीर के संस्कृतकवियों ने गुण और परिणाम इन दोनों दृष्टियों से संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है। अलङ्कार, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य इन सभी काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का जन्म और पल्लवन कश्मीर की इसी उर्वरा-धरित्री पर हुआ है। व्याकरण और दर्शन के क्षेत्रों में भी कश्मीर की अपनी पहचान है। चान्द्रव्याकरण तथा कातन्त्रव्याकरण के ग्रन्थ कश्मीर में रचे गए। पाणिनि-कृत अष्टाध्यायी की सुप्रसिद्ध टीका काशिका तथा पतञ्जलिकृत महाभाष्य पर टीकाग्रन्थ इस भूमि में लिखे गए। कश्मीर शैवदर्शन जिसे प्रत्यभिज्ञादर्शन तथा त्रिकदर्शन भी कहा जाता है, शैवदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण विकसित रूप है। आयुर्वेद के आचार्य चरक भी कश्मीर के निवासी थे। कश्मीर में रचित यह संस्कृत साहित्य सम्पूर्ण भारत की बहुमूल्य सम्पदा है जिसका अध्ययन अध्यापन देश के कोने कोने में होता है। ध्वन्यालोक, नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती और काव्यप्रकाश के बिना भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। काशिका के बिना अष्टाध्यायी का पठनपाठन सम्भव ही नहीं है। ऐतिहा-सिक काव्यों की चर्चा में राजतरङ्गिणियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है जो इस प्रदेश का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करती हैं।

कश्मीर में रचित संस्कृतसाहित्य का बहुत सा भाग विलुप्त हो चुका है। क्षेमेन्द्र की अड़तीस रचनाओं में से केवल अठारह ही उपलब्ध होती हैं। उसने मुक्ताकण, चक्रपाल, कलश आदि कवियों का उल्लेख किया है। मङ्ख के द्वारा वर्णित साहित्यगोष्ठी में अलङ्कार, नन्दन, श्रीगर्भ, नागधर, पद्मराज, जिन्दुक, दामोदर आदि कई कवि उपस्थित थे। परन्तु इन सबकी रचनायें नहीं मिलतीं। सुभाषितसंग्रहों में अमृतदत्त, रल्हण, मातृगुप्त, रणादित्य, मुक्तापीड आदि अनेक कवियों के फुटकर पद्य मिलते हैं परन्तु उनकी कृतियां अतीत के गर्त में विलीन हैं। रत्नकण्ठ, गोपाल, आनन्द आदि कुछ लेखकों की रचनायें पाण्डुलिपियों के रूप में उपलब्ध हैं तथा सम्पादन और प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रही हैं। एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में अद्यावधि अप्रकाशित कश्मीर के संस्कृतसाहित्य का विवरण देने का मेरा विचार है। प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाशित काव्य तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य

की चर्चा की गयी है।

इससे पूर्व सर्वश्री कान्तिचन्द्र पाडेण्य, एस० के० डे०, पी० वी० काणे, बैनर्जी तथा के० एस० नागराजन् आदि ने कश्मीर के संस्कृतसाहित्य, दर्शन तथा काव्यशास्त्र पर अंग्रेज़ी में शैवदर्शन ग्रन्थ लिखे हैं। श्री बलजिन्नाथ, बलदेव उपाध्याय और कृष्णकुमार आदि ने काव्यशास्त्र पर हिन्दी में लिखा है परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ हिन्दी में नहीं लिखा गया जिसके द्वारा इस प्रदेश के संस्कृत साहित्य और संस्कृत काव्यशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय मिल सके। बहुत वर्ष पहले श्रद्धेय गुरु स्वर्गीय वासुदेवशरण अग्रवाल ने कश्मीर की संस्कृति तथा संस्कृतसाहित्य पर राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा डोगरी आदि में लिखने की प्रेरणा मुझे दी थी। उनके आदेश को स्वीकार करके मैं राजेन्द्र कर्णपूर, भल्लटशतक तथा कश्मीरदर्पण जैसी कृतियां प्रकाश में ला सकी। उसी श्रृंखला की एक कड़ी यह पुस्तक है। इसमें संस्कृतसाहित्य की विभिन्न विधाओं— पुराण, नाटक, महाकाव्य, ऐतिहासिक काव्य, मुक्तककाव्य, स्तोत्रकाव्य, लघुकाव्य तथा लोककथा पर प्रकाश डाला गया है। काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का भी आलोचनात्मक परिचय दिया गया है। वेद, व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद आदि विषयों का परिचय भी एक दूसरे अवसर मिलने पर दूसरे ग्रन्थ में देने की योजना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ मैं जम्मू कश्मीर की कला, संस्कृति तथा भाषा अकादमी के प्रति आभारी हूं। अकादमी के सचिव श्री मुहम्मद यूसूफ टेंग तथा हिन्दी सम्पादक श्री रमेश मेहता ने इसके प्रकाशन में विशेष रुचि ली है इसके लिए मैं उनके प्रति धन्यवाद व्यक्त करती हूँ। इस अवसर पर मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिकारियों के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने गत वर्ष मुझे नेशनल फैलोशिप से सम्मानित कर यह अवसर प्रदान किया कि मैं इस पूर्व प्रारब्ध अधूरे कार्य को पूरा कर सकी। मेरे पति डॉ० रामप्रताप ने इस ग्रन्थ के लेखन से लेकर प्रकाशन तक की अवधि में न केवल पाण्डुलिपि एवं प्रूफ पढ़ने में सहायता की है अपितु कई उपयोगी सुझाव भी दिये हैं। साहित्यसाधना में इनका सहयोग और साहचर्य मुझे पहले से ही प्राप्त होता रहा है। इनको धन्यवाद देने की औपचारिकता में मैं नहीं पड़ना चाहती। प्रिय शिष्य डॉ० केदारनाथ ने नामानुक्रमणिका बनाने में सहायता की है। इन्हें मेरा आशीर्वाद। जिन ग्रन्थों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इस ग्रन्थ के प्रणयन में सहायता मिली है उन सबके लेखकों के प्रति भी मैं कृतज्ञता प्रकट करती हूँ।

प्रोफेसर तथा यू० जी० सी० नेशनल फैलो, वेदकुमारी
संस्कृतविभाग, जम्मू विश्वविद्यालय
२३-३-८७

विषय सूची

पुराण साहित्य

पुराण साहित्य प्राचीन संस्कृत साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। पुराण शब्द का अर्थ है—प्राचीन काल में जो जीवित था। इस प्रकार पुराण का प्राचीन इतिहास तथा परम्पराओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजनैतिक इतिहास के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, कला आदि के विकास का इतिहास, विशेषतः लोक जीवन के सन्दर्भ में, इन ग्रन्थों में निहित है। प्राचीन काल में मूलपुराण एक ही था या अनेक, यह निर्णय कर पाना कठिन है। परम्परा से महापुराणों की संख्या अठारह मानी गई है : मत्स्य, मार्कण्डेय, भविष्य, भागवत, ब्राह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, विष्णु, वाराह, वामन, शिव, अग्नि, नारद, लिङ्ग, गरुड, कूर्म तथा स्कन्द। उपपुराणों की संख्या भी अठारह कही गई है परन्तु वस्तुतः इनकी संख्या कहीं अधिक है। वर्तमान काल में उपलब्ध विशाल पौराणिक साहित्य उस विकास प्रक्रिया का परिणाम है जिसके अनुसार इसमें अनेक परिवर्तन परिवर्धन समय-समय पर होते रहे हैं ताकि बदलते परिप्रेक्ष्य में बदलती विभिन्न विचारधाराओं को इस लोकसम्मानित साहित्य में प्रतिनिधित्व मिल सके। सांस्कृतिक इतिहास के संरक्षण में पुराण साहित्य का विशेष योगदान है। महापुराणों में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित यह पांच विषय आवश्यक माने गये हैं परन्तु बहुत से पुराणों में इन विषयों के अतिरिक्त वर्णाश्रम धर्म, सोलह संस्कार, व्रत, योग, पूजा, दान, तीर्थ, माहात्म्य आदि अनेक विषयों का समावेश है। कई पुराणों में पंचलक्षण में उल्लिखित विषयों का स्पर्श भी नहीं है तथा अन्य विषय ही विस्तार से वर्णित हैं। भागवत पुराण में पुराण को पंचलक्षण तथा दशलक्षण कहा है।

उपपुराणों की रचना प्रायः किसी देव विशेष के महत्त्व का प्रतिपादन करने के लिए अथवा किसी प्रदेश विशेष की धार्मिक तथा सामाजिक प्रथाओं को मान्यता प्रदान करने के लिए की जाती रही है अतः इन उपपुराणों का महत्त्व उन-उन प्रदेशों की संस्कृति के ज्ञान के लिए और भी बढ़ जाता है। भारत देश के विभिन्न भागों में निवास करने वाली जनता की जीवन पद्धति, उनके धार्मिक पर्व-त्यौहार,

सामाजिक रीति-रिवाज़, मनोरंजन के साधन, सब उपपुराणों में संगृहीत हैं। जम्मू-कश्मीर प्रदेश में भी इस साहित्य की रचना होती रही है। यहां के तीन उपपुराण हैं—

विष्णुधर्मोत्तर पुराण
नीलमत पुराण
वासुकि पुराण

इनमें से प्रथम तो विशालकाय विश्वकोष का रूप धारण कर चुका है। दूसरे उप-पुराण नीलमत में कश्मीर का प्रारम्भिक इतिहास तथा स्थानीय तीर्थों और परम्पराओं का विवरण है। तीसरे वासुकि पुराण में भद्रवाह प्रदेश के धार्मिक स्थानों का माहात्म्य वर्णित है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण

जैसा कि नाम से ही प्रकट होता है, यह वैष्णव पुराण है। सर्वश्री आर० सी० हजरा और विन्टरनिट्ज़ इस पुराण का रचना-स्थल पंजाब का उत्तरी पार्वत्य प्रदेश अथवा कश्मीर का दक्षिणी प्रदेश मानते हैं। यह वर्तमान डुग्गर या जम्मू के आस-पास का प्रदेश हो सकता है। इस मत का आधार निम्न तथ्य हैं—

१. विष्णुधर्मोत्तर पुराण के रचयिता को इस प्रदेश का भौगोलिक ज्ञान पूर्ण-रूपेण है। देविका, सिन्धु, वितस्ता, चन्द्रभागा, इरावती, विपाशा, शतद्रु आदि इस प्रदेश की नदियों की प्रशंसा वह करता है। इन नदियों में भी विशेष रूप से प्रशंसित नदियां देविका, चन्द्रभागा तथा वितस्ता हैं। वितस्ता 'स्वर्गलोकप्रदा' तथा सर्वकल्मषनाशिनी है। देविका हर की प्रिया तथा सर्वकल्मषनाशिनी है। चन्द्रभागा चन्द्रांशुशीतलजला तथा सर्वपापप्रणाशिनी बताई गई है। देविका नदी तथा उसके तटवर्ती प्रदेश की विशेष प्रशंसा की गई है। यह कहा गया है कि पर्वत-राज हिमालय की पुत्री तथा शिव की प्रिया उमा ही मद्रदेश में इस श्रेष्ठ नदी के रूप में अवतरित हुई हैं। ब्राह्मणों की प्रार्थना पर मानवों पर अनुकम्पा करने को ही उसने यह रूप धारण किया है। उसके दोनों किनारों के साथ लगता हुआ चार कोस का क्षेत्र विशेष पवित्र है जहां का जल सभी तीर्थों के जल के समान है। उसमें स्नान करके मनुष्य गाणपत्य को प्राप्त कर लेता है। वहीं सभी पापों का नाशक नृसिंह तीर्थ है।

पुराण में नदीसंगमों की चर्चा करते हुए चन्द्रभागा और तौषी के संगम को विशेष रूपेण पवित्र बताया गया है। तौषी का जल शीतोष्ण तथा चन्द्रभागा का जल शीतामल कहा गया है। इन नदियों के जल का यह ठीक विवरण लेखक को इसी प्रदेश का निवासी द्योतित करता है। देविका को सिंहवाहिनी तथा चन्द्रभागा को हंसवाहिनी कहा है। देविका तीर पर भूधर की उपासना करने का विधान

किया गया है। ये सब तथ्य इस बात का संकेत देते हैं कि विष्णुधर्मोत्तर का रचना स्थल डुग्गर प्रदेश था।

शालि के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख तथा उत्तराधिकार के नियमों का मिताक्षरा के अनुरूप होना भी इस उपपुराण को जम्मू-कश्मीर की भूमि का सिद्ध करते हैं। डॉ० विन्टरनिट्ज, डॉ० ब्यूहलर तथा डॉ० राजेन्द्रचन्द्र हज़रा ने इसे इसी प्रदेश का स्वीकार किया है।

इस उपपुराण का रचनाकाल ४०० ई० के पश्चात् तथा ५०० ई० के लगभग प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कई यूनानी शब्दों जैसे हिबुक, सुनफा आदि का प्रयोग हुआ है। मूलस्थान (मुलतान) को सूर्यपूजा का मुख्य केन्द्र माना गया है जिसमें इरानी प्रभाव दिखाई पड़ता है। विष्णुधर्मोत्तर की पुरुरवा उर्वशी की कथा तथा भारत की कथा के कुछ वर्णनों पर कालिदास की कृतियों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। गुप्तकालीन संस्कृति की छाप भी इस पुराण पर स्पष्ट दीखती है। इसमें समुद्र-यात्रा को निषिद्ध नहीं माना गया। सेना में अश्वसेना को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। मूर्तिकला तथा चित्रकला की उन्नति का पर्याप्त विवरण मिलता है। बुद्ध की गणना दश अवतारों में नहीं की गई। पुराण में शकों और यवनों की चर्चा की गई है परन्तु हूणों का उल्लेख नहीं किया गया। ये सब तथ्य पुराण का समय पांचवीं शती के आसपास का सिद्ध करते हैं।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में २६९ अध्याय, द्वितीय खण्ड में १८३ अध्याय तथा तृतीय खण्ड में ३५५ अध्याय हैं। पुराण के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण के पौत्र वज्र ऋषियों से विष्णु धर्म सुनाने को प्रार्थना करते हैं जिसे मार्कण्डेय ऋषि स्वीकार कर लेते हैं। दूसरे अध्याय से ग्यारहवें अध्याय तक सृष्टि की उत्पत्ति का, वराहावतार द्वारा पृथ्वी के उद्धार का, विभिन्न लोकों, द्वीपों तथा जातियों का वर्णन है। बारहवें अध्याय से इकहत्तरवें अध्याय तक कौशल तथा अयोध्या का वर्णन है तथा भार्गव राम की कथा सहित अन्य कई कथाएं हैं। ५२-६५ अध्यायों में शंकर गीता है जिसमें शंकर भगवान् विष्णु को परब्रह्म बताते हैं। ७२-१०६ अध्यायों में तिथि, मूहूर्त्त, लग्नादि कालविभाग का विवरण है। इसी खण्ड में ध्रुव के वंशजों वेण तथा पृथु की कथाएं, पुरुरवा तथा उर्वशी की कथा, सगर और गंगावतरण की कथा, मधु, कैटभ, धुंधुमार, दक्ष, शिव, भरत से सम्बद्ध उपाख्यान हैं। हंस गीता, गणेश स्तुति, नृसिह स्तुति, कार्तिकेय स्तुति आदि भक्ति रस की रचनाओं का भी इस खण्ड में समावेश हुआ है।

द्वितीय खण्ड में प्रमुख रूप से राजधर्म का विवेचन है। प्रथम अध्याय में वज्र के पूछने पर मार्कण्डेय ऋषि राजधर्म के विषय में वह सब सुनाना प्रारम्भ करते हैं जो भार्गव राम ने वरुण से पूछा था तथा वरुण के आदेश पर पुष्कर से सुना था। दूसरे अध्याय से सातवें अध्याय तक छः अध्यायों में राजा का महत्त्व, राजा

के गुण, राजा का चुनाव, राजा द्वारा की जाने वाली प्रतिज्ञाएं, सांवत्सर का चुनाव, गज, अश्वादि सेना सम्बन्धी आवश्यकताओं का विवरण दिया गया है। राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि वह राजा का अभिषेक करे।[१] राजारहित देश में न कन्यादान होता है, न धन में ममत्व होता है। सब अपना-अपना कानून चलाने लगते हैं अतः संसार की मर्यादा नहीं रहती है। नरलोक तथा सुरलोक दोनों संशय में पड़ जाते हैं। बहुत पुण्यों से ऐसा राजा मिलता है जिसकी आज्ञा का सभी पालन करते हैं। जहां का राजा धार्मिक हो वहां सभी प्रकार की व्यवस्था होती है।[२]

राजा के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ व्यक्ति के सभी लक्षण उसमें होने चाहिए। उसमें विनम्रता, आकृतिगत प्रभावशीलता, आलस्यराहित्य, कार्यपटुता, धर्मबुद्धि, क्रोधराहित्य, इन्द्रियसंयम, उदारदृष्टि, महान् उत्साह, मुस्कराहट-भरी वाणी होनी चाहिए। उसका कुल प्रतिष्ठित हो। लोग उस पर विश्वास करें। वह प्रजा को न तो अत्यधिक दण्ड दे और न ही दण्ड से बिलकुल मुक्त कर दे। वह गुप्तचरों के माध्यम से देश की परिस्थिति को जाने समझे। न्याय व्यवहार में पुत्र तथा शत्रु के साथ समान व्यवहार करे। रथ, अश्व, गज, धनुर्वेद आदि में पर्याप्त अभ्यास करे। उपवास, तप, यज्ञ, आदि में रुचि रखे। गुरुजनों का प्रिय हो। मन्त्री तथा सांवत्सर की सलाह से कार्य करे तथा युद्ध में पीठ न दिखाए। परिस्थिति के अनुसार कर्तव्यनिर्णय, कृतज्ञता, व्यक्ति की पहचान, पूज्य की पूजा, दण्ड्य को दण्ड देना, षाड्गुण्य का प्रयोग तथा शक्तियों का उपयोग, इन सबमें राजा को प्रवीण होना चाहिए।[३]

---

१. राष्ट्रस्य कृत्यं धर्मज्ञ राज्ञ एवाभिषेचनम्। विष्णुधर्मोत्तर पु० २.२.३

२. अराजकेषु राष्ट्रेषु नैव कन्या प्रदीयते।
विद्यते ममता नैव तथा वित्तेषु कस्यचित्॥
स्वात्म्यो न्यायः प्रवर्तेत विश्वलोपस्तथैव च।
नृलोकसुरलोकौ च स्यातां संशयितावुभौ॥
महद्भिः पुण्यसंभारैः पार्थिवो राम जायते।
यस्यैकस्य जगत् सर्वं वचने राम तिष्ठति॥
चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मस्थं तेषु देशेषु जायते।
येषु देशेषु राजेन्द्र राजा भवति धार्मिकः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन राष्ट्रमुख्यैर्नरेश्वरः।
परीक्ष्य पूर्वैः कर्तव्यो धार्मिकः सत्यसंगरः॥

३. सर्वलक्षणलक्षण्यो विनीतः प्रियदर्शनः।
अदीर्घसूत्री, धर्मात्मा, जितक्रोधो जितेन्द्रियः॥
स्थूललक्ष्यो महोत्साहः स्मितपूर्वाभिभाषकाः।

जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपने सभी सुखों का बलिदान कर गर्भ की रक्षा करती है उसी प्रकार राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।[1] विपत्ति में फसे राजा की रक्षा भी प्रजा ही करती है अतः धर्म की याद करने वाले राजा को सभी प्रकार से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। दुष्ट कर्मचारियों, कायस्थों आदि से जो ऊपर से सज्जन दीखते हैं तथा राजा के चहेते बनते हैं, प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।[2] राजा को इस बात का भी पूरा ध्यान रखना चाहिए कि प्रजा उसके किस कार्य से रुष्ट होती है तथा किस कार्य से प्रसन्न होती है। उसे ऐसे निर्णय नहीं लेने चाहिएं जिनसे प्रजा में रोष उत्पन्न हो। उसे वही कार्य करने चाहिएं जिन से प्रजा में कृतज्ञता की भावना उत्पन्न हो।[3]

पैंसठवें अध्याय में राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा का वर्णन मिलता है। १४५-१५० अध्यायों में राज्य के सात अंगों का विवरण है। १५१ से १५८ तक के अध्यायों में राजा की दिनचर्या दी गई है। अध्याय संख्या १७५-१७६ में विजयाभियान तथा

सरूपः कुलसम्पन्नः क्षिप्रकारी महाबलः ।।
ब्रह्मण्यश्चाविसंवादी दृढभक्ति प्रियंवदः ।
अलोलुपस्संयतवाग् गम्भीरः प्रियदर्शनः ।।
रथे गजेऽश्वे धनुषि व्यायामे च कृतश्रमः ।
उपवासतपः शीलो यज्ञयात्रो गुरुप्रियः ।।
मन्त्रिसांवत्सराधीनः समरेष्वनिवर्तकः ।
कालज्ञश्च कृतज्ञश्य नृविशेषज्ञ एव च ।।
पूज्यं पूजयिता नित्यं दण्ड्यं दण्डयिता तथा ।
षाड्गुण्यस्य प्रयोक्ता च शक्त्युचेतस्तथैव च ।। विष्णुधर्मोत्तर पु० २.२.१-८

१. नित्यं राजा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणा ।
यथा स्वसुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत् ।।
गर्भिणी तद्वदिह भाव्यं भूपतिना सदा ।
प्रजासुखं ते कर्तव्यं सुखमुद्दिश्य चात्मनः ।। विष्णुधर्मोत्तर पु० २-६१. २२-२३

२. आपन्नमपि धर्मिष्ठं प्रजा रक्षत्यथापदि ।।
तस्माद् धर्मकामेन प्रजा रक्ष्या महीक्षिता ।
सुभगैश्चाथ दुर्वृत्तराजवल्लभतस्करैः ।
भक्ष्यभाणाः प्रजा रक्ष्याः कायस्थैश्च विशेषतः । वही, २. ६१. २६-२९

३. कर्मणा केन मे लोके जनस्सर्वोऽनुरज्यते ।
विरज्यते तथा केन विज्ञेयं तन्महीक्षिता ।
विरागजननं सर्वं वर्जनीयं प्रयत्नतः ।
जनानुरागप्रभवो हि लक्ष्यो राज्ञो यतो भार्गव ।। वही, २.२४. ७१-७२

युद्ध का वर्णन है। प्रधान रूप से राजधर्म का विवरण देते हुए इस खण्ड में कई अवान्तर विषय यथा प्रासाद निर्माण, धनुर्वेद, भैषज्य, स्त्रीधर्म आदि का भी समावेश किया गया है।

तृतीय खण्ड के प्रारम्भ में वज्र मार्कण्डेय ऋषि से इहलोक तथा परलोक में सुख-प्राप्ति के उपाय पूछते हैं। उत्तर में मार्कण्डेय ऋषि देवपूजा, व्रतादि का महत्त्व बतलाते हैं। देवों की मूर्तियां किस प्रकार की हों, इस सन्दर्भ में चित्र-सूत्र की चर्चा की गई है। नृत्यशास्त्र के बिना चित्रकला का ज्ञान संभव नहीं होता तथा नृत्यकला वाद्य संगीत के बिना नहीं सिद्ध होती। वाद्यसंगीत का आधार गीतशास्त्र है। अतः गीत-शास्त्र का ज्ञान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा विभिन्न देशभाषाओं में रचित गीतों का उल्लेख कर के विभिन्न छन्दों, अलङ्कारों, रसों आदि का विवरण दिया गया है। अध्याय संख्या १७ से ३१ तक रूपकों के भेद, उपभेद, नायक-नायिका लक्षण, रस, भावादि का वर्णन है। बत्तीसवें तथा तेतीसवें अध्याय में नृत्य की मुद्राओं का उल्लेख है। अध्याय संख्या ३५ से ४३ तक चित्र सूत्र है। अध्याय संख्या ४४ से ८५ तक मूर्तियों के निर्माण पर विचार किया है। अध्याय ८६ से ९५ तक देव मन्दिर निर्माणकला का विवेचन है। तत्पश्चात् मूर्त्ति-प्रतिष्ठा का विधान है। अध्याय संख्या १२६ से २२५ तक व्रतों का वर्णन है। अध्याय २२६ से ३४२ तक हंसगीता है जिसका बहुत-सा अंश स्मृतियों से लिया गया है। विभिन्न वर्णों तथा आश्रमों के धर्म, भक्ष्याभक्ष्य, शुद्धि, प्रायश्चित, यज्ञ, दान, राजधर्म, व्यवहार आदि विभिन्न विषयों की चर्चा की गई है। अन्तिम अध्यायों में विष्णु के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाली कथाएं दी गई हैं।

इस प्रकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण वस्तुतः विश्वकोश का रूप धारण कर चुका है। उपनिषद् महाभारत, नाट्यशास्त्र, पाराशर स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति; मनु-स्मृति, आदि अनेक ग्रन्थों से सामग्री संगृहीत की गई है। सृष्टिक्रम, भूगोलविद्या, खगोलविद्या, वंशावलियों के अतिरिक्त व्रत, पूजा, श्राद्ध, व्यवहार, राजनीति, पाप, पुण्य, प्रायश्चित, शरीरविज्ञान, भैषज्य, मानवचिकित्सा, पशुचिकित्सा, विषचिकित्सा, स्त्रीरोगचिकित्सा, पाकशास्त्र, रसायनविज्ञान, उद्यानविज्ञान, व्याकरणशास्त्र, कोशरचनाशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, गीत, वाद्य नृत्य, नाट्य, मूर्तिकला, चित्रकला, वास्तुकला आदि अनेक विषयों का समावेश किया गया है।

ईसा की सातवीं आठवीं शताब्दी तक विष्णुधर्मोत्तर पुराण एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में उद्धृत होने लगा था। डॉ० राजेन्द्रचन्द्र हज़रा ने मत्स्यपुराण तथा विष्णु-धर्मोत्तरपुराण की तुलना करके यह सिद्ध किया है कि मत्स्यपुराण में बहुत-सा अंश विष्णुधर्मोत्तर पुराण से लिया गया है। यह भी सिद्ध किया गया है कि भामह

तथा दण्डी विष्णुधर्मोत्तर पुराण से परिचित थे तथा उन्होंने इस पुराण की सामग्री का अपने ग्रन्थों में प्रयोग किया है। अल्बेरूनी ने कई स्थलों पर विष्णुधर्मोत्तर का उल्लेख किया है। अनेक स्मृति टीकाकारों तथा निबन्धकारों यथा भावदेव, विज्ञानेश्वर, जीमूतवाहन, अपरार्क, वल्लालसेन, हलायुध, हेमाद्रि, माध्वाचार्य आदि ने विष्णुधर्मोत्तर पुराण को उद्धृत किया है। ये सब तथ्य विष्णुधर्मोत्तर पुराण की प्राचीनता तथा प्रसिद्धि को प्रमाणित करते हैं। जम्मू-कश्मीर के दक्षिणी भाग में रचा गया यह विशालकाय ग्रन्थ भारतीय संस्कृति का विश्वकोश है।

नीलमत पुराण

नीलमत पुराण के ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए कल्हण ने अपने ग्रन्थ राजतरंगिणी में लिखा है कि मैंने कश्मीर के प्राचीन राजाओं के नाम नीलमत पुराण से ग्रहण किए हैं। ब्यूलर के अनुसार इस पुराण का विशेष महत्त्व इस दृष्टि से है कि यह राजतरंगिणी में उल्लिखित भौगोलिक स्थानों की पहचान करने में पर्याप्त सहायता देता है। वस्तुतः नीलमत पुराण एक स्थानीय लघु उपपुराण है जिसमें कश्मीर की प्राचीन संस्कृति से सम्बद्ध बड़ी रोचक सामग्री मिलती है।

नीलमत पुराण का रचना काल छठी तथा आठवीं शती के मध्य का प्रतीत होता है। कल्हण ने इसे प्राचीन ग्रन्थ के रूप में उद्धृत किया है। कृत्यकल्पतरु में बहुत से पद्य जो किसी ब्रह्मपुराण में से उद्धृत किये गये हैं और वर्तमान ब्रह्मपुराण में उपलब्ध नहीं होते, नीलमत पुराण में मिलते हैं। कृत्यकल्पतरु के रचयिता लक्ष्मीधर का समय ११०४ से ११४३ ईसवी था। प्रतीत होता है कि लक्ष्मीधर के समय से बहुत समय पूर्व ही ये पद्य ब्रह्मपुराण का भाग बन चुके थे। ये पद्य नीलमत पुरांण से ब्रह्मपुराण में आए होंगे क्योंकि नीलमत पुराण के पद्यों में कश्मीर के लिए प्रयुक्त देशोऽयं अभिकथन ब्रह्मपुराण से उद्धृत कृत्यकल्पतरु में उपलब्ध पद्य में सः देशः रूप में बदल दिया गया है। प्रथम हिमपातोत्सव से सम्बद्ध पद्य नीलमत पुराण में तथा कृत्यकल्पतरु में समान है परन्तु कृत्यकल्पतरु में एक बात और जोड़ दी गई है कि जिन स्थानों में हिम उपलब्ध न हो वहां हिम शब्द का उच्चारण मात्र करके पितरों की पूजा कर लेनी चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि हिमपात सम्बन्धी पद्य मूल रूप में कश्मीर में रचित नीलमत पुराण में ही विद्यमान थे परन्तु जब ब्रह्मपुराणकार ने उन्हें उधार लिया तो यह पंक्ति भी जोड़ दी।

नीलमत पुराण में अवतार शब्द के स्थान पर प्रादुर्भाव शब्द का प्रयोग, कल्कि अवतार के बारे में मौन, पूजा की सामग्री में तुलसी के उल्लेख का अभाव, कृष्ण के साथ राधा के उल्लेख का अभाव आदि तथ्य भी इसकी प्राचीनता की ओर संकेत करते हैं। नीलमत पुराण के हस्तलेखों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि नवम शताब्दी के आस-पास इस पुराण का परिवर्धित संस्करण बना। इससे यह

सिद्ध होता है कि पुराण की रचना इससे पूर्व हो चुकी थी।

अन्य पुराणों की भांति नीलमत पुराण भी संवाद शैली में रचा गया है। मुख्यकथा में कई माहात्म्य कथाएं पिरो दी गई हैं। प्रारम्भ में जनमेजय वैशम्यायन ऋषि से पूछते हैं कि महाभारत के युद्ध में कश्मीर का राजा सम्मिलित क्यों नहीं हुआ था। वैशम्पायन उत्तर देते हैं कि महाभारत युद्ध से कुछ समय पूर्व जरासन्ध ने अपने सम्बन्धी कश्मीर के राजा गोनन्द को अपनी सहायता के लिए बुलाया था ताकि वह यादवों के विरुद्ध युद्ध में विजय प्राप्त कर सके। गोनन्द ने इस युद्ध में भाग लिया तथा कृष्ण जी के बड़े भाई बलराम के हाथों मारा गया। गोनन्द का पुत्र अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने को गांधार जा पहुंचा जहां एक स्वयंवर में भाग लेने को कृष्ण पहुंचे हुए थे। कृष्ण ने दामोदर को तो मृत्यु के घाट उतार दिया परन्तु कश्मीर भूमि के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए दामोदर की गर्भवती पत्नी यशोवती को कश्मीर की राजगद्दी सौंप दी। महाभारत युद्ध के समय दामोदर का पुत्र गोनन्द द्वितीय अभी शिशु ही था अतः वह युद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ। कश्मीर का वर्णन करते हुए वैशम्पायन बताते हैं कि यहां पूर्वकाल में सती-सर था। सातवें मन्वन्तर में जल प्रवाहित हो जाने के पश्चात् निवासयोग्य भूमि तैयार हुई थी। इस विषय में बृहदश्व ने गोनन्द को पूरी घटना सुनाई थी। प्रलय के पश्चात् सती ने एक नौका का रूप धारण कर लिया था जिसमें मनु सारी सृष्टि के बीज लेकर बैठ गये थे उन्हीं से पुनः सृष्टि हुई। सतीसर में एक राक्षस जलोद्भव उत्पन्न हुआ जो ब्रह्मा जी से वरदान पाकर मनु की संतान को नष्ट करने लगा। कश्मीर तथा उसके आस-पास की जनता त्रस्त हो उठी। दार्वाभिसार, गांधार, जुहुदुण्डर, शक, खश, तंगण, माण्डव, मद्र सभी जातियों को उनके प्रदेशों से भगाकर वह उन सूने प्रदेशों में निश्शंक विचरण करने लगा। एक बार नागों के प्रमुख नील की प्रार्थना पर ऋषि कश्यप वहां पधारे। वहां की शोचनीय स्थिति को देखकर उन्होंने देवों से जलोद्भव का नाश करने की प्रार्थना की। विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा अन्य देवी-देवताओं सहित कश्मीर पहुंचे। जलोद्भव सतीसर में छिपा हुआ था। क्योंकि ब्रह्मा के वरदान से उसे जल में अवध्यता प्राप्त थी। विष्णु के आदेश से अनन्त ने अपने लाङ्गल से जल प्रवाह का मार्ग बनाकर सरोवर को जलरहित कर दिया। जलोद्भव ने अपनी माया से चारों ओर अन्धकार की सृष्टि कर दी। तब शिव ने चन्द्र तथा सूर्य इन दोनों को हाथों में पकड़कर प्रकाश कर दिया। विष्णु का जलोद्भव दैत्य के साथ युद्ध हुआ और अन्त में उन्होंने अपने चक्र से उसका सिर काट दिया। जल बह जाने के पश्चात् सतीसर समतल भूमि में परिवर्तित हो गया था। कश्यप ऋषि की इच्छा थी कि इस प्रदेश में नाग तथा मानव मिलकर रहें। नागों ने इस पर आपत्ति की तो कश्यप ऋषि ने उन्हें शाप दिया कि उन्हें मानवों से साथ रहना रुचिकर नहीं तो पिशाचों के साथ रहना पड़ेगा। नागों के बहुत

अनुनय-विनय करने पर ऋषि ने शाप को इस प्रकार परिवर्तित कर दिया कि चार युगों तक तो नागों को वर्ष में छः मास पिशाचों के साथ तथा छः मास मानवों के साथ रहना होगा। तत्पश्चात् वे केवल मानवों के साथ रह सकेंगे। चार युग बीत गए। सदैव की तरह शीत के छः मास बिताने के लिए मानव नीचे के प्रदेश में चले गए। केवल एक वृद्ध ब्राह्मण चन्द्रदेव वहीं रुका रहा। नील नाग ने उसे बताया कि अब आगे से मानवों को छः मास के लिए कश्मीर से बाहर जाने की आवश्यकता नहीं होगी। वे शीत में भी यहीं रह सकेंगे परन्तु उन्हें नाग-देवताओं की पूजा करनी होगी तथा कुछ विशेष धार्मिक पर्व-त्यौहारों को मान्यता देनी होगी। नीलनाग तथा चन्द्रदेव के इस संवाद में पैंसठ व्रत पर्व-त्यौहारों का, छः सौ से अधिक नागदेवताओं का तथा कश्मीर के अनेक तीर्थस्थानों का उल्लेख किया गया है।

अन्य पुराणों में उपलब्ध भौगोलिक वर्णनों की तरह नीलमत के भौगोलिक वर्णनों में भी नदियां-निर्झर वन-पर्वत जड़ वस्तुओं के रूप में नहीं अपितु पावन देव-देवियों के रूप में उपस्थित होते हैं। जम्बू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मलि, गोमेद और पुष्कर इन सात द्वीपों में जम्बू द्वीप के नौ भाग गिनाए गये हैं—उत्तर कुरु, रम्य, हैरण्वत, भद्राश्व, केतुमाल, इलावृत, हरिवर्ष, किम्पुरुष तथा भारतवर्ष। भारतवर्ष का उत्तरीभाग कश्मीर है जहां पृथ्वी के सभी तीर्थ विद्यमान हैं। इस शस्यश्यामला भूमि का कण-कण पावन है। यहां पर नागों के पवित्र स्रोत, पुण्य पर्वत शिखर, पुण्यसलिला नदियां, सरोवर, पवित्र देवालय तथा आश्रम हैं।[1] प्रत्येक झरना किसी न किसी नाग का स्थान है। प्रत्येक नदी किसी न किसी देवी का परिवर्तित स्वरूप है। प्रत्येक शिखर किसी न किसी देव का क्रीड़ास्थल है। जलोद्भव के नाश के लिए आए शिव ने नौबन्ध शिखर पर, हरि ने दक्षिण शिखर पर तथा ब्रह्मा ने उत्तर शिखर पर अपना डेरा डाला था। अतः ये तीनों चोटियां महेश्वर शिखर, हरि शिखर तथा ब्रह्मा शिखर के नाम से प्रसिद्ध हैं। कश्यप ऋषि की प्रार्थना पर शिव ने सती से कहा तो सती वितस्ता नदी का रूप धारण करके कश्मीर की जनता को पवित्र करने लगी। अकेले उससे यह कार्य सम्पन्न होना कठिन था इसलिए उसने ऋषि से निवेदन किया "अत्यन्त पापयुक्त लोगों को पवित्र करने का उत्साह मुझमें नहीं है, आप शार्ङ्गधर विष्णु की प्रिया लक्ष्मी को प्रेरित करें। वह तीनों लोकों को भी पवित्र करने में समर्थ हैं। ऋषि ने विष्णु से

१. कश्मीरामण्डलं पुण्यं सर्वतीर्थमरिन्दम।
तत्र नागह्रदाः पुण्यास्तत्र पुण्याः शिलोच्चयाः॥
तत्र नद्यस्तथा पुण्याः पुण्यानि सरांस्यपि।
देवालया महापुण्याः तेषां चैव तथाश्रमाः॥ नीलमत श्लोक २४,२५.

प्रार्थना की जिसे स्वीकार कर लिया गया। फलतः पति के आदेश से लक्ष्मी विशोका नदी के रूप में कश्मीर भू पर बहने लगीं। कश्मीर के बहुत से तीर्थस्थानों के नाम भारत के अन्य भागों के तीर्थों से अभिन्न हैं। यहां वितस्ता और सिन्धु का संगम प्रयाग कहा गया है। त्रिकोटि संगम से लेकर रोप्येश्वर तक का तथा पावन रजोबिन्दुनिर्मला संगम से लेकर चीर मोचन तक का स्थान वाराणसी कहा गया है। सरस्वती, ऋषिकुल्या रामह्रद, भृगुतुंग, मुंडपृष्ठ, चित्रकूट, भरतगिरि, काम-तीर्थ आदि तीर्थनाम भारत के अन्य भागों में भी हैं और कश्मीर में भी। इस प्रकार नीलमत भौगोलिक दृष्टि से कश्मीर का देश के अन्य भागों के साथ सुदृढ़ सम्बन्ध प्रकट करता है। विभिन्न तीर्थस्थानों से सम्बद्ध नीलमत पुराण की लघु-कथाएं कश्मीर के भूभागों को देवत्व ही प्रदान नहीं करतीं, अपितु उनके माध्यम से धार्मिक समन्वय और सांस्कृतिक एकता का प्रसार भी करती हैं। इन कथाओं में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, बुद्ध, नाग, पिशाच, यक्ष सभी ने घुल-मिलकर एक ही संस्कृति का ताना-बाना तैयार किया है। जलोद्भव राक्षस के नाश में सभी देवगण सहयोग देते हैं। चक्रलाभ की कथा विशेष रूप से विष्णु तथा शिव का मित्र भाव प्रकट करती है। भगवान् विष्णु का चक्र जलोद्भव के रक्त से मत्त होकर सूने प्रदेश में घूमता हुआ शंकर के हाथ में आ गया। भगवान् शंकर उसे लेकर विष्णु भगवान् के पास जा पहुंचे। विष्णु ने शिव से हंसते हुए कहा—"हे देव। दैत्यों के संघ को विनष्ट करने वाला मेरा यह चक्र मुझे वापिस दे दीजिए।" मुस्कराते हुए शिव ने परिहास में ही उत्तर दिया—"मैंने तो इसे स्वच्छन्द विचरता हुआ पाया है, किसी से नहीं लिया। बदले में कुछ मिलेगा तो चक्र दूंगा।" चक्र के प्रेमी विष्णु ने यह शर्त स्वीकार कर ली। चक्र लेकर विष्णु ने उसी स्थान पर अपनी तथा शिव-पार्वती की मूर्त्तियों का हंसती हुई मुद्रा में निर्माण करवाया। नीलमत के उत्तरायण वर्णन में मधुसूदन की मूर्त्ति को घी से स्नान कराने का विधान है परन्तु साथ ही यह भी कह दिया है कि शिव का भक्त शिव की मूर्त्ति को ही स्नान करा दे। लक्ष्मी तथा पार्वती का भी सखी भाव दिखाया गया है। इस प्रकार नीलमत में शैव तथा वैष्णव धर्म विरोधी मतों के रूप में नहीं अपितु एक-दूसरे के सहयोगी के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

नागपूजा कश्मीर के लोक धर्म का अभिन्न अंग रही है। नीलमत पुराण का प्रमुख भाग जिसमें अनेक देवी-देवताओं की पूजा तथा अनेक उत्सवों का वर्णन है, नीलनाग द्वारा ही कहा गया है। प्रथमहिमपातोत्सव में नील तथा स्थानीय नाग की पूजा का विधान है। इरामञ्जरी पूजन के दिन रजित देवों में नीलनाग तथा स्थानीय नाग सम्मिलित हैं। इन्दुपक्ष की शुक्ल पंचमी को भी उनकी पूजा का विधान है। देवगृहों की यात्रा की विभिन्न तिथियों में पंचमी, द्वादशी तथा पौर्ण-मासी नागों के तीर्थों की यात्रा के लिए गिनी गई हैं। नीलमत में नागपूजा एक

विशाल संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। केवल नाग देव ही हिन्दुधर्म का अंग बने हों, ऐसा नहीं अपितु हिन्दु धर्म के देव भी नागों के रूप में उपस्थित हुए हैं। रुद्र, हर, शम्भु, भव, महादेव, कुमार, वासुदेव, जनार्दन, नारायण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, गोपाल, चक्रधर, शत्रुघ्न, राम, लक्ष्मण, हनुमान्, अङ्गद, महेन्द्र, इन्द्र, जयन्त, अर्जुन, भीष्म, धृतराष्ट्र, युधिष्ठिर ये सब नीलमत पुराण की नाग सूची में उल्लिखित हैं।

बौद्ध धर्म के प्रति जैसा उदार भाव हमें नीलमत पुराण में दिखाई देता है, वैसा किसी अन्य पुराण में उपलब्ध नहीं होता। बौद्धमत के प्रसार के साथ हिन्दू-धर्म ने बुद्ध जैसे प्रभावशाली धार्मिक नेता को विष्णु का अवतार मान लिया था। बहुत से पुराणों में बुद्ध की विष्णु के दश अवतारों में गिनती की गई है। इनमें से कुछ पुराणों में तो विष्णु के अवतार के रूप में बुद्ध का नाम मात्र है या नमस्कार मात्र किया गया है। कुछ पुराणों में बुद्ध के विषय में ऐसी कथाएं मिलती हैं जिनमें उन्हें असुरों का उपदेशक कहा गया है। बौद्धमत के सिद्धान्तों का वर्णन करके उन्हें असुरों की पराजय का कारण बताया गया है। इस प्रकार की कथाओं का उद्देश्य लोगों के हृदयों से बौद्ध-धर्म के प्रभाव को कम करना प्रतीत होता है। इसके विपरीत नीलमत पुराण में महात्मा बुद्ध को जगद् गुरु कहा गया है। बुद्धजन्म-दिनोत्सव मनाने का, बुद्ध की मूर्त्ति की पूजा शाक्योक्त वचनों से करने का, बौद्धों के निवास-स्थान में सफेदी कराने का, चैत्यों में चित्र अंकित कराने का तथा शाक्यभिक्षुओं को वस्त्र, भोजन, पुस्तकें आदि देने का विधान है। नटों और नर्तकों के नाट्य तथा नृत्य से युक्त बुद्धजन्मदिनोत्सव में तीन दिन नैवेद्य अर्पित करने का, पुष्पवस्त्रादि से पूजा करने का तथा दीनों को दान देने का भी विधान है।[1] नीलमत पुराण में वर्णित ये सब तथ्य तत्कालीन कश्मीर में धार्मिक समन्वय की भावना के परिचायक हैं।

विभिन्न व्रतों-उत्सवों का वर्णन कश्मीर भू की सुन्दरता की झलक देता है। नवहिमपातोत्सव में हिमालय पर्वत तथा हेमन्त और शिशिर ऋतुओं की पूजा की जाती है। ऊनी वस्त्रों में ढके स्त्री-पुरुष हिम पर बैठकर आनन्द मनाते हैं, संगीत सुनते है तथा नृत्यपान क्रीड़ा में रस लेते हैं। इरामञ्जरी पूजा के दिन सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित लोग इरा उपवनों में जाकर अनेक देवी-देवताओं की पूजा इरा पुष्पों से करते हैं। मित्रों, सम्बन्धियों तथा पत्नी का इरा पुष्पों की मालाओं से सम्मान तथा इरापुष्पों से युक्त पेयों का पान इस उत्सव की विशेषताएं हैं। भाद्रपद में अशोकिकाष्टमी का उत्सव उमा तथा अशोकिका देवी की पूजा में मनाया जाता है जिसमें कुमारिका स्नान, स्त्रियों, बच्चों तथा पुरुषों का वस्त्राभूषणों

---

१. नीलमत श्लोक ६४८, ६८६-६९०,

से सजना तथा नृत्य नाटक संगीत का वातावरण होता है। अंगूरों की वेलों के पकने पर श्यामादेवी की पूजा नृत्य संगीतादि से होती है तथा द्राक्षाफल की भेंट ब्राह्मणों को दी जाती है। उत्सवों-पर्वों का यह क्रम वर्ष भर चलता रहता है। आश्विन में कौमुदी महोत्सव, कार्त्तिक में सुख सुप्तिका या दीपावली, मार्गशीर्ष में नवसंवत्सर, पौष की पौर्णमासी, माघ की तिलद्वादशी तारारात्रि, फाल्गुन का महीमानोत्सव तथा शिवरात्रि, चैत्र में कृष्यारम्भ, राज्ञीस्नापन, छन्दोदेव पूजा, पिशाचचतुर्दशी, श्रीपंचमी, मदनत्रयोदशी, पिशाचप्रयाणादि, वैशाख में बुद्धजन्मोत्व, वैशाख पूर्णिमा, यवाग्रायणादि, आषाढ़ में देवप्रस्वापन, श्रावण में श्रावणी, भाद्रपद में कृष्णजन्मोत्सव, वितस्तोत्सवादि मनाए जाते हैं।

इन उत्सवों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि कश्मीर की जनता की संगीत, नृत्य, नाटक आदि में विशेष रुचि थी। वीणा, वेणु पटह शंखादि वाद्यों का उल्लेख है। धनी लोग प्रायः प्रेक्षादान अथवा नाटकों के अभिनय का प्रबन्ध करवाते थे।

कश्मीर में नारियों के महत्त्वपूर्ण स्थान का प्रमाण भी यह पुराण देता है। यशोवती का कश्मीर के राजसिंहासन पर बैठना इस तथ्य को प्रकट करता है। नारी घर की चारदीवारी में बन्द दिखाई नहीं देती। कौमुदी महोत्सव की पूर्णिमा को वह अपने पति, बच्चों, सेवकों तथा पति के मित्रों सहित रात्रि जागरण में सम्मिलित होती है। बीजारोपण जैसे कृषि उत्सवों में वह पति के संग खेतों में पहुंचकर गीत-नृत्य से युक्त उत्सव मनाती है। उपवनों में जाकर फलद्रुमों की पूजा करना, श्रवणी में जलक्रीड़ा करना, महीमान में सज-धजकर पुरुषों के साथ खेलना, मार्गशीर्ष पूर्णिमा में अपने भाई भतीजे तथा पति के मित्रों से भी वस्त्रादि के उपहार स्वीकार करना ये सब तथ्य तत्कालीन कश्मीर में नारी की संतोषजनक सामाजिक स्थिति प्रकट करते हैं।[1]

---

१. स्वलङ्कृतेन भोक्तव्यं क्षेत्रमध्ये तथा द्विज
सुहृद्भार्याश्रितैः सार्धं वाद्यशब्दैर्मनोहरैः।
उत्सवं चैव कर्तव्यं गीतनृत्तसमाकुलम्॥ ५४६-४७
पूजनीयाश्च कर्तव्यं स्त्रीभिर्गत्वा फलद्रुमम्।
क्रीडितव्यं विशेषेण कुमारीभिस्तथा जले॥
स्त्रीभिर्भाव्यं प्रहृष्टाभिः सुवस्त्राभिस्तथैव च
भूषणैर्भूषिताभिश्च क्रीडितव्यं नरैः सह॥ ५२४-२५
रक्तवस्त्रयुगं देयं सुभगा ब्राह्मणी तु या।
स्वसा पितृस्वसा, या च मित्रपत्नी तु या भवेत्॥

वासुकिपुराण[1]

पांच सौ एक श्लोकों की यह लघु कृति जम्मू-कश्मीर राज्य के भद्रवाह प्रदेश के धार्मिक स्थानों का विवरण प्रस्तुत करती है। वासुकी नाग भद्रावकाश (भद्रवाह) का प्रमुख देव है जिससे सम्बद्ध कथाओं का समावेश इस कृति में है। भद्रवाह प्रदेश को वासुकि का रूप ही बताया गया है। ग्रन्थकार सोम ने कहा है कि वह कश्मीर खण्ड के अन्तर्गत भद्रवाह के वासुकि स्थान का वर्णन करना चाहता है। इस प्रकार इसे स्थान माहात्म्य अथवा स्थानीय उपपुराण कहा जा सकता है।

डॉ० प्रियतम कृष्ण ने पुराण के रचयिता सोम के कथासरित्सागर के रचयिता सोमदेव से अभिन्न होने की सम्भावना प्रकट की है। दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन ही इस दिशा में निर्णय लेने में सहायक होगा, यदि ये दोनों अभिन्न हैं तो वासुकि पुराण का समय ग्यारहवीं शती मानना होगा। हर्ष के नागानन्द नाटक का प्रभाव इस कृति पर स्पष्ट दिखाई देता है।

पुराण की कथा इस प्रकार है।

जीमूतकेतु कल्पद्रुम से प्रार्थना करके पुत्र जीमूतवाहन को प्राप्त करता है। जीमूतवाहन संसार के दारिद्र्य को मिटाने को कल्पद्रुम से प्रार्थना करता है जिससे चारों ओर स्वर्ण वर्षा होती है। उसके यश को सहन न कर पाते हुए शत्रु उस पर आक्रमण करते हैं। वैराग्य में प्रवृत्त जीमूतवाहन पिता को युद्ध करने से विमुखकर माता-पिता सहित मलयानल पर जाकर रहने लगता है। वहां विद्याधर कन्या मलयवती से उसका अनुराग होता है तथा वह मलयवती के भाई मित्र वसु को अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाता है जिसमें वह वल्लभी के व्यापारी महागण का पुत्र वसुदत्त था। व्यापार के लिए यात्रा करते हुए उसे चोरों ने पकड़ लिया था और चण्डी के आगे उसका बलिदान करने जा रहे थे जब एक भील पुलिन्द ने उसकी रक्षा की। भील राज ने उसका परिचय एक सिंहवाहिनी श्वेतकन्या से करवाया था। यहां कथा का सूत्र टूट जाता है तथा दूसरे जन्म की कथा उस भाग से शुरू होती है जहां पार्वती जीमूतवाहन का स्वयं अपने कमण्डलु के जल से अभिषेक करती हैं। जीमूतवाहन गरुड़ को विनम्र होने का उपदेश देते हैं। गरुड़ तथा नाग अपने-अपने निवास स्थानों को चले जाते हैं। गरुड़ शंकर को सुनाते हैं कि जीमूत-वाहन ने अपने शरीर का दान देकर नागों के प्राण बचाने की चेष्टा की थी तथा वासुकि नाग ने अपने राज्य को उत्तम रूप से संचालित करने का निश्चय किया है।

तत्पश्चात् उन पांच स्थानों का विवरण दिया गया है। जहां जीमूतवाहन की

---

१. डॉ० अनन्तराम शास्त्री तथा डॉ० प्रियतम कृष्ण ने इस पुराण का प्रकाशन किया है। दोनों ही विद्वानों ने इसकी समालोचना भी की है।

कृपा से वासुकि का निवास है। वे स्थान हैं—

१. कलिंग प्रांत में विन्ध्याचल पर
२. कैलाश गिरि शिखर पर केदारनाथ में
३. चित्रकूट में
४. वितस्ता तथा सिन्धु के संगम पर
५. भद्राश्रम में

भद्राश्रम के उन सब तीर्थ स्थानों का भी उल्लेख है जो वासुकि नाग के तीर्थ स्थान की यात्रा में पड़ते हैं। कैलाश पर्वत (कपलास) को वासुकि मण्डल कहा गया है। कपिला, हिमतोया, सिक्ता, व्रतशिला, गरुड़ासन, वासुकिकुण्ड आदि वासुकिमण्डल क्षेत्र के तीर्थ हैं। वासुकि मण्डल की पवित्र नदियों भागीरथी, जाह्नवी, मन्दाकिनी, श्वेत गंगा, क्षीर गंगा, अतुलागंगा, सरस्वती तथा पवित्र संगमों एरावती-अतुला गंगा का संगम तथा भागीरथी—श्यामा का संगम, का वर्णन है। भद्रावकाश की उल्लिखित नदियां हैं—हलूना, नन्दा, हथा, कालिन्दी, तथा अरणी कोभारी। भद्रा देवी से युक्त भद्रावकाश के शिरस्थान में नारटिक (नालठी) है, नाभिस्थान में व्रतशिला, भद्रशिला, गुहलेश्वर, नीरू नदी में पुष्कर तीर्थ, कपिला देवी, भद्रा देवी आदि हैं। पारस्थान में गाष्ठा तीर्थ है।

वासुकि पुराण का प्रमुख देव तो वासुकि नाग है। परन्तु अन्य देवी-देवताओं को भी आदरभाव से वर्णित किया गया है। गरुड़ से पीड़ित होकर वासुकि स्वयं शिव की शरण में जाते हैं। शिव वासुकि के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हुए वासकुण्ड को शिव कुण्ड ही बताते हैं। गणेश, पार्वती, नन्दीगण, विष्णु, लक्ष्मी, गन्धर्व, विद्याधर, लोकपाल, मातृकाएं, योगिनियों आदि का भी उल्लेख है। वस्तुतः यह ग्रन्थ शिव-पार्वती के सम्वाद रूप में ही रचित है। दान, व्रत, पूजा, श्राद्ध, होम का विशेष माहात्म्य वर्णित है। इस प्रकार यह लघु स्थानीय पुराण या माहात्म्य ग्रंथ भद्रवाह के लोक-धर्म का परिचय देने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

नाट्य साहित्य

नीलमत पुराण के अनुसार प्राचीन काल में कश्मीर में धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों में नाटकों का अभिनय करवाने की प्रथा थी। कश्मीर में बहुत से संस्कृत नाटक रचे गये होंगे परन्तु खेद की बात है कि अभी तक उपलब्ध साहित्य में केवल एक भाण श्यामिलक रचित पादताडितक, एक नाटक जयन्तभट्ट रचित आगमाडम्बर तथा एक नाटिका बिल्हणकृत कर्णसुन्दरी ही उपलब्ध हुए हैं। नाटककारों के रूप में चन्द्रक, यशोवर्मा तथा क्षेमेन्द्र का उल्लेख मिलता है परन्तु इन तीनों की नाट्यकृतियां अभी तक उपलब्ध नहीं हुई।

कश्मीर के राजा रणादित्य (द्वितीय शताब्दी) का वर्णन करते हुए कल्हण लिखता है कि उसी के राज्यकाल में **महाकवि चन्द्रक** हुआ था जिसने सभी लोगों के देखने योग्य नाटक लिखे थे। सम्भवतः चन्द्रक के नाटकों की लोकप्रियता को दृष्टि में रखते हुए ही कल्हण ने उसे व्यासमुनि का अवतार कहा है[1]। भरत के नाट्यशास्त्र की टीका में अभिनवगुप्त लिखते हैं कि चन्द्रक ने वीर तथा रौद्ररस से युक्त संस्कृत नाटकों की रचना की थी।[2]

चन्द्रक के कुछ पद्य जो श्रीवर की सुभाषितावली, क्षेमेन्द्र की औचित्य विचार चर्चा तथा धनिक की दशरूपकटीका में मिलते हैं, चन्द्रक के नाटकों से लिए गये प्रतीत होते हैं। सुभाषितावली में उद्धृत तीन पद्य तो किन्हीं नाटकों के नान्दी पद्य प्रतीत होते हैं। इनमें शिव-पार्वती की स्तुति है। एक पद्य में शिव के पारिवारिक जीवन का अत्यन्त सुन्दर चित्रण है—शिव मुट्ठियां बन्द किए समाधि में बैठे हैं। तभी कहीं से खेलते-कूदते कार्तिकेय आ पहुंचते हैं और पिता को देखकर मां से

---

१. नाट्यं सर्वजनप्रेक्ष्यं यश्चक्रे स महाकविः।
द्वैपायनमुनेरंशस्तत्काले चन्द्रकोऽभवत्॥ — राजत. २. १६.

२. चन्द्रकेन स्वानि रूपकाणि वीररौद्राधिकोपयोगीनि संस्कृतभाषयैव। — अभिनव भारती

पूछते हैं "मां, पिताजी ने मुट्ठियों में क्या छिपा रखा है?" मां को मजाक सूझता है। वह कहती हैं, "बहुत मजेदार फल छिपा रखा है।" "क्या मुझे नहीं देंगे?" बेटे के यह पूछने पर पार्वती ने उकसाया, "जाओ तुम स्वयं छीन लो।" कार्त्तिकेय आगे बढ़े और पिता की सन्ध्याञ्जलि को खींच कर खोल दिया। समाधि टूटी तो सामने शिशु को देखकर शिव की हंसी फूट निकली। वह हंसी का फुव्वारा आपकी रक्षा करे।[1]

एक अन्य पद्य में शिव-पार्वती की प्रेमक्रीड़ा का वर्णन है जो मानवीय धरातल का स्पर्श करता है। क्रीड़ा करते हुए शिव के मस्तक की चन्द्रकला नीचे गिर पड़ी और पार्वती की कलाई का कङ्गण टूट गया। चन्द्रकला को टूटे कङ्गण के साथ धीरे से जोड़कर पार्वती ने उसे पूरा कर लिया और गर्व से शिवजी को दिखाने लगी। वह शिव, वह पार्वती तथा दशन किरणों से युक्त वह क्रीड़ा चन्द्र आपकी रक्षा करे।[2]

दशरूपक की टीका में उद्धृत एक पद्य में रौद्र तथा शृंगार का युगपत् वर्णन है। 'क्रोध भरे एक नयन से वह आकाश में स्थित सूर्यमण्डल को तथा अश्रूपूर्ण दूसरे नयन से अपने प्रियतम को देख रही है। इस प्रकार दिन के ढलने पर प्रियतम के भावी विरह से आशंकित चकवी एक कुशल नर्तकी की तरह दो मिले-जुले भावों की रचना कर रही है।[3] ये पद्य चन्द्रक के कवित्व का परिचय देते हैं जो उसके नाटकों में प्रस्फुटित हुआ होगा। यह चन्द्रक तिब्बती में अनूदित नाटक लोकानन्द के रचयिता चन्द्र गोमिन् से भिन्न हैं या अभिन्न यह कहना कठिन है। प्रस्तुत पृष्ठों में तीन उपलब्ध नाट्यकृतियों का परिचय दिया जा रहा है।

---

१. मातर्जीव किमेतदञ्जलिपुटे तातेन गोपायते
वत्स स्वादुफलं प्रयच्छति न मे गत्वा गृहाण स्वयम्।
मात्रैवं प्रहिते गुहे विघटत्याकृष्य सन्ध्याञ्जलिं
शंभोर्भिन्नसमाधिरुद्धरभसो हासोद्गमः पातु वः॥ सुभाषितावली पद्य० ६९

२. च्युतामिन्दोर्लेखां रतिकलहभग्नं च वलयं
शनैरेकीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया।
अवोचद्यं पश्येत्यवतु स शिवः सा च गिरिजा
स च क्रीडाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः॥ सुभाषितावली पद्य० ६६

३. एकेनाक्ष्णा परिततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजलललितेनापरेणात्मकान्तम्
अह्नश्छेदे दयितविरहाशंकिनी चक्रवाकी
द्वौ संकीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा॥
सुभाषितावली १९१६. दशरूपकटीका

पादताडितक[1]

यह नाटक श्यामिलक नामक कवि की रचना है। श्यामिलक के कश्मीरी कवि होने के विषय में निश्चित प्रमाण तो उपलब्ध नहीं होते परन्तु प्रतीत यही होता है कि अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र तथा सूक्तिसंग्रहकारों द्वारा उल्लिखित श्यामिलक कश्मीर के रहने वाले थे। पादताडितक की पुष्पिका में उन्हें उदीच्य कवि कहा गया है।[2] श्यामिलक को अभिनवगुप्त से पूर्व तो मानना ही होगा। श्री टी बरो ने अनेक प्रमाणों के आधार पर पादताडितक का समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी का अन्त तथा पंचम शताब्दी का प्रारम्भ स्वीकार किया है। उनके अनुसार पादताडितक के सार्वभौम नरेश से चन्द्रगुप्त द्वितीय का मतलब है। महाप्रतीहार भद्रायुध ने, जिसे कारुषमलद तथा बाह्लीकों का स्वामी कहा गया है, मगधराज के लिए मालव, शक तथा अपरान्त को जीता था। चन्द्रगुप्त की बाह्लीक विजय का उल्लेख मेहरोली के लौह स्तम्भ लेख में है।[3] पादताडितक में हूणों का उल्लेख केवल एक बार हुआ है। सम्भवतः श्यामिलक ने भारत की सीमा पर बसे हुए हूणों की ओर ही संकेत किया है जिन्होंने कुमार गुप्त के समय में भारत पर आक्रमण किया था तथा राजकुमार स्कन्दगुप्त के हाथों पराजित हुए थे।[4] डॉ० बरो ने पादताडितक में उल्लिखित इन्द्रदत्त की पहचान पश्चिम भारत के त्रैकूटकों के एक सिक्के में उल्लिखित इन्द्रदत्त से की है। इस इन्द्रदत्त का समय भी पांचवीं शती का प्रारम्भ है। काकायन बाह्लीक भिषग् हरिश्चन्द्र की पहचान चरक के टीकाकार भट्टार हरिश्चन्द्र से की गई है जिसके गद्य की प्रशंसा बाण ने की है। राजशेखर की काव्य मीमांसा में उल्लिखित अनुश्रुति के अनुसार यह हरिश्चन्द्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा में रहते थे। इस प्रकार पादताडितक का समय पंचम शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

पादताडितक एक भाण है जिसका नायक विट अकेला ही आकाशभाषित प्रश्नोत्तरों के माध्यम से सारी कथा कहता है। सुराष्ट्र की एक प्रसिद्ध वेश्या मदनसेना ने महामात्र के पुत्र शासनाधिकृत विष्णुनाग के सिर पर अपना पैर रखा तो वह मूर्ख प्रसन्न होने के स्थान पर बिगड़ उठा। वेश्या की लात खाने के पाप

---

१. डॉ० मोतीचन्द्र तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय प्रा० लि० बम्बई से प्रकाशित चतुर्भाणी के अन्तर्गत।

२. इतिकवेरुदीच्यस्य विश्वेश्वरदत्तपुत्रस्यार्यश्यामिलकस्य
कृतिः पादताडितकं नाम भाणः समाप्तः।

३. तीर्त्वा सहमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता बाह्लिकाः।
चन्द्र का मेहरोली स्तम्भ लेख।

४. स्कन्दगुप्त का भीतरि अभिलेख।

का प्रायश्चित करने को वह ब्राह्मणों के पास गया तो उन्होंने हंसकर यह बताया कि ऐसे प्रायश्चित का विधान उनके पास नहीं है। शांडिल्य भवस्वामी ने उसे विटों के पास जाने को कहा।

दद्रुणमाधव के अनुसार विटों की सभा बुलाने का काम विट को सौंपा गया है। विट शब्द की व्याख्या करते हुए तत्कालीन बड़े-बड़े राजकर्मचारियों तथा सामन्तों की गणना भी विटों में की गई है जो वेश्याओं को मोटी रकमें चटाते फिरते हैं। विट सार्वभौम नगर में प्रवेश करता है तथा वहां के वैभव की प्रशंसा करते हुए वहां रहने वाली देशी-विदेशी वेश्याओं की तालिका देता है। रास्ते में उसे पवित्रता का ढोंग साधने वाला न्यायाधीश विष्णुदास दिखाई देता है। पानागार पहुंचकर वह मृदङ्गिये और अन्य वाद्यवादकों के साथ शराब का घड़ा उठाकर नाचते हुए वाह्लीक पुत्र वाष्प को देखता है जो हमेशा नशे में चूर रहता है। वहां से चलकर वह कामदेव के मन्दिर से आती मृदङ्गिये स्थाणुमित्र की चहेती पुरानी वेश्या सरणिगुप्ता को देखता है। रास्ते में उसे काकायन वैद्य ईशानचन्द्र का पुत्र हरिश्चन्द्र भी मिलता है जो अपनी प्रणयिनी वेश्या के सिरदर्द की दवा करने जा रहा है। आगे चलकर विट सेनापति सेनक के पुत्र आर्यघोटक मघवर्मा को वेश्या पुष्पदासी का दरवाजा खोलते देखता है। इन्द्रस्वामी का रहस्यसचिव हिरण्यगर्भक काशी की प्रमुख वेश्या पराक्रमिका के घर से निकल रहा है। महाप्रतिहार भद्रायुध शूर्पारक की वेश्या रामदासी के घर से बाहर आ रहा है। भिक्षु निरपेक्ष चित्र बना रहा है। विट उसे पुरानी प्रेमिका राधिका का उद्धार करने की प्रेरणा देकर आगे बढ़ता है। अपनी प्रेमिका शूरसेना की बगीची में घुसकर वह उससे मिलता है। तत्पश्चात् फूली मशक जैसे मोटे उपगुप्त से उसकी भेंट होती है जिसपर पुस्तक-वाचिका मदयन्ती अपने पुस्तकवाचक को छोड़कर लट्टू हुई पड़ी है। फिर वह रईसी ठाठ में सजे एक लाट निवासी को मिलकर अपने मित्र राम के घर पहुंचता है पर भीतर से गहनों की झंकार सुनकर भीतर नहीं जाता। दुबला-पतला तौंडकोकि सूर्यनाग विट को देखते ही मुंह छिपाकर भाग जाता है क्योंकि टकहिया वेश्याओं ने उस पर मुकदमा चला रखा है। उसके बाद वह सिंहल की वेश्या मयूरसेना के घर से निकलते विदर्भ के तलवर हरिशूद्र को देखता है। चकले की गली में उसे शक कुमार जयंतक के साथ घटदासी बर्बरिका दिखाई देती है। आभीलक मयूर कुमार के साथ क्रीड़ा करती राका दिखाई देती है। शार्दूल वर्मा का पुत्र वराहदास अपनी रखेली यवनी कर्पूरतुरिष्टा के साथ मद्यपान कर रहा है। इभ्य पुत्र प्रवाल बाला को हाथी पर चढ़ाकर ले जा रहा है। इन सबको विट-पंचायत का निमन्त्रण देकर जब वह भट्टि जीमूत के घर पहुंचता है तो वहां अनेक विट इकट्ठे हो चुके हैं। सेवक चांदी के कलशों से आगन्तुकों के पैर धुला रहे हैं। कहीं फूल बिखेरे जा रहे हैं, कहीं दीपक जलाए जा रहे हैं, कहीं चन्दन बांटा जा रहा है, कहीं

अतर लगाया जा रहा है, गाना-बजाना तथा वेश्याओं से हास-परिहास चल रहा है।

विट, विष्णुनाग के प्रायश्चित की व्यवस्था देने के लिए विटों से प्रार्थना करता है। विटों को इस बात का खेद है कि मदनसेना जैसी उच्च स्तर की वेश्या उचित आदमी की पहचान न कर सकी। धावकि अनन्तकथ की राय है कि मूर्खा मदनसेना को ही दण्डित करना चाहिए जिसने उस जानवर के सिर पर पैर रख दिया। गधे के सामने बीन बजाने जैसा काम उसने क्यों किया। शिबिदेश का कवि आर्यरक्षित जो एक प्याला शराब के लिए अपना काव्य बेच देता है, विष्णुनाग को इस योग्य नहीं समझता कि मदनसेना के चरण से उसका मस्तक छूआ जाता। भवकीर्ति के मतानुसार मदनसेना विष्णुनाग के बाल पकड़कर उसे अपने मेखला दाम से बांध दे तथा उससे अपने पैर दबवाए। गान्धर्वसेन इस मत का विरोध करता है। दक्षिण देश का कवि आर्यक यह प्रायश्चित बताता है कि नखरों से भरी चितवनों के साथ वह मतवाली मदनसेना कर्णोत्पल से विष्णुनाग के सिर पर प्रहार करे। गान्धार देश का हस्तिमूर्ख इसका विरोध करता है क्योंकि मदनसेना के कर्णोत्पल का स्पर्श पाकर विष्णुनाग दण्ड के स्थान में सुगन्धित पराग ही प्राप्त करेगा। गुप्त के अनुसार मदनसेना के पैर के धोवन से विष्णुनाग का सिर धोया जाना चाहिए। महेश्वरदत्त यह कहकर विरोध करता है कि विष्णुनाग तो उसके पैर का धोवन पीने लायक भी नहीं है। सौवीर देश का बूढ़ा विट इस प्रायश्चित का सुझाव देता है कि विष्णुनाग दर्पण हाथ में लेकर सेवक का कार्य करे जबकि स्नान करके निकली हुई मदनसेना उस दर्पण में मुख देखकर अपने केशों का प्रसाधन करे। यह सुझाव भी दाशेरक कवि रुद्र वर्मा द्वारा तिरस्कृत कर दिया जाता है। उसके अनुसार विष्णुनाग का सिर मूंड देना चाहिए। भट्टि जीमूत के अनुसार विष्णुनाग रुखे केश धारण करता रहे। मदनसेना भट्टि जीमूत के सिर को अपने नूपुरयुक्त चरणों से अनुगृहीत करे तथा विष्णुनाग टुकुर-टुकुर सामने देखता रहे। इस प्रायश्चित को सभी स्वीकार कर लेते हैं तथा विट की निम्न कामना के साथ भाण समाप्त हो जाता है।

"नोंक-झोंक की बातों में चतुर कुट्टिनियां सकुशल रहें। धूर्तों की सैंकड़ों की आमदनी सही-सलामत बनी रहे। इस नगरी में विटों की मजेदार बैठकें जमती रहें और सन्ध्याओं में वारविलासिनियों के प्रेम भरे जलसे होते रहें।"

संस्कृत नाटक प्रायः राजाओं-रानियों की प्रेमकथाओं पर आधारित होने के कारण जन-जीवन के बहुत निकट नहीं होते परन्तु प्रहसनों और भाणों में समाज के सामान्य स्तर के लोगों का चित्रण मिलता है। आठवीं-नवमीं शताब्दी के बाद के भाणों में भी प्रायः रूढ़िगत वर्णन मिलते हैं परन्तु श्यामिलक रचित इस भाण में तत्कालीन समाज के उस अंग का, जो वेश संस्कृति में रुचि रखता था, जीता-

जागता खाका खींचा गया है। लगता है कि कश्मीर के कवि दामोदर गुप्त ने अपने कुट्टनीमत में तथा क्षेमेन्द्र ने दर्पदलन, देशोपदेश, नर्ममाला, समयमातृका आदि ग्रन्थों में जो तत्कालीन समाज के दंभी, लालची, कामी लोगों की खिल्ली उड़ाई है उसकी प्रेरणा उन्हें श्यामिलक के पादताडितक से मिली होगी। इस भाण का उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ तत्कालीन समाज के जीवन की बुराइयों पर फब्तियां कसना, परिहास के माध्यम से समाज के बड़े माने-जाने वाले लोगों की कामुकता का भंडाफोड़ करना तथा वेश संस्कृति का चित्रण करना प्रतीत होता है।

दामोदर गुप्त और बिल्हण की तरह श्यामिलक कश्मीर छोड़कर वैभव की खोज में गुप्त राजाओं की राजधानी उज्जयिनी में जा बसे थे। डॉ० बरो के अनुसार पादताडितक में वर्णित सार्वभौम नगर उज्जयिनी ही है। कवि ने उसे जम्बूद्वीप का तिलक अनेक युद्धों में अर्जित विभूतियों से सम्पन्न, सार्वभौम सम्राट् का वासस्थान बताया है।[1] वहां की जनता में विभिन्न प्रदेशों तथा विभिन्न जातियों के लोग हैं। पहाड़ों से, द्वीपों से, समुद्र के किनारों से, मरुभूमियों से, सैकड़ों राजा यहां आकर प्रत्येक दिशा में बस गये हैं। शक, यवन, तुषार, पारसीक, मगध, किरात, कलिङ्ग, बंग, महिषक, चोल, पाण्ड्य और केरल इन सबके वासियों से भरापुरा यह नगर सर्वत्र आनन्दमय है।[2] इस सार्वभौम नगर के बाजार में अनेक देशों के स्थल और जल के बढ़िया एवं घटिया माल को खरीदने और बेचने के लिए स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी रहती है।[3] कंधे से कंधा भिड़ाकर धक्का-धुक्की करते, आपस में बहस करते और कुछ-कुछ खरीदते हुए आते-जाते लोगों की भीड़ ऐसी लगती है मानो खेतों में पौधों की पंक्तियां हों।[4] वेश्याओं का एक अलग बाजार लवणिकापण है। देश के अनेक भागों तथा बाहर से भी आकर अनेक

---

१. अहो तु खलु जम्बूद्वीपतिलकभूतस्य सर्वरणाविष्कृतविभूतेः
सार्वभौमनरेन्द्राधिष्ठितस्य सार्वभौमनगरस्य परा श्रीः।

२. गिरिभ्यो द्वीपेभ्यः सलिलनिधिकच्छादपि मरो—
र्नरेन्द्रैरायातैर्दिशि दिशि निविष्टैश्च शतशः।
... .
शकयवनतुषारपारसीकैर्मगधकिरातकलिंगवंगकाशैः।
नगरमतिमुदायुतं समन्तान्महिषकचोलपाण्डयकेरलैश्च ॥

३. एष भो अनेकदेशस्थलजजलजसारफल्गुपण्यक्रयविक्रयोपस्थितस्त्रीपुरुषसं-
बाधान्तरापणां सार्वभौमस्य विपणिमनुप्राप्तः। पृ० १६६,८

४. अंसेनांसमभिघ्नतां विवदतां तत्तच्च संक्रीणतां
सस्यानामिव पंक्तयः प्रचलतां नृणामसी राशयः। पृ० १६७ पद्य ३०

वेश्याएं जैसे सुराष्ट्र की मदनसेनिका, पाटलीपुत्र की पुष्पदासी, काशी की परा-क्रमिका, सोपारा की रामदासी, सिंहल की मयूरसेना, द्रविड़ देश की कावेरिका बर्बरिका तथा यवन देश की कर्पूरतुरिष्टा वहां रह रही हैं। वेश्याओं के महलों का वर्णन शूद्रक के मृच्छकटिक में वर्णित वसन्तसेना के प्रासाद-वर्णन से काफी मिलता है। चारदीवारी, हर्म्यशिखर, खिड़कियां, वल्लभीपुट, अट्टालक, आदि से युक्त महलों में विमल बांपियां भी थीं। वेश्याओं के अनेक नामों यथा वेश्यांगना, विलासिनी, मदनदूती, वेशस्त्री, वेशदेवता, वेशकन्यका, अंगना, पताकावेश्या, रूपदासी, रूपाजीवा, वेशसुन्दरी, दासी, वारस्त्री, कुट्टिनी आदि का उल्लेख मिलता है। वेश्याध्यक्ष प्रतिहार वेश्याओं के कार्यकलाप का निरीक्षण करने वाला विशिष्ट अधिकारी प्रतीत होता है। वेश्याएं संगीत तथा नृत्यकला में प्रवीण दिखाई देती हैं। विटगोष्ठियों का अत्यन्त सजीव वर्णन मिलता है। विटों के चौधरी भट्टि-जीमूत के घर पर आयोजित विट गोष्ठी का वर्णन तत्कालीन मनचले शौकीनों की रंगीन बैठक का दृश्य प्रस्तुत करता है। पादताडितक के विट के अनुसार विट वही है जो दिन भर व्याहारियों के साथ झगड़ा करके शाम को किसी मित्र के यहां खा-पीकर रात किसी वेश्या के यहां गुजार दे या शस्त्र लेकर मारामारी करता फिरे। गरीब होने पर भी शाह-खर्च हो और प्राण देकर भी मित्र की रक्षा करता हो। देशोपदेश तथा नर्ममाला में भी विटों का यही रूप दिखाई देता है।

पादताडितक की भाषा मंजी हुई बोलचाल की मुहावरेदार संस्कृत है जिसे श्री टामस ने "संस्कृत भाषा का निचोड़ा हुआ अमृत" कहा है।[1] धर्म दर्शन की शब्दावली का विशेष व्यंग्य अर्थों में प्रयोग देखते ही बनता है। बौद्धभिक्षु पर व्यंग्य करते हुए विट कहता है—

श्रमनिस्सृतजिह्वमुन्मुखं हृदिनिस्सङ्गनिखातसायकम्।
समवेक्ष्य मृगं तथागतं स्मरसि त्वं न मृगं तथागतम्॥

यहां तथागत, निस्संगनिखात, सायक, उन्मुख आदि शब्द बुद्ध पर भी लागू होते हैं और शिकार के मृग पर भी। पुरुष प्रकृति (६५.३), प्रत्यभिज्ञान (८८.१४) योगशास्त्र (२६) आदि दर्शन शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग वेश संस्कृति से सम्बद्ध अर्थों में हुआ है। सूर्यनाग की उपमा जले हुए सेमल के पेड़[2] तथा काले दुबले बगुले से दी गई है। सूर्यनाग की चहेती कुबड़ी वेश्या गेहूं की नाली की नलकी[3] की तरह दुबली-पतली तथा खोखली है जो झूठों की प्रीति की तरह देखने में मुख

१. चतुर्भाणी पृ० ५
२. दग्धः शाल्मलिवृक्षः पृ० २१७ पद्य ८८
३. यद्यपि वयस्य कुब्जा नालिनलिका कृशा च गडला च।
असतामिव सम्प्रीतिर्मुखरमणीया भवति ॥

से सुन्दर है। चलती भाषा के प्रयोग तथा वेश संस्कृति के अध्ययन के लिए यह भाण बहुमूल्य है।

आगमाडम्बर[1]

आगमाडम्बर एक दर्शन प्रधान नाटक है जिसके रचयिता जयन्त को न्यायमञ्जरी के कर्ता के रूप में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी है। जहां न्यायदर्शन जैसे दुरुह विषय को जयन्त ने अपनी काव्यप्रतिभा द्वारा बड़े रोचक ढंग से न्यायमञ्जरी में प्रस्तुत किया है वहां आगमाडम्बर नाटक में उनकी दार्शनिकता की पूरी छाप है।

जयन्त ने न्यायमञ्जरी में दामोदर गुप्त के कुट्टनीमत का उल्लेख किया है तथा आनन्दवर्धन का नाम लिए बिना उनके ध्वनिमत का खण्डन किया है। दामोदर गुप्त तथा आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा के समय में हुए थे तथा जयन्तभट्ट अवन्तिवर्मा के पुत्र शंकरवर्मा (८८३-९०२ ई०) के समय में हुए। न्यायमञ्जरी तथा आगमाडम्बर में जयन्त ने शंकर वर्मा का उल्लेख समकालीन नृप के रूप में किया है। न्यायमंजरी के एक पद्य में राजा द्वारा जयन्त के बन्दी बनाये जाने की ओर संकेत है।[1] अन्यत्र जयन्त शङ्कर वर्मा की स्तुति ही करता है। उसका वर्णन कल्हण की राजतरंगिणी में उपलब्ध वर्णन से नितान्त भिन्न है जहां शंकर वर्मा को क्रूर अत्याचारी नृप दिखाया गया है।[2] हो सकता है कि शंकर वर्मा का अत्याचारी रूप उसके राज्यकाल के प्रारम्भिक या अन्तिम भाग में प्रकट हुआ हो जिस की उपेक्षा जयन्त ने कर दी या फिर ये दो वर्णन दो साहित्यकारों की तत्कालीन राजनीति के विषय में अलग-अलग प्रतिक्रिया के द्योतक भी हो सकते हैं। यह बताना कठिन है कि किन परिस्थितियों में जयन्त को एकाकी बंधन का दण्ड भोगना पड़ा। डॉ० राघवन का अनुमान है कि सम्भवतः जब शंकर वर्मा ने दार्वाभिसार पर आक्रमण किथा होगा तो दार्वाभिसार के निवासी जयन्त को बन्दी बना लिया होगा। बाद में उसकी विद्वता से प्रभावित होकर उसे अपना सचिव बनाया होगा।

आगमाडम्बर दार्शनिक नाटक है परन्तु प्रबोध चन्द्रोदय की तरह इस नाटक में अमूर्त्त भावों को पात्र बनाकर उनसे दर्शन सम्बन्धी चर्चा नहीं करवाई गई अपितु यथार्थ धरातल पर विभिन्न दार्शनिक विचारकों का चित्रण करते हुए उन के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। जयन्त जानते थे कि उनका यह नाटक शास्त्रीय परम्परा की लीक से हटकर है अतः इसका विरोध हो सकता है। सूत्रधार और पारिपश्विंक की बातचीत में उनकी इस आशंका की ओर संकेत है। सूत्रधार कहता है कि वृत्तिकार भट्ट जयन्त के शिष्यों की मण्डली ने मुझसे कहा है कि

---

१. आगमाडम्बर, वी० राघवन् द्वारा सम्पादित १९६४

हमारे गुरु की नवीन रचना आगमाडम्बर का अभिनय कराइए। इस अलौकिक तथा अशास्त्रीय नाटक का प्रथम अभिनय कैसे करवाएं ? इसकी उपेक्षा करना ही ठीक है। उत्तर में पारिपश्विक यह तर्क देता है कि यदि यह नाटक भरत के नाट्य-शास्त्र के नियमों का उल्लघन करता है तो उसके लिए उत्तरदायी कवि हो सकता है, अभिनय कराने वाला नहीं। और फिर चूंकि दर्शक मुख्यतया जयन्त के शिष्य होंगे अतः विरोध की कोई बात नहीं उठेगी।[1] इस वार्तालाप से यह भी सिद्ध होता है कि कश्मीर में नाटक राजसभाओं में ही नहीं खेले जाते थे अपितु धार्मिक संस्थाओं और शिक्षा संस्थाओं द्वारा भी नाटकाभिनय का आयोजन कराया जाता था।

इस रूपक का मुख्य प्रयोजन विद्यार्थियों तथा जनता को तत्कालीन विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित कराना प्रतीत होता है। जयन्त ने अपनी काव्य-प्रतिभा तथा व्यंग्य और हास्य की सृष्टि करने की शक्ति द्वारा गूढ़ बौद्धिक परिचर्चाओं को रोचक परिस्थितियों में संजोकर उनकी शुष्कता को कम कर दिया है। धर्म के नाम पर होते हुए आडम्बरों तथा पापाचरणों का भण्डाफोड़ कर धार्मिक समन्वय की भावना को जगाना भी नाटककार का प्रयोजन है।

श्रीनगर के एक बौद्ध विहार में वृक्ष के नीचे बैठे भिक्षु अपने शिष्य उपासक को चार आर्यसत्यों—दुःख, समुदाय, निरोध तथा मार्ग की व्याख्या समझाते हैं। इसी प्रसंग में आत्मा के अभाव की तथा सभी वस्तुओं की क्षणभंगुरता की चर्चा होती है। लताओं के झुरमुट के पीछे खड़ा एक ब्राह्मण स्नातक संकर्षण उन दोनों की बातें सुनता है। वह जब उनके पास आने लगता है तभी बौद्धभिक्षु और उसका शिष्य घण्टा ध्वनि सुनकर भिक्षु सम्मेलन के लिए चले जाते हैं। यहीं विष्कम्भक समाप्त होता है। प्रथम अंक में स्नातक संकर्षण इस बात की चिन्ता कर रहा है कि वेदवेदाङ्ग मीमांसादि का अध्ययन कर चुकने पर जब तक मैं वेद से द्वेष रखने वालों को पराजित नहीं करता तब तक विद्या में मेरा श्रम सफल नहीं माना जा सकता। उसका शिष्य स्नान की सामग्री लाता है और बताता है कि रास्ता बौद्ध-विहार की ओर जाते हुए लोगों से भरा है। संकर्षण स्नान से पूर्व रास्ते में बौद्ध-विहार में जाकर बौद्धभिक्षुओं से मिलना चाहता है। दोनों विहार में प्रवेश करते ही वहां की समृद्धि को देखकर चकित हो जाते हैं। हिमगिरिशृंगों से होड़ करते हुए चन्द्र किरणों की तरह धवल प्रासाद, मनोहर लतामण्डप, कमल सरोवर, नाना आभूषणों से मण्डित, चन्दन कस्तूरी आदि से लिप्त, पुष्पधूपादि से पूजित

---

१. काव्यं करोति स कविर्भरतोपदेशमुल्लङ्घ्य तस्य च तथा प्रथयन्ति शिष्याः।
सामाजिकास्तव त एव भवान् प्रयुङ्क्तां पार्श्वस्थितः परिवदिष्यति-किं जनोऽन्यः॥
आगमाडम्बर अंक १, पद्य ४

बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमाएं, यह सब देखकर स्नातक कह उठता है—यह तो राजोद्यान है, तपस्वि जनों का मठ नहीं। विषयसुख से विमुख रहने वाले समाधि भावना में आसक्त भिक्षुओं को इस प्रकार के भोगसाधनों की क्या आवश्यकता है ? तभी वे देखते हैं कि भिक्षु लोग बिना नहाए, बिना वस्त्र बदले, भोजन करने चल पड़े हैं तथा सभी मिलकर एक पंक्ति में खाने लगे हैं। सुरापान तथा मांसाशन भी चल रहा है। पीने वाले जिह्वा से उतना नहीं पी रहे जितना अपनी आंखों से पिलाने वालियों के मुख-सौन्दर्य को पी रहे हैं। भोजन के पश्चात् भिक्षु धर्मोत्तर पुनः वृक्ष के नीचे हरी घास पर शिष्य को पढ़ाने बैठते हैं। तभी संकर्षण तथा उसका साथी आ पहुंचते हैं तथा पाठ के विषय में प्रश्न पूछते हैं। विवाद बढ़ने लगता है। तभी विहारोद्यान को देखने को आए हुए विश्वरूप आदि कुछ विद्वद्गण दिखाई देते हैं। निश्चय होता है कि इन विद्वानों की मध्यस्थता स्वीकार करके वाद-विवाद किया जाए। विवाद के नियमों-उपनियमों की चर्चा के पश्चात् विवाद प्रारम्भ होता है। संकर्षण पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध-सिद्धान्तों को उपस्थित करता है तथा उनका खण्डन करता है। वाद-विवाद ज्यों-ज्यों बढ़ता है दोनों वक्ताओं के अनुयायी उत्तेजित हो उठते हैं और परस्पर प्रहार करने को उद्यत होने लगते हैं तभी मध्यस्थ उन्हें रोकते हैं तथा चर्चा आगे बढ़ती है। क्षण-भङ्गवाद तथा विज्ञानवाद का खण्डन करने के पश्चात् विजेता संकर्षण स्नान के लिए जाता है।

दूसरे अंक में क्षपणकों की बस्ती में एक क्षपणक साधु एक क्रुद्धा साध्वी को मना रहा है जो रूठकर चली जाती है। संकर्षण का सेवक क्षपणिका का रूप धारण करके क्षपणक के पास जा पहुंचता है। जब क्षपणक उसका चुम्बन करने लगता है तो भेद खुल जाता है। कुछ घूंस देकर क्षपणक सेवक को भगाता है। तभी असली क्षपणिका आकर पिच्छिका दण्ड से क्षपणक को पीटती है। किसी ठक्कर ने एक हजार क्षपणक साधुओं को भोजन के लिए आमन्त्रित किया है। स्नातक वहां भी जा पहुंचता है तथा उस फिजूलखर्ची को देखकर सोचता है कि इस ठक्कर की सम्पत्ति अवश्य राजा जब्त कर लेगा। इसी अंक में नीलाम्बरों के सम्प्रदाय का वर्णन भी है जिनकी अश्लील क्रियाओं से संकर्षण उद्विग्न है।

तीसरे अंक में तान्त्रिक शैव साधक कङ्कालकेतु तथा श्मशानभूति भयभीत हैं कि शङ्कर वर्मा और उसका मन्त्री जयन्त अवैदिक मतावलम्बियों को देश से बाहर निकालने पर तुले हैं। उनकी योजना है कि योगेश्वरी कलाग्निशिखा के माध्यम से महारानी सुगन्धा पर प्रभाव डालकर इस निष्कासन को रुकवाया जाए। तभी डोंढ़ी सुनाई पड़ती है कि संकर्षण और महाराज शंकर वर्मा की आज्ञा-नुसार जगत्प्रवाह से चले आ रहे नाना आगमानुयायी अपनी-अपनी क्रियाएं करते हुए राज्य में रहें परन्तु प्रस्तुत धर्मों में विघ्न डालने वाले तप से विमुख पापी लोगों

को राजा शंकरवर्मा समाप्त कर देगा। बहुत से साधु डर कर राज्य से भागने लगते हैं। संकर्षण स्वयं शैवाश्रम में जाकर शैवमतानुयायियों की भ्रान्ति दूर करता है तथा राज्य से भागते हुए लोगों को लौटाने को व्यक्ति भेजता है। तभी आश्रम में एक चार्वाक वृद्धाम्भि का आगमन होता है। ईश्वर की सत्ता के विषय में उस का वादविवाद धर्मशिव तथा संकर्षण के साथ होता है।

चतुर्थ अंक में एक उपाध्याय और एक ऋत्विक् के वार्तालाप से पता चलता है कि राज्य में वास्तविक वैदिक धर्मावलम्बियों की स्थिति दयनीय हो रही है। राजा माहेश्वर है, संकर्षण सभी आगमों को प्रमाण मानने वाला है। महारानी सुगन्धा वैदिकों तथा आगमावलम्बियों का एक विशाल सम्मेलन बुलाती हैं जिसमें मीमांसा, व्याकरण, न्याय, स्मृति, पुराणादि के अनेक विद्वान् एकत्रित होते हैं। महारानी प्रसिद्ध नैयायिक भट्ट साहट (धैर्यश्री) को निर्णायक मनोनीत करती हैं। भट्ट साहट सभी सिद्धान्तों का परिचय देने के पश्चात् यही निर्णय देते हैं कि जैसे किसी नगर या महल में प्रवेश करने के इच्छुक कई अलग-अलग द्वारों से प्रवेश कर सकते हैं उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक साधक भी एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अलग-अलग मार्ग अपना सकते है।[1] इस मत की पुष्टि में वह जयन्त की न्यायमंजरी का एक पद्य उद्धृत करते हैं जिसमें नाना आगमों की तुलना गंगा के नाना प्रवाहों से की गई है जो एक सिन्धु में जा गिरते हैं।[2]

अन्त में दो निर्णय लिए जाते हैं। एक तो यह कि अहिंसादि सामान्य धर्म का तो सभी मत पालन करें। सामान्य धर्म के अतिरिक्त अलग-अलग मतावलम्बियों के अपने-अपने शास्त्रों में उल्लिखित विशेष क्रियाकाण्ड का पालन भी लोग करते हैं। परन्तु जो लोग धर्म का नाम लेकर दुराचारों से शास्त्र तथा धर्म को दूषित करते हैं उन्हें आश्रय न दिया जाए। राजा वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं का आचार्य होता है अतः इस विषय में ध्यान रखना उसका कर्त्तव्य है।

भरत के नाट्यशास्त्र से हटकर रचे गये इस नाटक में न तो नायिका है न ही वीर अथवा शृंगार रस की प्रधानता है। नाटक रसप्रधान न होकर विषय-प्रधान है। ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से इस रचना का विशेष महत्त्व है। कश्मीर के नृप शंकरवर्मा तथा उसकी महारानी सुगन्धा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

---

१. प्रवेष्टुकामा बहवः पुमांसः पुरे यथैकत्र महागृहे वा।
द्वारान्तरेणापि विशन्ति केचित् तथोत्तमे धाम्नि मुमुक्षवोऽपि ॥
आगमाडम्बर ४.५२

२. नानाविधैरागममार्गभेदैरादिश्यमाना बहवोऽभ्युपायाः।
एकत्र ते श्रेयसि सम्पतन्ति सिन्धौ प्रवाहा इव जाह्नवीयाः ॥
आगमाडम्बर ४.५४

सुगन्धा की धार्मिक क्षेत्र में विशेष रुचि है। वैदिकों तथा भागवतों के मतभेदों का निपटारा कराने के लिए वह नैयायिक धैर्य राशि को मनोनीत करती है।[1] कश्मीर में प्रचलित तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओं का वर्णन बड़े रोचक ढंग से विशद रूप में किया गया है। बौद्ध धर्मोत्तर, आर्हत, जिनरक्षित, चार्वाक, वृद्धाम्भि, शैव धर्मशिव, नैयायिक धैर्यराशि, मीमांसक संकर्षण इन सबके कथोपकथन के माध्यम से विभिन्न मतों के सिद्धान्तों का परिचय दिया गया है। भिक्षु धर्मोत्तर के अनुसार सब शून्य क्षणिक तथा निरात्मक है।[2] आर्हत जिनरक्षित अपने शिष्यों को कहते हैं कि जिनवचन का ध्यान तथा तप के नियमों से शरीर को शीर्ण करना यही उपदेश का संपूर्ण रहस्य है। चार्वाक वृद्धाम्भि की दृष्टि में तप कुछ नहीं, शरीर को नाना प्रकार की यातना देना है, संयम भी भोग से वंचित रहना मात्र है, अग्निहोत्रादि बच्चों के खेल हैं।[3] ईश्वर की कल्पना वैसे ही है जैसे मृगतृष्णाजल में नहाया, आकाश पुष्पों का मुकुट पहने, खरगोश के सींग के धनुष को धारण किए वन्ध्या का पुत्र जा रहा हो।[4] ईश्वर के अभाव का विरोध करते हुए शैव धर्मशिव का कथन है—कर्त्ता के बिना कार्य कैसे ? कार्य डित्थादि की तरह नाम-मात्र नहीं होता। अपितु कार्य वह है जिसे किया जाता है। कर्ता के बिना कार्य कैसे किया जा सकता है यह हम नहीं जानते। अतः अपने सिरदर्द की यह दवाई, ईश्वर का अनुमान स्वीकार करो। और कोई चारा नहीं।"[5] नैयायिक धैर्यराशि का दृष्टि कोण समन्वयात्मक है परन्तु वह तथा संकर्षण दोनों धर्म के नाम पर दुराचरण को सहन करने को उद्यत नहीं। विचारप्रधान होने पर भी नाटक कुछ सुन्दर प्रकृतिवर्णनों से युक्त है। दूसरे अंक में आर्हतों के आश्रम का वर्णन इस

---

१. तया समागत्य कथितम्, तीर्थान्तराणां त्रयीविदां चात्र विवादे स्थेयतया सर्वेषां सम्मतः प्रतीत गुणो महानैयायिको धैर्यराशिरिति प्रथितापरनामा भट्टसाहटः तमत्र विवादपदनिर्णेतारं कुर्विति। अंक ४ पृ० ७९

२. तस्मात् सर्वं शून्यं सर्वं क्षणिकं निरात्मकं सर्वम्।
सर्वं दुःखमितीत्थं ध्यायन्निर्वाणमाप्नोति ॥ अंक १ पद्य १६

३. झाइज्जदि जिणवयणं तवणियमेहिं खविज्जई सरीरम्।
इत्तियमेत्त गिण्हह उवएसरहस्ससव्वस्सं ॥ अंक २. पद्य ६

४. तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चनम्।
अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥ अंक ३, पद्य ९

४. क पुनर्भगवानीश्वरः ?
मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ अंक ३, पद्य १०

५. अंक ३, पृ० ६४

प्रकार किया गया है—"घनी-घनी छाया है, हरियाली भरी क्यारियां हैं। जल-प्रवाह है। फूलों से सुगन्धित पवन चल रहा है। मृग नाना प्रकार की क्रीडाएं कर रहे हैं, पक्षी नाना स्वरों में चहचहा रहे हैं।"[1]

कर्णसुन्दरी[2]

बिल्हण रचित 'कर्णसुन्दरी' चार अंकों की नाटिका है जिसे नाटिका के लक्षणों के अनुरूप लिखा गया है। चालुक्यवंशी राजा भीमदेव का पुत्र कर्णदेव शिवलिङ्ग लाङ्छने के अपराध में आकाश से गिरी एक विद्याधरी कन्या के सौन्दर्य से आकृष्ट हुआ उससे प्रेम करने लगता है। वह कन्या दासी के रूप में महारानी के पास रहती है। राजा का मित्र विदूषक उसे राजा से मिलाने का प्रयास करता है। एक बार चित्रशाला में राजा कर्णसुन्दरी का चित्र देख रहा होता है तभी महारानी वहां आती है तथा रुष्ट होकर लौट जाती है। बाद में वह कर्णसुन्दरी का वेष धारण कर राजा के पास पहुंचती है तथा राजा द्वारा प्रेम अभिव्यक्त करने पर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर देती है। राजा लज्जित होकर क्षमा याचना करता है। पुनः महारानी महाराज को छलने की योजना बनाकर अपने भानजे को कर्णसुन्दरी का वेष धारण करवाकर उसका विवाह राजा के साथ करने की योजना बनाती है परन्तु मन्त्री वास्तविक कर्णसुन्दरी को लाकर उसकी योजना को असफल कर देता है। लज्जित हुई वह स्वयं राजा का विवाह कर्णसुन्दरी से कर देती है। तभी राजा को सूचना मिलती है कि उसकी सेनाओं ने शत्रु पर विजय प्राप्त कर ली है। नाटिका की कथा कवि कल्पित हैं। नायक को धीरललित प्रकृति का तथा महारानी को ईर्ष्या युक्त अंकित किया गया है। कनिष्ठा नायिका कर्णसुन्दरी मुग्धा नायिका है जो विरहवेदना के असह्य होने पर आत्महत्या के लिए उद्यत हो जाती है।

नाटिका पर कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक तथा हर्ष की रत्नावली नाटिका का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। रत्नावली में मदनमहोत्सव का वर्णन है तथा कर्णसुन्दरी में नाभेय (ब्रह्मा) के यात्रामहोत्सव की चर्चा है। दोनों में बसन्त ऋतु का तथा राजा के उद्यान में जाने का वर्णन है। दोनों में राजा नायिका के चित्र को देखता है तथा ज्येष्ठा नायिका पर यह बात प्रकट हो जाती है। दोनों में वेष परिवर्तन की घटना है। रत्नावली में कनिष्ठा नायिका सागारिका, महादेवी वासवदत्ता का रूप धारण करती है जबकि कर्णसुन्दरी में महादेवी, कर्णसुन्दरी का वेष धारण करके आती है। दोनों में महादेवी रुष्ट होकर चली जाती है, चरणों पर गिरे हुए राजा को विदूषक कहता है कि देवी तो चली गई। अब अरण्यरोदन से

---

१. अंक २, पद्य १३
२. पं० दुर्गाप्रसाद सम्पादित; निर्णय सागर प्रेस बम्बई १८८८

क्या लाभ ? इसी प्रकार यह नाटिका मालविकाग्नि मित्र तथा विद्धशाल भञ्जिका से भी प्रभावित दीखती है विद्धशालभञ्जिका में भी महादेवी राजा के साथ छल-नाटक करती हुई मृगाङ्कवर्मा नामक युवक को नायिका मृगांकवली का वेष धारण करवा कर विवाह की योजना बनाती है जो असफल हो जाती है।

कर्णसुन्दरी नाटिका में शृंगार रस ही प्रमुख है। संभोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार का अधिक अंकन हुआ है। विदूषक की उक्तियों में प्रायः हास्य का पुट मिलता है। राजा ने देवी को प्रसन्न करने के बाद जो लड्डू बांटे थे उन्हें पेट भर खाकर विदूषक सोना चाहता है।[१] तरङ्गवती को रास्ते में रोककर वह कहता है—मैं तो चन्द्रलेखा की तरह तेरी राह देख रहा हूं और तू मुझे राहू की तरह समझकर वचना चाह रही है।"[२]

वसन्त ऋतु का प्रभाव कामी जनों पर दिखाते हुए कवि कहता है "रसपान की मस्ती में गुंजार करते हुए भंवरों ने सर्वत्र कामोत्पादक वातावरण बना दिया। आम्रमंजरी पर कूकती हुई कोयल ने एक ओर तो कामियों के कर्णपुटों को अपनी मधुरतान से आकृष्ट किया और दूसरी ओर विरहणियों की विरह पीड़ा को दुगुना कर दिया।"

प्रभात वर्णन में अस्त होते चन्द्र तथा उदय होते हुए सूर्य का वर्णन कालिदास के वर्णन से मिलता है "एक ओर तो अस्ताचल में लीन होता हुआ मन्दकान्ति चन्द्र ऐसे प्रतीत होता है मानो विरहिणियों ने उसे शापग्रस्त कर दिया हो। दूसरी ओर पूर्वदिशा में फैलता हुआ सूर्य का प्रकाश कुपित चकोरियों के लालनेत्रों के समान प्रतीत होता है।" प्रभात के समय बन्द कुमुदिनियों को देखकर कवि की कल्पना है "रात भर चन्द्रमा को निहारते रहने से कुमुदिनी सो नहीं पाई थी अतः थकी पड़ी है। अब प्रातःकालीन शीतल समीर के झोंकों ने उसे सुला दिया है।"

महाकाव्य

साहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में महाकाव्य की परिभाषा दी गई है परन्तु इसके अङ्गों

---

१. निभृतमपवरकान्तरे स्वपिमि, मौदकैः पृष्टभूयिष्ठं तिष्ठति मे उदरम् कर्णसुन्दरी अंक २, पृ० १९

२. अहं तव शशिलेखाया इव मार्गे प्रलोकयामि। त्वं राहुमिव मां परिहरसि वही।

३. कर्णसुन्दरी अंक १ पद्य ४२।

४. कर्णसुन्दरी अंक १ पद्य ४।

५. कर्णसुन्दरी अंक ४ पद्य २। चन्द्रालोकनराग जागरणतः श्रान्तेव कृत्स्नां निशां, प्रालेयानिलसौहृदात्कुमुदिनी निद्रावृतां पूर्णते ।।

उपाङ्गों भेदों उपभेदों का विवरण उतने विस्तार से नहीं मिलता जितने विस्तार से रूपक के अङ्गों उपाङ्गों और भेदों उपभेदों का मिलता है। भामह, दण्डी, रुद्रट, विश्वनाथ आदि आचार्यों के मतों का अनुशीलन करने पर महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार प्रतीत होते हैं।

महाकाव्य को सर्गबन्ध कहा गया है। सभी आचार्यों का मत है कि ये सर्ग न अधिक बड़े होने चाहिएं न अधिक छोटे। सर्गों की संख्या आठ से लेकर तीस तक बताई गई है। भामह के अनुसार महाकाव्य की कथावस्तु का इतिहास प्रसिद्ध होना आवश्यक है। कथावस्तु में दूत, मन्त्र, प्रयाण, युद्धादि का तथा धर्म अर्थ काम मोक्ष का वर्णन होना चाहिए। कथा में सन्धियां भी होनी चाहिएं। नायक महान् होना चाहिए तथा पूरे महाकाव्य में उसकी व्यापकता दृष्टिगोचर होनी चाहिए। नायक की प्रतिनायक पर विजय दिखानी अभीष्ट होती है। नायक की मृत्यु का उल्लेख महाकाव्य में नहीं होता। लगभग ऐसे ही लक्षण अन्य आचार्यों ने दिए हैं। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में महाकाव्य के एक से अधिक नायकों की सत्ता भी स्वीकार की है। उसके अनुसार नायक देवता या उच्चकुल का धीरोदात्त क्षत्रिय हो सकता है या एक वंश में उत्पन्न अनेक राजा हो सकते हैं। रुद्रट परम्परागत परिभाषा से थोड़ा हटकर यह मत प्रस्तुत करते हैं कि महाकाव्य की कथावस्तु का ऐतिहासिक होना आवश्यक नहीं। नायक भी ऐतिहासिक या कल्पित हो सकता है। सभी आचार्यों ने महाकाव्य में रस को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्वीकार किया है। शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अङ्गी या प्रधान होना चाहिए तथा अन्य रसों का समावेश अङ्ग रूप में होना चाहिए। रसाभिव्यक्ति का माध्यम प्रायः वर्णन होते हैं। भामह के अनुसार आख्यान और वर्णन इन दोनों में से आख्यान का अतिविस्तार नहीं करना चाहिए। इस प्रकार कथा की गत्यात्मकता की अपेक्षा वर्णनों को अधिक महत्त्व दिया गया है। दण्डी के अनुसार महाकाव्य में नगर, सागर, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वनविहार, जलक्रीडा, पान, रतिविलास, वियोग, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, मन्त्र, दूतप्रयाण, युद्ध तथा नायक के अभ्युदय का वर्णन होना चाहिए। रुद्रट ने आख्यान तथा वर्णनों का समुचित समन्वय करते हुए महाकाव्य की रूपरेखा प्रस्तुत कर दी है। भामह के अनुसार महाकाव्य में अग्राम्य शब्दों तथा अर्थों का प्रयोग करना चाहिए तथा भाषा अलंकारमयी होनी चाहिए। छन्दों के विषय में आचार्यों का मत है कि सर्ग के अन्तिम पद्यों को छोड़कर एक सर्ग में एक

भामहकाव्यालङ्कार १. १८-२३

दण्डी काव्यादर्श १. १४-२२

रुद्रट काव्यालंकार १६.५.१८

विश्वनाथ साहित्यदर्पण ६. ३१५-३६७

छन्द का प्रयोग करना चाहिए। विश्वनाथ का कथन है कि अपवाद स्वरूप कुछ सर्गों में विविध छन्दों का प्रयोग भी किया जा सकता है।

कश्मीर के कवियों द्वारा रचित संस्कृत महाकाव्य शास्त्रीय परम्परा का पालन करते दिखाई पड़ते हैं। इनके नायक देव पुरुष या प्रसिद्ध ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष हैं। हरविजय तथा श्रीकण्ठचरित के नायक शिव हैं, रामचरित तथा रामायण मञ्जरी के नायक राम हैं, युधिष्ठिरविजय के नायक युधिष्ठिर हैं। रावणार्जुनीय के नायक पौराणिक पुरुष कार्तवीर्य अर्जुन हैं। कप्फिनाम्युदय का नायक लीलावती का राजा कप्फिन है। विक्रमांकदेव चरित तथा पृथ्वीराज विजय के नायक क्रमशः चालुक्यवंशी विक्रमादित्य तथा चाहमानवंशी पृथ्वीराज हैं। कथाकौतुक का नायक फारसी साहित्य का प्रसिद्ध पात्र यूसफ है। राजतरङ्गिणियों का नायक एक न होकर विभिन्न वंशों के कई राजा हैं।

चूंकि कश्मीर के महाकाव्य भट्टि, माघ, भारवि आदि प्रसिद्ध संस्कृत महाकवियों के बाद की रचनाएं हैं अतः आधुनिक साहित्यलोचकों ने इनकी उपेक्षा-सी ही की है। इन्हें प्रायः आडम्बरपूर्ण शैली में रचित रसविहीन कृतियां समझा गया है जिन का प्रमुख उद्देश्य पाण्डित्य प्रदर्शन रहा होगा। परन्तु जैसा कि आगामिपृष्ठों में आलोचित सामग्री से स्पष्ट होगा, यह धारणा समीचीन नहीं है। कश्मीर के कवियों ने रस को पर्याप्त महत्त्व दिया है। किसी भी युग की रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए हमें उस युग के मानदण्डों का प्रयोग करना चाहिए। भारत के साहित्य शास्त्र में महाकाव्य की श्रेष्ठता का आधार रसाभिव्यक्ति तथा रसाभिव्यक्ति के साधन मनोरम वर्णनों का संयोजन माने जाते रहे हैं। कश्मीर के कवियों के महाकाव्यों में रस तथा मनोहारि वर्णनों की उपेक्षा नहीं हुई। श्री कण्ठ चरित महाकाव्य के रचयिता मङ्ख का कथन है कि सैंकड़ों अलङ्कारों से भूषित साडम्बर शब्द रचना से युक्त होने पर भी कोई काव्य रसरहित होने पर महाकाव्य पद को प्राप्त नहीं कर सकता। तीखेपन और मिठास से युक्त पानकरस की तरह व्युत्पत्ति और रस दोनों से युक्त महाकाव्य ही उत्तम होता है।[१] शिवस्वामी, मङ्ख, बिल्हण, जयानक, भट्टभीम के महाकाव्यों में आलङ्कारिकता तथा काव्यात्मकता इन दोनों का सम्यक् निर्वाह हुआ है। भट्टिकाव्य की शैली पर व्याकरण के नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से रचित महाकाव्य रावणार्जुनीय की शैली भी भट्टिकाव्य जैसी दुरूह नहीं कि वह केवल वैयाकरणों के लिए दीपतुल्य हो। मङ्ख, रत्नाकर और जयानक ने श्लेषादि शब्दालङ्कारों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है पर उनकी रचनाओं में सरस वर्णनों की भी कमी नहीं है।

---

१. श्रीकण्ठचरित सर्ग २. पद्य ३२, ३८.

कप्फिनाभ्युदय[1]

कश्मीर के महाराजा अवन्तिवर्मा के राज्य में जिन चार महाकवियों ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की थी उनमें शिवस्वामी भी एक थे। शिवस्वामी ने सात महा-काव्य, बहुत-सी स्तुति कथायें, नाटक-नाटिका प्रकरण आदि लिखे थे परन्तु उन सब कृतियों में से यह एक ही महाकाव्य कप्फिनाभ्युदय अभी तक उपलब्ध हुआ है। कवि स्वयं शैव होते हुए भी बौद्ध धर्म से प्रभावित था। बौद्ध आचार्य चन्द्रमित्र की प्रेरणा से ही उसने यह महाकाव्य रचा जिसमें एक ओर तो बुद्ध की महत्ता का प्रतिपादन किया है तथा दूसरी ओर भिक्षु बनने की अपेक्षा गृहस्थ धर्म को श्रेयस्कर स्वीकारा है। महात्मा बुद्ध के एक प्रमुख शिष्य महाराजा कप्फिन की कथा को अवदानशतक से लेकर अपनी कल्पना शक्ति से उसे एक महाकाव्य का रूप दे दिया है।

विन्ध्यप्रदेश में नर्मदा के तट पर बसी नगरी लीलावती का राजा कप्फिन अति सुन्दर गुणवान् नीतिज्ञ तथा वीर था। आस-पास के राजाओं की गतिविधियों की जानकारी के लिए उसने अनेक गुप्तचर नियुक्त किए हुए थे। एक गुप्तचर से यह जानकर कि कोशल का राजा प्रसेनजित् कप्फिन के प्रति शत्रुभाव रखता है, कप्फिन तथा सभी सभासद् क्रुद्ध हो उठे। सुबाहु ने सभी को युद्ध के लिए उत्तेजित किया परन्तु भीष्मक के सुझावानुसार यही निश्चित हुआ कि युद्ध करने से पूर्व प्रसेनजित् के पास एक राजदूत भेजना चाहिए। पंचम सर्ग तक की कथा यहीं तक है। छटे सर्ग में अपने एक विद्याधर मित्र विचित्र बाहु से मलय पर्वत की यात्रा का निमन्त्रण पाकर कप्फिन अपनी सेनाओं सहित वहां जाता है। राजा के सम्मान के लिए छः ऋतुएं एक साथ ही उपस्थित होती हैं, हिमाच्छादित पर्वत शिखर, नदियां, वन, समीर, छः ऋतुएं, पुष्प, वनस्पतियां, पशु पक्षी सभी का विस्तृत वर्णन छटे से पन्द्रहवें सर्ग तक किया गया है। सोलहवें सर्ग में कोसल की राजधानी श्रावस्ती का वर्णन है। विहारों और चैत्यों से परिपूर्ण इस नगर में कलि का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता। कप्फिन का दूत दर्शक श्रावस्ती में पहुंच कर अपने स्वामी का सन्देश प्रसेनजित् तक पहुंचाता है कि वह उसकी अधीनता स्वीकार करे अन्यथा युद्ध की तैयारी कर ले। प्रसेनजित् अधीनता स्वीकार नहीं करता। दूत के वापस लौट आने पर कप्फिन की सेना युद्ध के लिए तैयार होती है। अठारहवें सर्ग में दोनों सेनाओं के भीषण युद्ध का वर्णन है। जब प्रसेनजित् की सेनाएं हारने लगती हैं तो वह बुद्ध की स्तुति करने लगता है कि वही आकर उसकी रक्षा करें। भगवान् बुद्ध अपनी दिव्य शक्ति से कप्फिन का हृदय परिवर्तन कर देते हैं। उन्नीसवें तथा बीसवें सर्गों में भगवान् बुद्ध का उपदेश

१. पं० गौरीशंकर सम्पादित, लाहौर, १९३७

है। कप्फिन बौद्ध भिक्षु वनना चाहता है परन्तु भगवान् बुद्ध उसे सलाह देते हैं कि पहले उसे गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपना राजधर्म निभाना चाहिए। बाद में उचित अवस्था में भिक्षुवृत्ति स्वीकार करनी चाहिए। वह कहते हैं—
जिनकी धर्म में श्रद्धा है, सत्य में बुद्धि है, जो दान देने में वीरता दिखाते हैं, दया करने में उत्सुक रहते हैं, जिन्हें क्षान्ति में क्षोभ और पुण्य करने में रुचि होती है वे लोग गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी मुक्त हो जाते हैं।[1] बुद्ध के मुख से यह पंक्तियां कहलवा कर कवि ने बौद्ध धर्म तथा हिन्दु धर्म का समन्वय उपस्थित कर दिया है।

शिवस्वामी की वर्णन शैली अलंकारों से युक्त है। सूर्योदय का तथा सूर्यास्त का वर्णन देखिए—

शोकं कोका कुमुदमलयः सान्द्रवाता दिगन्तान्
दीपावर्तीरभिमतभुजाभ्यन्तरं चाभिसर्पः।
ज्योत्स्नाः काष्ठा निषदनमिना बर्हिणो वासयष्टी
व्योमापान्तास्तिमिरपटलीस्तुल्यमेव त्यजन्ति ॥ १५. २१

वीरता की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—

स जीवति रूषा यस्य द्विषन्दग्धो न जीवति
पलायते यस्तद्भीतो लक्ष्मीस्तस्मात् पलायते ॥ १८. ३२

इस संसार में उसी का जीना जीना है जिसके क्रोध से जला हुआ शत्रु जी नहीं सकता। जो शत्रु से डरकर भागता है उस (कायर) से लक्ष्मी परे भागती है।

शिवस्वामी के महाकाव्य के स्थलों पर माघ के शिशुपालवध तथा रत्नाकर के हरविजय का प्रभाव दिखाई देता है। परन्तु यह प्रभाव भावानुकरण तक सीमित है। अपने पूर्व कवियों से भावसंकेत लेकर कवि ने उन्हें अपनी शैली में प्रस्तुत करते हुए उन्हें नवीन रूप दे दिया है। लक्ष्मी की चंचलता का सम्बन्ध समुद्र की चंचल लहरों से जोड़ने का भाव हरविजय तथा कप्फिनाभ्युदय दोनों महाकाव्यों में मिलता है। हरविजय में कहा है—

विभर्ति पारिप्लवतामुदन्वतः
तदूर्मिसंसर्गकृतामिवोत्थिता।
अवैमि लक्ष्मीर्नयवर्त्मनागता
स्थिरं निबध्नाति नृपे पदं पुनः ॥ १२. ३३

---

१. धर्मे श्रद्धा सम्मतिः सत्यसारे
दाने वीर्यं सम्प्रधानं दयायां
क्षान्तौ क्षोभः प्रेम पुण्ये च येषां
नूनं मुक्तास्ते गृहस्थाश्रमेऽपि। सर्ग २०, पद्य ३२

समुद्र से उत्पन्न हुई लक्ष्मी मानों उसकी लहरों के सम्पर्क के कारण उत्पन्न हुई चंचलता को धारण करती है। मैं जानता हूं कि नीति के मार्ग पर आयी लक्ष्मी राजा के पास स्थायी निवास बना लेती है।

शिवस्वामी ने इसी भाव को अधिक रोचक शैली में प्रस्तुत किया है—

गुरुतरगिरिमन्थक्षोभितक्षोभ्यसिन्धु—
व्यतिकररसभोग्या वासनावासितेव।
समभिमतविमर्दा रौद्रकर्मप्रियेषु
प्रसरति रममाणा तादृशेष्वेव लक्ष्मी ॥ ४. ३१

विशाल पर्वत द्वारा मन्थन क्रिया के समय क्षुब्ध समुद्र की लहरों से सम्पर्क होने के कारण लक्ष्मी को उथल-पुथल की क्रिया से ही लगाव हो गया है। इसी लिए वह रौद्रकर्म में रुचि रखने वाले लोगों में रमण करती रहती है।

श्लथजलवेणयः पतति वारिणि तिग्मकरे
वपुरवनम्रपद्मवदनाः शतपत्रभुवः।
वियुतरथाङ्गनामपृथुपक्षतिनिधूतिभिः
करतलपीडनाभिरिव जघ्नुरथ व्यथिताः ॥ ११,२५

सूर्य के पश्चिम समुद्र में अस्त हो जाने पर, वियुक्त हुए चकवे चकवियों ने पंख फड़फड़ाने शुरू कर दिये हैं। कवि कल्पना करता है कि सूर्य के जाने के शोक में कमलपरिपूर्ण झीलें अपनी ऊर्मि रूपी अलकों को खोल कर कमल रूपी मुखों को नीचा करके चक्रवाक चक्रवाकियों के पंखों की फड़फड़ाहट से मानों अपने हाथों से शरीर पीट रही हैं।

वसन्त के आने पर राह चलते पथिकों के मन डोल जाते हैं जैसे चन्द्र के उदय होने समुद्र का जल मछलियों से क्षुब्ध हो उठता है—

समुदिते सुरभौ पथिकाः पथि
स्थिरधृतिक्षति चुक्षुभिरे क्षणात्
शशभृतीव समीयुषि सिन्धवो
वितिमिरे तिमिरे चितवीचयः ॥ ८,६

यहां अनुप्रास तथा यमक के प्रयोग से भाव बोझिल नहीं हुए हैं।

कमलों की झील पर भंवरे मंडराते रहते थे। शीत ऋतु के आने पर जब झील का पानी जम गया तो भंवरों ने उस परिचित झील को भी छोड़ दिया। मलिनात्माओं का प्रेम ऐसा ही क्षणभंगुर होता है—

मधुलिहः प्रविलोक्य हिमाहतां
परिचितामपि पङ्कजिनीं जहुः।
क्व सुचिरं क्रियते मलिनात्मभि-
र्ध्रुवतरा बत रागमयी गतिः ॥ ८,५२

स्वतन्त्रता के खो जाने पर धनसम्पत्ति की कोई महत्ता नहीं रहती इस भाव को कितनी सुन्दर शैली में प्रकट किया है—

विडम्बनैव पुंसि श्रीः परप्रणतिपांसुले

कान्तिं कामपि कुर्वीत कूणेः कटककल्पना ।। १६.५०

शत्रु के आगे झुकने से मलिन हुए मनुष्य की लक्ष्मी भी व्यर्थ है। कङ्कण कटी भुजा वाले की क्या शोभा बढ़ाते हैं ?

कप्फिनाभ्युदय में अनेक स्थलों पर राजनीतिविषयक चर्चा प्रभावोत्पादक ढंग से की गई है। सुबाहु की धारणा है कि शत्रु पर तत्काल आक्रमण कर देना समुचित होता है। वह अधिक विचार विमर्श करने तथा ढील करने के पक्ष में नहीं। राज्यलक्ष्मी साहसमात्र से प्रेम करती है दीर्घसूत्री के पास नहीं जाती। वह कहता है—

नृप तदलमचिन्त्यैर्नीतिचिन्तान्तरायैः

सफलयतु भुजस्ते भूभृतां वाञ्छितानि।

असहनसहवृद्धा साहसैकान्तकान्ता

व्रजति नहि नृपश्रीः दीर्घतां दीर्घसूत्रे ।। ४.२३

उसकी दृष्टि में राजनीति तो भीरु लोगों की माता है। साहसी विजिगीषु की कोई सफलता नीति पर निर्भर नहीं होती।

इयमिह ननु नीति र्भीरुलोकस्य माता

प्रभवति विजिगीषोर्वस्तुनः कस्य सिद्धयै।

वहति नयविभूतेः शक्तिरग्रेसरत्वं

सममिदमुदपादि क्षात्रमुग्रं च तेजः ।। ४.२६

परन्तु एक अन्य सभासद भीष्मक के विचार सुबाहु तथा उसके समर्थक नल, 'सुशर्मा', पवन, शतध्वज आदि से नितान्त भिन्न हैं। वह नीति को विजय का प्रमुख साधन स्वीकारते हुए कहता है—

विजयस्य परं पदं नयस्तमथो मन्त्रपरिष्कृतं जगुः। ५.२४

उसके अनुसार पराक्रम तभी सफल होता है जब वह नीति पर आधारित हो।

न विभाति निरुद्यमो नयो न नयातिक्रमकृत्यपराक्रमः।

परमेति हि सिद्धिरिद्धतां नयगर्भव्यवसायसाधिता ।। ५.२७

नीति उद्यम के बिना शोभा नहीं देती तथा पराक्रम नीति का अतिक्रमण करके सफल नहीं होता। नीतिगर्भित उद्योग ही परमसिद्धि को प्राप्त करता है।

माघ तथा शिवस्वामी दोनों ने पहाड़ से गिरते हुए पानी के झरने की तुलना हाथी की सूंड से की है। (शिशुपा० ४.४६ किप्फि० ६.५५) परन्तु जहां माघ हाथी की सूंड की बात करके ही सन्तोष कर लेते हैं वहां शिवस्वामी पर्वत को हाथी का रूप देकर सिन्दूर के फूलों से पीले हुए पर्वत शिखर को हाथी का सिन्दुरचर्चित

मस्तक भी मानते हैं।

शिवस्वामी की भाषा रसानुकूल है। छठे सर्ग से पन्द्रहवें सर्ग तक के प्रकृति-वर्णनों में वैदर्भी शैली तथा प्रसादगुण का प्रयोग किया गया है परन्तु अठारहवें सर्ग में गौडी रीति तथा ओजगुण का प्रयोग है। बीसवें सर्ग में माधुर्य तथा प्रसाद गुण हैं। विभिन्न छन्दों के प्रयोग में भी कवि ने कुशलता दिखाई है। अनुष्टुप् का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है परन्तु अन्य ३७ छन्दों को भी प्रयुक्त किया गया है जिनमें प्रमुख हैं—द्रुतविलम्बित (६१), वंशस्थ (५५), वसन्ततिलका (६५) वियोगिनी (५०), उपजाति (४३), प्रहर्षिणी (४३) हारिणी (४०), मन्दाक्रान्ता (३४) आदि।

कप्फिनाभ्युदय अपनी असामान्य कथावस्तु के कारण तथा हिन्दुधर्म के कर्त्तव्य धर्म और बौद्धों के संसार बन्धन से मुक्ति के सिद्धान्तों का समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करने के कारण संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि है।[1]

भट्टभूम का रावणार्जुनीय

कश्मीरप्रान्तान्तर्गत बारामूला के निकट उडू ग्राम के निवासी भट्टभूम द्वारा रचित रावणार्जुनीय २७ सर्गों का महाकाव्य[2] है जो भट्टि के महाकाव्य रावणवध की शैली पर रचा गया है। काव्यप्रकारों की चर्चा करते हुए क्षेमेन्द्र ने इसे शास्त्रकाव्य कहा है।[3] यदि काशिका में प्राप्त कुछ उद्धरण इसी काव्य से लिए गये माने जाएं तो इसका समय सप्तम शताब्दी का पश्चार्ध माना जा सकता है। इस काव्य का प्रमुख उद्देश्य तो अष्टाध्यायी के सूत्रों के उदाहरण प्रस्तुत करना प्रतीत हो रहा है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में अष्टाध्यायी के उस पाद का नाम भी दिया गया है जिसके सूत्रों के उदाहरण उस सर्ग में उपलब्ध होते हैं। वैदिक प्रक्रिया को छोड़ दिया गया है।

महाकाव्य की कथा का आधार पौराणिक है। कृतवीर्य के पुत्र अर्जुन का रावण के साथ युद्ध हुआ था जिसमें कार्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन को विजय प्राप्त हुई थी। महाकाव्य के लक्षण के अनुसार इसमें सूर्योदय, सन्ध्या रात्रि, नदी, पर्वत, ऋतुओं आदि का वर्णन मिलता है। कार्तवीर्य द्वारा नर्मदा का पानी रोक लिये जाने पर रावण क्रुद्ध हो उठता है और दूत भेजकर कार्तवीर्य को युद्ध के लिए आमन्त्रित करता है। दूत तथा कार्तवीर्य का संलाप प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत

---

१. सम्पादक श्री गौरीशंकर, लाहौर, एक विस्तृत लेख (इण्डियन लिंग्विस्टिकस् १९३३) में श्री गौरीशंकर द्वारा इस ग्रन्थ का विवरण दिया गया है।

२. सम्पादक, शिवदत्त तथा काशीनाथ निर्णयसागर प्रैस बम्बई १९००

३. सुवृत्ततिलक, पद्य ४,

किया गया है। युद्ध की तैयारियां होने लगती हैं। मन्दोदरी अपने पति रावण को युद्ध न करने की सलाह देती है। उत्तर में रावण की गर्वोक्ति है कि वह शीघ्र ही कार्तवीर्य को समाप्त करके राक्षसवर्ग को प्रसन्न करेगा। युद्ध का वर्णन सोलहवें सर्ग से प्रारम्भ होता है। रावण स्वयं युद्धक्षेत्र में जा पहुंचता है जहां उसका रथ टूट जाता है। कार्तवीर्य भी रथ से उतर कर युद्धवीर के नियमों का पालन करता है। अन्त में रावण बन्दी बना लिया जाता है परन्तु जब पुलस्ति ऋषि अपने शिष्यवर्ग सहित कार्तवीर्य से अनुरोध करते हैं तो रावण को छोड़ दिया जाता है। शास्त्रीय काव्य होने पर भी रावणार्जुनीय में काव्यात्मकता का अभाव नहीं है। व्याकरण के प्रसङ्गानुसार कहीं कहीं क्लिष्ट पदों का प्रयोग है परन्तु कवि का प्रयास पाण्डित्य प्रदर्शन में नहीं, सरल सरस ढंग से भावाभिव्यक्ति में है। प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में ही कवि राजा कार्तवीर्य की उपमा सिंह से करता है जिसे युद्ध क्षेत्र में देखकर शत्रु हाथियों की तरह भाग जाते हैं।[१] रत्न राजा का आभूषण बने हैं तथा राजा रत्नों का आभूषण बना है। दोनों परस्पर व्यवहार से शोभा की वृद्धि कर रहे हैं।[२] कालिदास की तरह भूम कवि को भी अर्थान्तरन्यास, उपमा, उत्प्रेक्षादि अलङ्कार प्रिय हैं। सूर्योदय होते ही अन्य तारकादि ग्रहों का तेज छिप जाता है। तेजस्वी भला दूसरों का तेज कहां सह पाते हैं ?[३] सायंकाल में सूर्य अस्त हो रहा है। कवि कल्पना करता है कि कार्तवीर्य और रावण की सेनाओं का महायुद्ध देखकर खिन्न हुआ सूर्य अस्तगिरि के कानन में विश्राम करने को चला गया है।[४] उपकारकर्ता सूर्य के अस्त होने पर जनता दुःखित है। उपकारियों का पतन किसे पीड़ा नहीं देता ?[५] तेज धारण करते हुए रावण को तीव्रगति फुर्तीले अर्जुन ने ऐसे ही बन्दी बना लिया जैसे राहु सूर्य को ग्रस लेता है।[६] अपने पौत्र रावण की दुर्बुद्धि पर खेद प्रकट करते हुए ऋषि पुलस्ति राज्य पर एक छकड़े का आरोप करते हैं। साम, दान, दण्ड, भेद आदि चार उपाय उसके बैल हैं। विवेकशील सारथि उन्हें ठीक प्रकार से चला पाता है, मूर्ख नहीं।[७] यह साङ्ग रूपक इस तथ्य को प्रकट करता है कि साम, दान, दण्ड, भेद इन उपायों को जानते हुए भी अपनी अविवेकशीलता के कारण रावण राज्य की गाड़ी नहीं चला सका और अर्जुन से पराजित हुआ। कार्तवीर्य तथा उसके अधीन

१. रावणार्जुनीय सर्ग १ पद्य १
२. वही सर्ग २ पद्य ६
३. वही सर्ग १८ पद्य ६
४. वही सर्ग १६ पद्य ७५
५. वही सर्ग १७ पद्य १०
६. वही सर्ग २२ पद्य २६
७. वही सर्ग १ पद्य १६

राजाओं के व्यवहार को एक अर्थान्तरन्यास से इस प्रकार प्रकट किया है 'जिसके वशवर्ती होकर और जिस स्वामी की विनम्रतापूर्वक सेवा कर के राजा लोग संसार में स्वयं भी लोगों से सेवित होते हैं। गुणी व्यक्ति के साथ सम्पर्क भी महत्त्व का कारण होता है।'

व्याकरण और काव्यत्व दोनों को समान महत्त्व देने वाले इस महाकाव्य की गणना संस्कृत साहित्य के बहुमूल्यरत्नों में होनी चाहिए। कारकप्रकरण में अपादान कारक से सम्बद्ध चार सूत्रों—पराजेरसोढ़ः, वारणार्थानामीप्सितः, अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति, जनिकर्तुः प्रकृतिः के उदाहरण एक ही पद्य में देते हुए कवि ने सेना प्रस्थान को बड़ी स्वाभाविक शैली में चित्रित किया है—

> रास्ते में कोई अपने को धूलि के बवंडर से बचा रहा था कोई दूसरा घुड़सवार अपने को हाथी से छिपा रहा था हाथी के कपोलफलक से मद उत्पन्न हुआ और कान हिलाते हुए उसने उस मदजल से भंवरों को परे हटा दिया।
>
> लट् लकार के प्रयोग को दिखाते हुए नर्मदा का वर्णन अत्यन्त सरल शैली में किया गया है कमल समूहों को धारण करती हुई इस चमकती हुई नदी को देखो। बड़ी मछलियों के समूह इसमें विचर रहे हैं तथा छोटी छोटी शफरियों को खा रहे हैं। इसके तट पर फलभोजी ब्रह्मचारी यह दृश्य देख रहे हैं।

भट्टिकाव्य के साथ रावणार्जुनीय की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि भट्टभूम की शैली भट्टि की अपेक्षा सरल है तथा माधुर्यगुणयुक्त है।

हरविजय

राजानकरत्नाकररचित हरविजय महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यों में विशालतम महाकाव्य है जिसमें पचास सर्ग तथा ४३२१ पद्य हैं। इस विशालकाय महाकाव्य की कथा संक्षिप्त सी है जो स्कन्दपुराण से ली गई है। क्रीडा करते हुए पार्वती ने शिव के तीनों नेत्रों को अपने हाथों से बन्द कर दिया तो चारों ओर अन्धकार फैल गया। वही अन्धकार अन्धा अन्धकासुर बन गया। घोर तप करके उसने ब्रह्मा से दृष्टि का वरदान पाया तथा उद्दण्ड होकर सारे संसार को पीडित करने लगा। शिव ने उसे मारकर सबकी रक्षा की। इस संक्षिप्त सी कथा को रत्नाकर ने अपनी प्रतिभा से विशाल रूप दिया है। नगर वर्णन, ऋतु वर्णन, पर्वतवर्णन सन्ध्यावर्णन, चन्द्रोदय, जलक्रीडा, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, पानगोष्ठी, सम्भोग, विरह, राजनीति, दर्शन इन सबका समावेश महाकाव्य में किया गया है। महाकाव्य के अन्त में काव्यप्रशस्ति है जिस में कवि ने कहा है कि मेरी ललित, मधुर, अलङ्कार युक्त, प्रसादमनोरम, विकट यमक तथा श्लेष से युक्त उक्तियों से भरी, चित्रमार्ग

की अद्वितीय वाणी को सुनकर राजा के ही नहीं, बृहस्पति के मन में भी शंका उत्पन्न हो जाती है।[1] कवि की यह भी प्रतिज्ञा है कि मेरे काव्य को पढ़कर अकवि कवि हो सकता है तथा कवि महाकवि बन सकता है।[2]

राजानक अलक ने इस महाकाव्य पर विषमपदोद्योता तथा रत्नकण्ठ ने लघुपंञ्जिका टीका लिखी है। रत्नाकर अपने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका में अपने को बाल बृहस्पति का आश्रित कवि बताते हैं। कल्हण ने राजतरंगिणी में ललितादित्य मुक्तापीड के पुत्र चिप्पट जयापीड की उपाधि बालबृहस्पति बताई है। एक अन्य पद्य में कल्हण ने कहा है कि अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में मुक्ताकण, शिवस्वामी, आनन्दवर्धन तथा रत्नाकर ने प्रसिद्धि प्राप्त की थी। प्रतीत होता है कि कवि रत्नाकर का कविजीवन जयापीड के समय में प्रारम्भ हुआ। उन्होंने हरविजय की रचना भी जयापीड के राज्यकाल में की परन्तु उनकी प्रसिद्धि वृद्धावस्था में अवन्तिवर्मा के राज्यकाल में चरमसीमा तक पहुंची थी। उनकी अन्य दो रचनाएं वक्रोक्तिपंचाशिका तथा ध्वनिगाथापञ्जिका हैं। रत्नाकर की कीर्ति प्रमुख रूप से उनके महाकाव्य हरविजय पर आधारित है। पहले पांच सर्गों में नगरवर्णन, ताण्डववर्णन, ऋतुवर्णन तथा पर्वतवर्णन मिलता है। छठे सर्ग में लगभग २०० पद्यों में शिव की स्तुति की गई है। सातवें से सोलहवें सर्ग तक शिव और उनके सचिव अन्धकासुर के नाश के लिए विचार विमर्श करते हैं। आगे के १३ सर्गों में शिवगणों के वनविहार, पुष्पावचय, जलक्रीडा, पान गोष्ठियों आदि का, सन्ध्या, चन्द्रोदय, समुद्रोल्लास, प्रभात आदि का वर्णन है। तीसवें तथा इकतीसवें सर्गों में शिवदूत को अन्धकासुर के पास भेजा जाता है। बत्तीसवें सर्ग से अड़तीसवें सर्ग तक दूत तथा अन्धकासुर की बातचीत वर्णित है जिसमें राजनीति की चर्चा हुई है। अगले चार सर्गों में युद्ध की तैयारी का तथा अन्तिम आठ सर्गों में दोनों सेनाओं के युद्ध का तथा अन्धकासुर की मृत्यु का वर्णन है। सैंतालीसवें सर्ग में चण्डिकास्तुति है जो कवि का शाक्तागम के साथ परिचय सिद्ध करती है। शिवस्तुति तथा चण्डिका स्तुति से रत्नाकर की अध्यात्मशास्त्र में गहरी निष्ठा प्रतीत होती है। व्याकरण, दर्शन, राजनीति इन सभी शास्त्रों में रत्नाकर का पाण्डित्य प्रकट होता है। साम, दान, भेद की अवहेलना करके दण्डनीति का समर्थन

---

१. ललितमधुरा सालंकारा प्रसादमनोरमा
   विकटयमकश्लेषोद्गारप्रबन्धनिरर्गलाः।
   असदृशमितीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
   न खलु नृपतेश्चेतो वाचस्पतेरपि शङ्कते ।।

२. हरविजयमहाकवेः प्रतिज्ञां शृणुत कृतप्रणया मम प्रबन्धे।
   अपि शिशुरकविः कविः प्रभावाद् भवति कविश्च महाकविः क्रमेण ।।

करने वाले चण्डेश्वर की उक्ति है—

ब्रह्मा सामगान करते रहें, तुम्हारे जनसमूहों के मुखिया भेद को प्राप्त करें, हाथियों की पंक्तियां दान बरसाती रहें, मैंने तो युद्धभूमि में दैत्यों को दण्ड देना ही स्वीकार किया है।[1]

दूसरी और प्रभामय शीघ्रता में युद्ध का निर्णय लेने के पक्ष में नहीं है। 'देख-भाल कर कार्य करने वालों के लिए कुछ असम्भव नहीं होता'।[2]

न्यायशास्त्र की शब्दावली का प्रयोग करते हुए शिवदूत अन्धकासुर को कहता है—'सत्पक्ष का आश्रय लेते हुए तथा हेतु में यत्न करते हुए आपने परपक्ष को निरस्त कर दिया है।'[3]

अन्धकासुर की सभा की तुलना नाटकाभिनय से की गई है जिसमें शुभ प्रस्तावना, प्रख्यात उदात्तचरित नायक होता है तथा नाना अर्थप्रकृतियों का प्रयोग होता है।[4]

रत्नाकर की उपमायें कहीं कहीं अतीव सुन्दर बन पाई हैं। कांस्यताल की उपमा का प्रयोग उनकी मौलिक सूझ है जिसके आधार पर उन्हें तालरत्नाकर की उपाधि दी गई है। पद्य में सन्ध्या का वर्णन है—'सूर्यबिम्ब अस्ताचल पर विद्यमान है और चन्द्रबिम्व उदयाचल के शिखर पर उदित हो चुका है। प्रतीत होता है कि सन्ध्याकाल में नृत्य करते हुए शंकर के दोनों हाथों में कांसे के ताल हैं। इनसे आकाश की शोभा निराली हो गई है'।

दैत्यों और देवताओं का विरोध मैत्री में परिणत होना चाहिए इस धारणा को प्रस्तुत करते हुए शिवदूत अन्धक को कहता है 'जैसे समुद्र को मन्दराचल से मथने पर पहले विष निकला था और बाद में अमृत उसी प्रकार दैत्यों देवों का

---

१. ब्रह्माप्युदीरतु साम सभीकदर्पाद्
भेदं जनव्रजमुखानि च यान्त्वलं वः।
दानं मतङ्गजघटा वितरन्त्वमन्द—
मूरीकृतो युधि मया दितिजेषु दण्डः॥ हरवि० सर्ग १३ पद्य १८

२. प्रेक्षावतां जगति तन्न यदस्त्यसाध्यम्। वही सर्ग ९ पद्य ७५

३. त्वया नैयायिकेनेव सत्पक्षाश्रयशालिना।
हेतौ विदधता यत्नं परपक्षो निराकृतः॥ वही सर्ग ३२ पद्य ७५

४. शुभप्रस्तावनाहृद्यां प्रख्यातोदात्तनायकाम्।
नानार्थप्रकृतिश्लाघ्यां नाटकप्रक्रियामिव॥ वही सर्ग ३२ पद्य १६

विरोध हट जाने पर वैर दूर हो तथा प्रेम बढ़े।"[1]

दूत की बातों को सुनकर अन्धकासुर जब क्रोध से उत्तर देता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रलयकालीन मेघ पर्वतों के रन्ध्रों को गुंजायमान कर रहा हो। दूत की बातें उसकी दृष्टि में किसी बच्चे का सहज निश्चिन्त कथन है जिसे अपने घर में मातायें ही सुनकर प्रसन्न होती हैं।[2] वह दूत को स्पष्ट कहता है—"हे दूत तुम यहां आकर दैत्यराज के पतन की विभीषिका से दैत्यों को डरा रहे हो। पर क्या छोटे छोटे बादलों की जलधारा से समुद्र की आग बुझा करती है?"[3]

अनेक सरस नीतिपरक सूक्तियां भी इस महाकाव्य में उपलब्ध होती हैं, जैसे—सभी सज्जनों के मुकुट बने हुए वे गुणरहित मनुष्य भी नमस्कार योग्य हैं जो दूसरों के गुणों की प्रशंसा करते हैं। जिन गुणवानों का मन दूसरों के गुणों के प्रति ईर्ष्यायुक्त होता है, उन दुष्टों को धिक्कार है।[4]

परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि रत्नाकर ने सरल सरस शैली की अपेक्षा अलंकृत परिष्कृत शैली को प्रमुखता दी है। पाण्डित्य के भार से रस प्रायः दब गया है। अनेक अप्रसिद्ध शब्दों जैसे वासतेयी = रात्रि, निशान्त = घर, आकरवी = कलिका, के प्रयोग से भाषा दुरूह हो गई है। युद्धवर्णन प्रसङ्ग में चित्रालङ्कारों का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। मुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, सर्वतोभद्रबन्ध, पद्मबन्ध आदि अनेक चित्रबन्धों की रचना की गई है। ४८वें सर्ग में द्वयक्षरी पद्यों का प्रयोग देखिए।

---

१. निर्वर्तिते त्रिरोधेऽपि युवयोरधुना मिथः।
अपहस्तिततनिः शेषवैरं प्रेम विवर्धताम्॥
अतिसंघर्षतः सिन्धुमन्दराचलयोः पुरा।
प्राक्कालकूटसंभारः पश्चादमृतमुत्थितम्॥ हरवि० सर्ग ३२ पद्य १०७-१०८

२. यद्बालभावसुलभं शशलक्ष्ममौलि
दूतोऽभ्यधादयमशङ्कितचित्तवृत्तिः।
वक्तुं क्षमं पितृगृहे तदशेषमेव
श्रोतास्ति यत्र रभसेन स मातृवर्गः॥ वही सर्ग ३५ पद्य १३

३. दैत्याधिराजविनिपातविभीषिकाभि—
रभ्येत्य भाययसि दूत दितेः सुतान्यत्।
तद् व्याहृतं लघुघनाघनमुक्ततोय—
धाराभिरेति न यतः शममौर्ववह्निः॥ वही पद्य १५

४. ये निर्गुणाः परगुणेषु दृढानुरागास्तेभ्यो नमः सकलसज्जनशेखरेभ्यः।
येषां पुनर्गुणवतामपि साभ्यसूयं चेतोऽन्यदीयगुणसंपदि धिक् खलांस्तान्॥
वही सर्ग ३८ पद्य २४

तानीतानि ननून्नतानि तनितुं तुतिं नतोतीनि नो। (पद्य १३२)

ससारसूः सारससारसारी ससार सूरिः ससुरासुरेऽसौ। (पद्य १५)

प्रतीत होता है कि रत्नाकर अपने काव्य की विशालता, अलंकृत शैली, वर्णन-शक्ति तथा पाण्डित्य से माघ के शिशुपालवध को मात करना चाहते थे। माघ ने अपने काव्य को लक्ष्मीपति कृष्ण के चरितकीर्तन के कारण सुन्दर कहा है तो रत्नाकर ने अपने काव्य को शिव के चरित पर आधारित होने के कारण सुन्दर बताया है। दोनों महाकाव्यों में ऋतुओं पर्वतों आदि का समान वर्णन है। दोनों में राजनीतिविषयक विवाद, दूतप्रेषण, द्वन्द्वयुद्ध से पूर्व सेनाओं का युद्ध समान हैं। शैली भी समान है।

कादम्बरीकथासार

प्रसिद्ध न्याय ग्रन्थ न्यायमञ्जरी के प्रणेता जयन्तभट्ट के पुत्र अभिनन्द का एक महाकाव्य कादम्बरीकथासार, बाणरचित कादम्बरी का गद्यमय संक्षिप्त रूप है। रामचरित महाकाव्य के रचयिता अभिनन्द इस अभिनन्द से भिन्न हैं या दोनों अभिनन्द अभिन्न है, यह सन्देहास्पद है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक में अभिनन्द के सरस अनुष्टुपों की प्रशंसा की है। अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग कादम्बरीकथासार तथा रामचरित दोनों महाकाव्यों में पर्याप्त हुआ है। सर्गान्त के कुछ पद्यों को छोड़कर कादम्बरीकथासार में तो केवल अनुष्टुप् का ही प्रयोग है। रामचरित-महाकाव्य के ९ सर्ग अनुष्टुप् में हैं। दोनों काव्यों की शैली एक सी सरल है। दोनों ग्रन्थ पूर्व रचित ग्रन्थों का सार हैं। रामचरित में कुछ अधिक प्रौढ़ता दिखाई देती है। दोनों का उल्लेख १००० ईस्वी के तथा बाद के ग्रन्थों में हुआ है। कहीं अभिनन्द नाम से कहीं गौड अभिनन्द नाम से उल्लेख प्राप्त होता है। रामचरित का लेखक अभिनन्द बंगाल के नृप देवपाल का सभाकवि था। कादम्बरीकथासार के लेखक अभिनन्द के पूर्वज भी गौड देश से आकर कश्मीरान्तर्गत दार्वाभिसार प्रदेश में बसे थे। कठिनाई केवल यह है कि रामचरित का कवि अभिनन्द अपने को शतानन्द का पुत्र बतलाता है जबकि कादम्बरीकथासारकर्ता अभिनन्द जयन्त भट्ट का पुत्र है।

कादम्बरीकथासार की तुलना कादम्बरी से करने पर प्रतीत होता है कि अभिनन्द का ध्यान वर्ण्य विषयों के लम्बे वर्णनों की अपेक्षा कथा की गत्यात्मकता की ओर है। जहां बाण विभिन्न अलंकारों के प्रयोग से किसी वस्तु का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करता है वहां अभिनन्द एक आध अलंकार से ही सन्तुष्ट हो जाता है। बाण की सुन्दर रसनोपमा क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन नवपल्लव इव कुसुमेन कुसुम इव मधुकरेण मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम् को अभिनन्द निम्न पद्य—

अथ बाल्यात्परं प्रापमहं नानारसास्पदम् ।
मनोभवविकाराणामेकमायतनं वयः ।। सर्ग ४ पद्य २८

पुण्डरीक की मृत्यु पर कपिञ्जल का विलाप केवल चार अनुष्टुपों में सीमित कर दिया गया है। कादम्बरी की विरहव्यथा का वर्णन भी पत्रलता ने कतिपय पद्यों में ही किया है परन्तु हृदयपक्ष की अनुभूति इन्हीं दो पद्यों से हो जाती है।

उसकी विरह व्यथा को कोई दूसरा कैसे बताए। उसकी अनुभूति का विषय बनी वह व्यथा उसी से भोगी जा रही है।

वह कुछ कहने को ओठ हिलाती भी है तो लगता है उसके हृदय में स्थित कोई गुरु उसे रोक देता है।[२]

श्रीकण्ठचरित

मङ्खरचित श्रीकण्ठचरित पच्चीस सर्गों का शैव महाकाव्य है जो पूर्णरूपेण आलङ्कारिक शैली में रचा गया है। मङ्ख का भाई अलङ्कार कश्मीर के महाराजा जयसिंह का मन्त्री था। जयसिंह का समय ११२७ ई० से ११५० ई० तक था अतः मङ्ख को भी इसी काल का मानना होगा। मङ्ख ने श्रीकण्ठचरित के पच्चीसवें सर्ग में आदर सहित राजशेखर तथा बिल्हण का उल्लेख किया है अतः वह इन दोनों कवियों के बाद हुआ, यह निश्चित है। श्रीकण्ठचरित के पच्चीसवें सर्ग का महत्त्व कश्मीर के सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक है। इस सर्ग में मङ्ख ने अपने भाई अलङ्कार के निवास स्थान पर आयोजित गोष्ठी का सविस्तार वर्णन किया है जिसमें तीस साहित्यकारों तथा विद्वज्जनों ने भाग लिया था। इनमें से दो विद्वान् तेजकण्ठ तथा सुहल क्रमशः कोंकण तथा कन्नौज के राजदूत थे। कल्याण (कल्हण), गर्ग, गोविन्द, जल्हण, पटु, पद्मराज, भुद्दा, योगराज, लोष्ठदेव, वागीश्वर, श्रीकण्ठ, श्रीगर्भ, श्रीवत्स तथा षष्ठ साहित्यकार थे। मङ्ख के गुरु रुय्यक तथा नाग अलङ्कारशास्त्र के विद्वान् थे। जनकराज को व्याकरण तथा वेद का विशेषज्ञ कहा गया है। आनन्द, जिन्दुक, त्रैलोक्य, नन्दन, प्रकट और श्रीगुण दार्शनिक थे, शम्भु का पुत्र उमानन्द वैद्य था, रम्यदेव तथा लक्ष्मीदेव प्रमुख रूप से वेदज्ञ थे जबकि श्रीगर्भ का पुत्र मण्डन सभी शास्त्रों का ज्ञाता था। मङ्ख का काव्य इन सब विद्वानों की सभा में सुनाया गया था। प्रतीत होता है कि उस समय के मन्त्री साहित्य में पर्याप्त रुचि रखते थे। साहित्यिक गोष्ठियों में दूसरे

---

१. कियती वर्ण्यते तस्याः परेण विरहव्यथा ।
स्वसंवेदनगम्या हि सा तयैवानुभूयते ।। सर्ग ६ पद्य २८

२. किमप्याख्यातुकामेव बहुशः स्फुरिताधरा ।
हृदयस्थेन केनापि गुरुणेव निषिध्यते ।। वही २९

प्रदेशों के राजदूत भी सम्मिलित होते थे। बारहवीं शती के कश्मीर के साहित्यिक वातावरण का यह पुष्ट प्रमाण है।

श्रीकण्ठचरित की संक्षिप्त सी कथावस्तु पुराणों में उपलब्ध शिव के त्रिपुरासुर वध के कथानक पर आधारित है। वस्तुतः इस युग के आलङ्कारिककाव्यों में कथा-वस्तु की अपेक्षा रस, अलङ्कार, रीति आदि को अधिक महत्त्व दिया जाता था। मङ्ख ने स्वयं कहा है—अहो कवित्व बड़ा कठिन है! रचना में अर्थ है तो शुद्ध पद नहीं, पदशुद्धि भी है तो रीति नहीं, रीति है तो घटना नहीं, वह भी है तो उक्ति का नया प्रकार नहीं, यह सब भी रस के बिना व्यर्थ है।'[1] रस की महत्ता का प्रति-पादन करते हुए कवि ने कहा है कि सैंकड़ों अलङ्कारों से भूषित साडम्बर शब्द-रचना से युक्त होने पर भी कोई ग्रन्थ रसरहित होने पर महाकाव्य के पद को प्राप्त नहीं कर सकता।[2] व्युत्पत्ति तथा रस दोनों से युक्त काव्य ही बढ़िया पानक होता है।[3] श्रीकण्ठचरित के प्रथम सर्ग में देवस्तुति है, द्वितीय सर्ग में काव्य की विशेषताओं तथा सुजन दुर्जनों का वर्णन है। तृतीय सर्ग में कश्मीर भूमि की शोभा वर्णित है जहां के केसर से तीनों लोकों की वनितायें तिलक धारण करती हैं, जहां वितस्ता की लहरों में तैरते फूलों पर मंडराती भ्रमर पंक्तियां देवाङ्गनाओं की वेणियों सदृश लगती हैं।[4] इसी सर्ग में मङ्ख ने अपने परिवार का वर्णन भी दिया है। चतुर्थ सर्ग में शिव के निवासस्थान कैलाश का मनोहारी वर्णन है। स्फटिक किरणों से घिरा हुआ कैलाश ऐसा प्रतीत होता है मानो गंगा इसकी परिक्रमा कर रही हो।[5] चन्द्र इसके पैरों में लौटता है[6] और यह स्वयं भगवान् के चरणों में गिरने के आनन्द से अश्रु बहाता है।[7] पंचम सर्ग में शिव की चर्चा है तथा उनके नृत्य का उल्लेख है। छठे सर्ग में कामदेव के सहचर वसन्त का काव्यात्मक वर्णन है। सूर्य उत्तरायण हो गया है। कवि की कल्पना है कि किसी चुगलखोर ने सूर्य और दक्षिण दिशा की जोड़ी में फूट डाल दी है।' अशोकलता अपने लाल पुष्पगुच्छों से कामदेव की कांगड़ी (आग तापने की अंगीठी जिसे टोकरी की तरह साथ रखा जाता है) प्रतीत होती है।[8] पलाश के लाल फूलों के विषय में कवि की कल्पना है कि

१. श्रीकण्ठचरित सर्ग २, पद्य ३०
२. वही सर्ग २ पद्य ३२
३. वही सर्ग २ पद्य ३८
४. वही सर्ग ३ पद्य ६, ७
५. वही सर्ग ४ पद्य २२
६. वही सर्ग ४ पद्य ३२
७. वही सर्ग ६ पद्य ९
८. वही सर्ग ६ पद्य १५

वियोगिनियों के क्रोध से लाल हुई काम की दृष्टि ही पलाशवृक्षों पर आ गिरी है।[1] जब लतायें भंवररूपी चामरों को झुलाने लगीं तो कोकिलकण्ठ सभामण्डप में दर्शन देने को उद्यत राजा के समान रागराज पञ्चम स्वर बन गया।[2]

सप्तम सर्ग में शिव पार्वती के वनभ्रमण तथा दोलाक्रीड़ा का वर्णन है। सूर्य के ताप से पार्वती के मुखमण्डल पर स्वेदबिन्दु चमक रहे हैं। मलयपवन बह रहा है, कोकिलें कूज रही हैं। शिव पार्वती से झूला झूलने को कहते हैं ताकि वह अपनी प्यासी आंखों को अमृत पिला सकें। पार्वती धीरे धीरे झूले पर चढ़ती हैं। झूला झूलते हुए उनकी शोभा ऐसी है जैसे निर्मल आकाश में विद्युत् चमक रही हो। पार्वती के चेहरे पर थकान की श्रमबिन्दुओं को वेग से चलता हुआ वायु हर रहा है और बदले में विकसित स्वर्ण कमलों की सुगन्धि से युक्त आकाशगंगा के जल-बिन्दुओं को बरसा रहा है।

अष्टम सर्ग में पुष्पावचयक्रीड़ा, नवम सर्ग में जलक्रीड़ा तथा दशम सर्ग में सन्ध्या का वर्णन है। सन्ध्या समय की लालिमा अभी हटी नहीं है और चन्द्र भी उदित हो गया है। कवि कल्पना करता है कि कामदेव ने पथिकों की विरहिणी पत्नियों के हृदयों को उबाल देने को यह नया नया चांदी का कटाह चन्द्रबिम्ब बना दिया है। घनी सान्ध्य लालिमा ही आग है, आकाश चूल्हा है तथा चन्द्रमा में दिखाई देता कलङ्क कटाह में लगी कालिख है। (सर्ग १०, पद्य ६१) क्रीडावापी में सन्ध्या के चन्द्र के प्रतिबिम्ब को देखकर कवि को भ्रान्ति होती है कि क्या कामदेव ने मानिनी स्त्रियों का मान पीसने को यह पानी का घरट्ट बना दिया है। (सर्ग १०, पद्य ५६) सुनहले सूर्य के अस्त होने पर अन्धकारलिप्त पृथ्वी को देखकर कवि पूछता है कि क्या काल गणनापति की दवात सोने की बनी थी जो चमक रही थी और अब जिसके उलट जाने पर अन्धकार रूपी स्याही ने धरती को लीप दिया है? (सर्ग १० पद्य १९)

ग्यारहवें तथा बारहवें सर्गों में चन्द्रवर्णन है। सर्वत्र चांदनी बरस रही है। कवि कल्पना करता है कि शिव द्वारा जलाए गए कामदेव का उद्धार करने के लिए ही चन्द्रमा ने चन्द्रिका के बहाने गङ्गाजल को भूमि पर गिराया है तथा तारकों के बहाने जलकणों को बिखेरा है। तेरहवें सर्ग में नारियों की प्रसाधन क्रिया का वर्णन है। चौदहवें सर्ग में पानक्रीडा तथा पन्द्रहवें में रतिक्रीडा का वर्णन है। सोलहवें सर्ग में प्रभात वर्णन है। सत्रहवें सर्ग में कथा की कुछ गति दिखाई देती है। देवजन त्रिपुर राक्षस के अत्याचारों का वर्णन करते हैं। अठारहवें, उन्नीसवें तथा बीसवें सर्गों में युद्ध की तैयारियों का वर्णन है। इक्कीसवें सर्ग में शिव की

---

१. श्रीकण्ठचरित सर्ग ६ पद्य १९

२. वही सर्ग ६ पद्य ४२

सेनायें प्रस्थान करती हैं। बाइसवें सर्ग में दैत्यों में उत्पन्न हुई हलचल का वर्णन है। तेइसवें तथा चौबीसवें सर्गों में युद्ध का वर्णन है। त्रिपुरदाह के वर्णन के पश्चात् पच्चीसवें सर्ग में उस विद्वद्गोष्ठी का वर्णन है जिसमें इस महाकाव्य को सुनाया गया था।

प्रकृति में घटित होती हुई किसी भी सामान्य घटना को कवि अपनी अनूठी शैली द्वारा कई रूपों में प्रस्तुत कर देता है। सूर्य का दक्षिणायन से उत्तरायण होना एक भौगोलिक तथ्य है जिसे नायकनायिकाव्यवहार रूप में प्रस्तुत किया गया है। दक्षिण दिशा सूर्य को छोड़ न सकी और उसकी संगति में सूर्य का ताप भी कम हो गया था। तभी न जाने किसने उनकी एक दूसरे से चुगली कर दी (अतः उन्हें अलग होना पड़ा)।[१] एक अन्य पद्य में दक्षिण दिशा को ऐसी नायिका बताया है जो पहले सूर्य पर आसक्त थी परन्तु कुछ समय बाद मलयाचल के बन्धु युवक पवन की ओर निहारने लगी। तब गुस्से से शरीर को फैलाते हुए सूर्य ने उसे छोड़ दिया।[२] एक अन्य पद्य में नायिका दक्षिणदिशा ही नायक सूर्य की तप्त किरणों के सम्पर्क से उत्पन्न ताप को दूर करने की इच्छा से चन्दन की सुगन्धि से युक्त गीले वायु की तरङ्गों से प्रेम करने लगी है।[३]

सायंकाल सूर्यास्त होने पर कमल बन्द हो जाते हैं, इस तथ्य के आधार पर कवि ने कतिपय बिम्ब प्रस्तुत किए हैं। 'कमलिनी नायिका ने अपने प्रिय को जाने से रोकने की इच्छा से उसके द्युतिरूप आंचल को पकड़ लिया और कमल की पंखुड़ियों रूपी हाथों को जोड़कर व्याकुल हो उठी।[४] 'दिन भर कमलिनी के कांटों से रगड़ खाकर सूर्य के हाथ जख्मी हो गये थे अतः सायं को जब काल ने उसे आकाश से नीचे गिरा दिया तो वह किसी वस्तु का सहारा न ले सका।'[५] 'सायंकाल को सूर्य पश्चिम समुद्र की ओर प्रस्थान करने लगा तो नायिका लक्ष्मी ने भी उसके साथ ही पितृगृह जाने की इच्छा से कमलरूपी घर की पल्लव रूपी अर्गला को बन्द कर दिया।[६]

चन्द्र कुमुदिनियों को विकसित करता है। 'उदय होते ही चन्द्रमा ने सर्वत्र कैरवपुष्पों को खोल दिया मानो वह उनसे अपनी उस कान्ति को वापिस लेना

१. श्रीकण्ठचरित सर्ग ६, पद्य
२. वही सर्ग ६, पद्य २
३. वही सर्ग ६, पद्य ३
४. वही सर्ग १०, पद्य ५
५. वही सर्ग १०, पद्य १२
६. वही सर्ग १०, पद्य १

चाहता है जो उसने प्रातः काल सूर्य के भय से उनके पास धरोहर रख दी थी।'[१]

'कामदेव की सेना के श्रेष्ठ योद्धा चन्द्र ने अपनी किरणों से कुमुदों को फाड़ डाला है मानो वह इस प्रकार वियोगिनियों के हृदयों को विदीर्ण करने की योग्यता प्राप्त कर रहा हो।'[२]

चन्द्र औषधिपति है। 'बहुत देर बाद रागयुक्त हुए, उन्नत किरण भुजाओं को फैलाए चन्द्र का आलिङ्गन ओषधियां करना चाह रही हैं।

'कैलाश पर्वत मानसरोवर में प्रतिबिम्बित हो रहा है। लगता है मानो शेष-नाग पृथ्वीलोक को देखने की इच्छा से बाहर आया है।'[३]

'वायु से गूंजती गुहाओं के माध्यम से स्तुति करता हुआ, नानाविध फलों से नैवेद्य प्रस्तुत करता हुआ, तट पर संगीतसामग्री एकत्रित किए यह कैलाश मानो सर्वदा पास स्थित महादेव की पूजा कर रहा है।'[४]

कैलाश पर उगे वृक्ष भी शिव की पूजा में रत तपस्विगण हैं। सिरों पर हिलते हुए फलरूपी मुण्डों की माला को धारण किए, हिलते हुए पल्लव रूपी कर पर मंडराती भ्रमरपंक्ति रूपी रुद्राक्ष माला को फेरते हुए, जड़ों रूपी दीर्घ जटाओं को धारण किए ये वृक्ष वायुओं के अनिरोध रूप प्राणायाम का अभ्यास करते हुए तपस्या कर रहे हैं।[५]

कथाकौतुक[६]

कश्मीर के सुल्तानों जैनुलाब्दीन, हैदरशाह, हसनशाह तथा मुहम्मदशाह के समय में हुए श्रीवर द्वारा रचित महाकाव्य कथाकौतुक फारसी के कवि मुल्ला जामि द्वारा वर्णित यूसफ जुलेखा की प्रेमकथा पर आधारित है। महाकाव्य के प्रारम्भ में श्रीवर ने स्वयं कहा है कि यावनशास्त्र में वर्णित इस कथा को मैं संस्कृत भाषा के माध्यम से प्रस्तुत कर रहा हूं। जिस क्रम से मुल्ला जाम्य ने इसे कहा है उसी क्रम से मैंने इसे श्लोकबद्ध किया है। इस कथन से प्रतीत होता है कि श्रीवर ने मूल

१. श्रीकंठचरित सर्ग १०, पद्य ४२
२. सर्ग ११, पद्य १२
३. सर्ग ४ पद्य ५२
४. सर्ग ४ पद्य
५. सर्ग ४ पद्य ५६
६. काव्यमाला संख्या ७१, बम्बई १९०१ सम्पादक शिवदत्त काशीनाथ।

कथावस्तु को अपरिवर्तित रखा है।[1]

पन्द्रह कौतुकों में विभक्त इस ग्रन्थ के प्रथम कौतुक में श्रीवर ने अपने आश्रय-दाता मुहम्मदशाह की प्रशंसा की है और कहा है कि उसके शासनकाल में प्रजा धर्मकार्यों में प्रवृत्त थी। सुल्तान गौओं की रक्षा करता था।[2] उसी सुल्तान को प्रसन्न करने के लिए श्रीवर ने यूसफ जुलेखा की कथा का संस्कृत रूपान्तर प्रस्तुत किया। काव्य शृंगारपरक है अतः कवि ने प्रथम कौतुक में राग की प्रशंसा करते हुए राग को ही जड़ और चेतन जगत् का कारण बताया है[3] तथा राग के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति सरल कही है।[4]

दूसरे तथा तीसरे कौतुक में राजा तैम तथा उसकी पुत्री राजकुमारी जुलेखा का वर्णन है। जुलेखा स्वप्न में एक सुन्दर युवक को देखकर उस पर अनुरक्त हो जाती है। वह अपनी विरहव्यथा धाय तथा सखियों के आगे प्रकट करती है। एक अन्य स्वप्न में उसे पता चलता है कि वह युवक मिस्रदेश का राजा अजजेमेस्र है। जुलेखा का पिता यह सूचना पाकर जुलेखा को वहां भेज देता है। जुलेखा के आगमन की सूचना पाकर अजजेमेस्र अत्यन्त प्रसन्न होता है परन्तु जुलेखा उसे अपने सपनों का नायक न देखकर दुःखी हो जाती है। एक आकाशवाणी होने पर कि तुम इसे पति स्वीकार कर लो तभी तुम अपने प्रियतम को पा सकोगी जुलेखा राजा अजजेमेस्र से विवाह कर लेती है। परन्तु प्रिय को पाये बिना मानसिक शान्ति

---

१. प्रणम्य विघ्नौघहरं गणेशं त्रिधास्वरूपामपि भारतीं ताम्।
विरच्यते यावनशास्त्रबद्धकथा मया निर्जरभाषयेयम्॥
क्रमेण येन भेद्यार्थो मलाज्यामेन वर्णितः।
तेनैव हि मया सोऽयं श्लोकेनाद्य निरूप्यते॥

कथाकौतुक १, पद्य २-३

मलाज्यामेन येसोहाजोलेखानाम विश्रुतः।
रचितोऽप्यद्भुतः पूर्वं ग्रन्थो देवमुखोद्गतः॥
तस्मिन्मया पण्डितजोनकाख्यं नत्वा गुरुं पण्डितश्रीवरेण।
भूपालतुष्टी सुरलोकवाण्यारम्भोऽध्वनाकारि मनोहरोऽयम्॥

वही १, पद्य ३९,४०

२. सदा धर्मधृतोपाया हतापाया सुकर्मभिः।
देवप्रायाः प्रजाः प्रायो यस्मिञ्छासति मेदिनीम्॥
प्रीत्यै तु गोसहस्रस्य येन धर्मपुरेण च।
ज्ञात्वा पूर्वपदार्थैक्यं वधाद्गावो विमोचिता॥ कौतुक १ पद्य २५,३०

३. तस्माद् रागमयं सर्वं चेतनाचेतनं जगत्।
प्रतिभात्येव यत्नेन रहितं तन्न गण्यते॥ वही पद्य ६२

कहां ? राजसुख उसे कण्टक की तरह प्रतीत होते हैं। अपनी धाय के समक्ष मानसिक पीड़ा की अभिव्यक्ति करते हुए वह कहती है—'फल के लालच से मैंने खजूर का पेड़ लगाया था। फल तो मुझे मिला नहीं बस कांटों का ढेर मिल गया। इस हृदय रूपी खेत में सुख का बीज बोया था परन्तु मां! यह दुःख रूप फल मुझे कैसे प्राप्त हुआ ?'[1]

मैं तो फूल चुनने को उपवन में पहुंची थी। फूल तो मिले नहीं परन्तु शरीर में कांटे चुभ गये। मैं प्यासी सूखे गले, ओंठ, तालू और जिह्वा सहित चिन्तातुर हुई रेगिस्तान में भटक रही थी। दैवयोग से निर्मल पानी भी दिखाई दिया। परन्तु जब तक गिरती उठती मैं उसे पीने को पहुंची तब तक वह कीचड़ बन चुका था।[2]

नौवें तथा दसवें कौतुक में यूसफ का वर्णन है। वह याकूब के बारह पुत्रों में सबसे छोटा और पिता को अत्यन्त प्रिय था। देवदूत से उसे तोमर भी प्राप्त हुआ था। शेष भाईयों को उससे ईर्ष्या हुई। राज्य प्राप्ति के लालच में उन्होंने भाई को मारने का निश्चय कर लिया। शिकार के बहाने वे सब यूसफ को जंगल में ले गये तथा एक गहरे कुएं में गिरवा दिया। उस अन्धकूप में भगवान् शिव ने यूसफ की रक्षा की। एक व्यापारी समूह रास्ता भूलकर वहां आ पहुंचा। उन्होंने कुंए से पानी निकाला तो चर्मपुट के साथ बालक यूसफ भी बाहर आ गया। भाई फिर वहां आ पहुंचे और कहने लगे कि यह हमारा दास था। आज्ञाभङ्ग करने के कारण इसे दण्ड दिया गया था। सार्थपति ने उस बच्चे को दास रूप में खरीद लिया और मिस्र में आकर वहां के राजा अजेजमेस्र के आगे बेच दिया।

ग्यारहवें से तेरहवें कौतुक तक जुलेखा के प्रेम और यूसफ की निरासक्ति का वर्णन है। जुलेखा अपने सपनों के नायक को पहचान कर उसके प्रति अपना आप

---

१. त्यक्त्वा लोकभयं रागप्रीतिं कुरु दिवानिशम्।
कृत्वास्य निर्णयं जन्तुर्मुक्तिं प्राप्नोत्यसंशयम्॥ वही पद्य ७८
मया खर्जूरवृक्षोऽयं रोपितः फललुब्धया।
तन्नैवाधिगतं किं तु प्राप्ता कष्टसंहति॥
मनः क्षेत्रे मयोप्तं तु सुखबीजं स्वयेच्छया।
परं त्वधिगतं मातः कथं दुःखफलं त्विदम्॥ वही १६-१७

२. कुसुमावचयं कर्तुमुद्यानं प्रस्थितास्म्यहम्।
न तदाप्तं परं जातं कण्टकैर्व्यथितं वपुः।
अहो चिन्तातुरैवाहं धर्षितापि मरुस्थले।
गच्छन्ती शुष्ककण्ठोष्ठतालुजिह्वा ततः परम्॥
दैवाद्दृष्ट्वापि स्वच्छाम्भः पतित्वा पुनरुत्थिता।
पातुं समागता यावत्तावत्पङ्कायितं जलम्। कौतुक ७, पद्य १९-२१

समर्पित करने को उत्सुक है परन्तु यूसफ उसके समक्ष कुछ नहीं कहता। दूसरों की दृष्टि से बचाने को वह उसे पशुपाल बनाकर अपने महल में रखती है। वह जितना अनुराग जताती है यूसफ उतनी विरक्ति प्रकट करता है। सौतें उसकी निन्दा करने लगती हैं, कि वह एक दास के प्रति अनुरक्त है पर जब उसके सौंदर्य को देखती हैं तो स्वयं भी मोहित हो जाती हैं। एक बार जुलेखा एक सुन्दर भवन बनवाकर उसमें विरहावस्थापीडिता अपना तथा विरक्त यूसफ का चित्र बनवा कर यूसफ को वहां भेजती हैं। यूसफ जुलेखा की दिव्य सुन्दरता और विरहावस्था को देखकर भी विचलित नहीं होता। चोट खाई जुलेखा अजजेमेस्र से झूठी शिकायत कर यूसफ को कारागार में डलवा देती है। यूसफ दस वर्ष तक कारागार में रहता है। एक बार राजा अजेजमेस्र एक स्वप्न देखता है जिसका अर्थ किसी की समझ में नहीं आता। यूसफ से पूछा जाता है तो वह उसे भावी दुर्भिक्ष का सूचक बताता है और राजा को अन्न संग्रह करने की प्रेरणा देता है। राजा उसे मुक्त कर अन्न संग्रह करने के कार्य में लगाता है। यूसफ कार्य पूर्ण करता है। तभी राजा और मन्त्री दोनों की मृत्यु हो जाती है तथा प्रजा यूसफ को राजगद्दी पर बिठा देती है। राज्य में सब सुखी हैं पर जुलेखा आंखों की ज्योति खो बैठी है। उसका शरीर जीर्ण हो गया है।

चौदहवें कौतुक में यूसफ के भाई दुर्भिक्ष से पीडित होकर अन्धे पिता सहित यूसफ के राज्य में आते हैं। पुत्र के वस्त्र का स्पर्श कर अन्धे पिता को दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यूसफ भाइयों की धन धान्य से सहायता करता है। वृद्धा हुई अन्धी जुलेखा राजदरबार में आकर यूसफ से प्रार्थना करती है परन्तु तरुण यूसफ उसे इस कारण स्वीकार नहीं करता क्योंकि वह नितान्त वृद्धा है। जुलेखा शिव की स्तुति करती है और शिवकृपा से अपना यौवन और सौंदर्य पुनः प्राप्त कर लेती है। यूसफ प्रसन्न होकर उसे अपना लेता है।[1] पन्द्रहवें कौतुक में कवि शम्भु की स्तुति करता है।

काव्य में कथा की गति में नैरन्तर्य है। भाषा सरल है। यूसफ तथा जुलेखा के सौन्दर्य वर्णन में कुरङ्ग, पिक, चन्द्र, गज, मृग आदि सर्वप्रचलित उपमानों का प्रयोग है। दार्शनिक भावों को भी प्रेमगाथा में बड़े सुन्दर ढंग से पिरो दिया गया है। कवि मजनू लैला के प्रेम की उपमा जीव और प्रकृति के सम्बन्ध से देता है।

---

१. एवं सा भूपतेः कन्या जराजीर्णापि तत्क्षणम् ।।
संजाता पूर्वतारुण्यशालिनी प्रमदोत्तमा ।
अथ भूमिपतिर्लब्धप्रतीति हृष्टमानसः ।।
प्रगृह्य पाणिना पाणिं तस्या बालमृगीदृशः
सुरसपद्योपमं श्रीमत्कृतकौतुकमङ्गलम् ।।
गीतवादित्रसंजुष्टं प्राविशद् राजमण्डलम्
मेने कृतार्थमात्मानं सदा भूमिपतिस्तदा ।। कौतुक १४, पद्य ५३-५७

मंजरी काव्य

१०३७ ई० में क्षेमेन्द्र ने महाभारत का संक्षेप **भारत मंजरी**[1] नाम से रचा। महाभारत की तरह ही इस विशाल महाकाव्य में भी अठारह पर्व हैं। आवश्यकतानुसार कई घटनाओं को छोड़ दिया गया है। रोचकता की दृष्टि से कुछ घटनाएं आगे पीछे भी की गई हैं जैसे भीम तथा दुर्योधन का गदायुद्ध जो महाभारत में शल्यपर्व में था, भारत मंजरी में गदापर्व में रखा गया है। अनुशासनपर्व की सामग्री का समावेश शान्तिपर्व में कर दिया गया है। कथावस्तु के विस्तार के कारण क्षेमेन्द्र अपनी काव्य प्रतिभा का प्रदर्शन इस मञ्जरी में नहीं कर पाए परन्तु संपूर्ण महाभारत का सरल शैली में संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करने में उनका परिश्रम प्रशंसनीय है।

क्षेमेन्द्र का दूसरा संक्षेप काव्य **रामायण मंजरी**[2] है जिसे रामायण की तरह सात काण्डों में विभक्त किया गया है। भारत मंजरी की तरह रामायण मंजरी में भी कुछ घटनाएं आगे पीछे रखी गई हैं। अरण्यकाण्ड तथा किष्किन्धाकाण्ड में कुछ सुन्दर ऋतु वर्णनों का समावेश है। पम्पासर का वर्णन करते हुए कवि कहता है।

'देवाङ्गनाओं तथा सिद्धों की स्त्रियों के स्नान के समय अगुरु से सरोवर का पानी काला हो गया है। प्रतीत होता है मानों जलने के बाद कामदेव इसी में डूब गया था और उसी के अङ्गारों से यह जल श्याम हो गया है।'[3] भ्रमरों के समूह को देखकर कवि कल्पना करता है कि सम्भवतः रजनी ने प्रीतिदूतों के रूप में इन्हें फूलों को जगाने के लिए भेजा है।[4] यह सरोवर सज्जनों के चित्त की तरह निर्मल, साधुओं के सङ्ग की तरह स्थिर, धर्म के मार्ग की तरह अनन्त, मनोरथ की तरह विशाल है। ऐसा लगता है मानों यह आकाश का दर्पण हो, सागर का भाई हो,

---

१. सम्पादक शिवदत्त तथा काशीनाथ बम्बई, १८९८
२. सम्पादक शिवदत्त तथा काशीनाथ बम्बई १९०३
३. रामायण मन्जरी आरण्यपर्व, पद्य ११२४
४. वही पद्य ११२५

कैलाश का हृदय हो या पूर्णचन्द्र का निवास स्थान हो।"[1]

सीता से वियुक्त राम को प्रकृति चिढ़ाती सी प्रतीत होती है। पुष्पित सिन्धुवार श्यामा से मिलने को उत्सुक है। चन्द्रमा चांदनी से युक्त है। लता शालवृक्ष का आलिङ्गन कर रही है, नदी पर्वत का अलिङ्गन कर रही है। वियोगी राम को रम्य वृक्ष विषपादपों से दिखाई देते हैं।[2] वर्षा तथा शरद् का वर्णन भी हृदयग्राही है।

'सूर्य मेघों के समूह से उसी तरह छादित हो गया है जैसे मैं दुःख से आवृत हूं। श्वेत मुस्कान वाली जानकी की तरह चन्द्रकला भी दिखाई नहीं देती'[3]

'जलबिन्दुओं को वहन करता विरह संताप सूचक पवन चल रहा है मानों राम की आहें हों जो करुणा के अश्रुओं से भीगी हैं।'[4]

शरद् में नदियों का जल कम हो जाता है। कवि की उक्ति है—'सरिता वनिताओं के जलरूपी दुकूल नीचे खिसक गये हैं जिससे राजहंसों द्वारा निर्मित नखोल्लेख दिखाई दे रहे हैं।'[5]

अठारह लम्बकों में रचित **बृहत्कथामञ्जरी** गुणाढ्यकृत बृहत्कथा का संक्षिप्त रूपान्तर है। इसमें प्रमुख कथा का नायक तो वत्सराज उदयन का पुत्र नरवाहनदत्त है जिसकी अनेक विजयों तथा अनेक रमणियों के संग प्रेम व्यापारों का विस्तृत वर्णन किया गया है परन्तु प्रमुख कथा के साथ अनेक अवान्तर कथायें जोड़ दी गई हैं। उदयन का वासवदत्ता के साथ विवाह, वासवदत्ता के अग्नि में जल जाने की अफवाह के पश्चात् उसका पद्मावती से विवाह, नरवाहनदत्त का जन्म, उसका अनेक सुन्दरियों से प्रेमप्रसङ्ग, अन्त में मदनमंचुका से उसका विवाह तथा विद्याधरचक्रवर्तित्व की प्राप्ति, ये प्रमुख घटनाएं हैं। एक कथा के भीतर से दूसरी अवान्तर कथा की सृष्टि इस ग्रन्थ की विशेषता है। बेतालपञ्चविंशति भी इसी के अन्तर्गत है। लोक जीवन का अंग बनी इन कथाओं में अद्भुतता है, चमत्कार है। कई स्थलों पर देवी देवताओं की स्तुतियां भी जोड़ दी गई हैं। नौवें लम्बक में भगवतीस्तोत्र है, पन्द्रहवें लम्बक में नारायण स्तुति है। कथाओं की रोचकता का श्रेय तो मूल लेखक गुणाढ्य को ही देना समुचित है फिर भी वर्णन शैली का वैशिष्ट्य क्षेमेन्द्र का अपना है। उपमा अलंकार कवि को प्रिय है। कहीं भी कोई वर्ण्य वस्तु देखकर वह उपमाओं की माला रच देता है। उदयन को

---

१. रामायण मंजरी आरण्य पर्व पद्य ११३२, ११३४

२. वही, पद्य ११५२-५४

३. वही, किष्किन्धाकाण्ड पद्य १७

४. वही, पद्य ६

५. वही, पद्य ५३

पकड़ने के लिए बनाए गये कृत्रिम गजराज का वर्णन वह कई अमूर्त्त उपमानों के माध्यम से इस प्रकार करता है—अहंकार की तरह ऊंचे, संसार की तरह निस्सार, ऐश्वर्य की तरह चञ्चल, दुराचार की तरह दुःखान्त, बुरी सलाह की तरह निष्फल, नारी चित्र की तरह दुर्लक्ष्य, अज्ञान की तरह मोह में डालने वाले उस गजराज को देखा।[1] बेतालपञ्चविंशति की प्रथम बेताल कथा में श्मशान की उपमाएं बड़ी प्रभावोत्पादक हैं।[2]

बोधिसत्वावदानकल्पलता

क्षेमेन्द्र के मञ्जरी काव्यों की तरह बोधिसत्वावदानकल्पलता भी मौलिक कृति न होकर अवदान साहित्य पर आधारित है। इसमें भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों तथा बुद्धरूप में अवतरित जीवन की घटनाओं का संग्रह पद्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। काव्य में १०८ अवदान (शुभ्र चरित्र) हैं। अन्तिम अवदान क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र द्वारा लिखा गया है। प्रत्येक अवदान के प्रारम्भ में मङ्गल श्लोक तथा अन्त में उपदेशात्मक सार श्लोक मिलता है जिसमें बता दिया जाता है कि कथा में उल्लिखित प्रमुख पात्र वर्तमान जीवन में कौन है।

इन कथाओं में महात्मा बुद्ध द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है। पृथ्वी प्रदान अवदान में महाराजा अशोक द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी संघ को दान दी जाने का उल्लेख है। राजा के स्वर्गवास हो जाने पर उसके पौत्र ने चार करोड़ की राशि देकर पुनः पृथ्वी को संघ से खरीदा था। जीमूतवाहनावदान में नागानन्द नाटक में वर्णित जीमूतवाहन और मलयवती की कथा है। शिविसुभाषितावदान में अपने मांस और रुधिर का सहर्ष दान करने वाले राजा शिवि को महात्मा बुद्ध का ही पूर्व जन्म का अवतार बताया गया है। प्रतीत्यसमुत्पादावदान में बौद्धदर्शन में उल्लिखित बारह निदानों का उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य अवदानों में चार आर्यसत्य, सम्यक् संबोधि, निर्वाण, शील, समाधि, प्रज्ञा, पंचशील आदि का उल्लेख है। काव्य की शैली सरल तथा प्रसादगुणयुक्त है शान्त रस की प्रधानता है।

क्षेमेन्द्र के कथनानुसार उसने यह ग्रन्थ लौकिक संवत् के सत्ताइसवें वर्ष अर्थात् १०५२ ई० में पूरा किया था। डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही उस ग्रन्थ का अनुवाद तिब्वत के प्रसिद्ध विद्वान् सोन्तोन लोचावें ने तिब्बती भाषा में कर दिया था।

दशावतारचरित

क्षेमेन्द्र का दृष्टिकोण बहुत उदार था। उनका काव्य दशावतारचरित उनकी

---

१. लम्बक २, पद्य ३५-३८
२. लम्बक ९, पद्य ४०-५७

विष्णु के प्रति भक्ति को प्रकट करता है। काव्य के दस सर्गों में विष्णु के दस अवतारों मत्स्य, कच्छप, वराह, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि का वर्णन किया गया है। कथायें पुराणों से संगृहीत है परन्तु अपने ढंग से प्रस्तुत करते हुए क्षेमेन्द्र ने उनमें भी कही व्यंग्य का पुट दिया है तो कहीं तत्कालीन समाज का अंकन भी कर दिया है। वस्तुत: क्षेमेन्द्र न तो राजकवि हैं न ही शास्त्र पण्डितों की सभा में धाक जमाने के इच्छुक हैं। वे साधारण जनता के कवि हैं और साधारणजनों की वेदना को पहचानते हैं। दशावतारचरित भक्तिप्रधान रचना होने पर भी तत्कालीन समाज की विषमताओं का चित्र प्रस्तुत करती है। मत्स्यावतार से प्रार्थना करते हुए कवि कहता है—हे करुणा के सागर मुझे बचाओ। मैं इन बड़ी बड़ी मछलियों से घबराया हुआ हूं। समाज में बलवान् लोग ही वड़ी बड़ी मछलियां हैं जो दुर्बलों को खाये जा रहे हैं।[1] उसे इस बात का बहुत दु:ख है कि एक जैसे हाथ पैरों वाले मनुष्यों में कोई स्वामी बना है, कोई दास। ईश्वर के राज्य में यह विषमता अवश्य ही आश्चर्यजनक है।[2]

१. भीतोऽहं स्थूलमत्स्येभ्य: रक्ष मां करुणानिधे।
भक्षयन्ति क्षुधा नित्यं दुर्बलं बलवत्तरा:॥ दशा० १.२१

२. सदृशे पुरुषत्वेऽपि तुल्यपादकरोदरे
एक: प्रभु: परो दास इति चित्रविजृम्भितम्॥ दशा०-५. १५६.

ऐतिहासिक काव्य

लुप्त ऐतिहासिक महाकाव्य

कुछ ऐतिहासिक महाकाव्य अतीत के गर्त में विलीन हो चुके हैं। उनमें से एक जल्हण कवि द्वारा विरचित **सोमपालविलास** था जिसका उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में किया है।[1]

मङ्ख ने जल्हण को राजपुरी का सन्धिविग्रहाधिकारी बताया है तथा उसकी वाणी की प्रशंसा की है जो चतुर पदों से सरस्वती की प्रदक्षिणा को उद्यत रहती है।[2]

रत्नकण्ठ द्वारा रचित सारसमुच्चय नामक काव्यप्रकाश की टीका में सोमपालविलास से एक पद्य उद्धृत किया गया है।

मार्गं निसर्गादवलम्ब्य वक्रं सुधारसौघं मधुरं वमन्ती।
चान्द्री च मूर्त्तिः कवितुश्च सूक्तिर्न धार्यते मूर्धनि नेश्वरेण॥

स्वभाव से ही वक्र मार्ग का अनुसरण करती हुई, मधुर अमृतरस को बरसाती हुई चन्द्रमा की मूर्ति तथा कवि की सूक्ति ईश्वर (महादेव राजा) द्वारा मस्तक पर धारण न की जाए यह नहीं हो सकता। रत्नकण्ठ ने यह भी कहा है कि राजानक रुय्यक ने जल्हण के काव्य पर टीका लिखी थी।[3] सम्भवतः यह वही टीका अलंकारानुसारिणी होगी जिसका उल्लेख जयरथ ने किया है। जल्हण का आश्रयदाता नृप सोमपाल राजौरी के राजा संग्रामपाल का पुत्र था। कल्हण ने वहां के राजाओं का संक्षिप्त सा वृतान्त दिया है। यदि जल्हण का यह महाकाव्य उपलब्ध होता तो राजौरी के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक महाकाव्य कल्हणकृत **जयसिंहाभ्युदय** था

---

१. राजतरंगिणी तरङ्ग ८, पद्य ६२१

२. श्रीकण्ठचरित, सर्ग २५, पद्य ७३, ७५

३. स्तुतिकुसुमाञ्जलि पर टीका

जिसका उल्लेख रत्नकण्ठ के सारसमुच्चय में मिलता है। जैसा कि शीर्षक से प्रतीत होता है इस महाकाव्य में सुस्सल के पुत्र जयसिंह का वर्णन होगा जिसके राज्यकाल में कल्हण ने राजतरंगिणी की रचना की थी। रत्नकण्ठ ने इसका निम्न पद्य उद्धृत किया है।

भूभृत्पदं पर्वतशेषमासीत्तस्थौ विधावेव च राजशब्दः।
न वाहिनीनाथकथासमुद्रादन्यत्र तस्मिन्नृपतौ बभूव ।।

एक अन्य ऐतिहासिक काव्य भुवनाभ्युदय का उल्लेख कल्हण ने राजतरंगिणी में किया है जिसे शंकुक ने रचा था। इस काव्य में मम्म और उत्पल नामक दो भाइयों के दारुण युद्ध का वर्णन था।[1] मम्म तथा उत्पल कश्मीर के नृप ललितादित्य के पुत्र चिप्पट जयापीड के मामा थे। जयापीड ललितादित्य की रखैल का पुत्र था। अपने भानजे को मरवा कर उन्होंने अजितापीड को गद्दी पर बिठवाया और उसके नाम से वस्तुतः स्वयं ही राज्यसुख भोगना प्रारम्भ किया। इस प्रकार उन्होंने छब्बीस वर्ष तक राज्य किया। सम्भवतः भुवनाभ्युदय का रचयिता शंकुक ही भरत नाट्यशास्त्र का टीकाकार था। मम्मट ने काव्यप्रकाश में शंकुक के अनुमितिवाद का उल्लेख किया है।

विक्रमाङ्कदेवचरित[2]

कश्मीर के ऐतिहासिक महाकाव्यों में बिल्हणरचित विक्रमाङ्कदेवचरित का स्थान महत्त्वपूर्ण है। बिल्हण ने इस महाकाव्य के १८वें सर्ग में अपना जीवन परिचय दिया है। कश्मीर के प्रसिद्ध नगर प्रवरपुर के समीप खोनमुष गांव में बसे कौशिक वंश के ब्राह्मण ज्येष्ठकलश इनके पिता थे। वह व्याकरण शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। महाभाष्य की उनकी व्याख्या को सुनने को उत्सुक छात्र मण्डली से उनका प्राङ्गण भरा रहता था। पिता के समान बिल्हण ने भी बाल्यकाल में ही विद्याओं में योग्यता प्राप्त कर ली थी। उन्होंने स्वयं लिखा है कि उनकी निर्मल बुद्धि रूपी दर्पण में जो विद्यायें प्रतिबिम्बित होती थीं उनकी गणना कौन कर सकता था। बिल्हण के जन्म के समय कश्मीर में अनन्त (१०२८-१०६३ ई०) का शासन था। अनन्त के पश्चात् जब उसका पुत्र कलश राजगद्दी पर बैठा तो कश्मीर की राजनैतिक स्थिति शोचनीय हो गई थी। सम्भवतः इसी कारण बिल्हण को कश्मीर

---

१. अथ मम्मोत्पलकयोरुदभूद्दारुणो रणः
रुद्धप्रवाहा यत्रासीद्वितस्ता सुभटैर्हतैः ।।
कविर्बुधमनः सिन्धुशशाङ्कः शङ्कुकाभिधः।
यमुद्दिश्याकरोत्काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ।। राजत० तरंग ४, पद्य ७०४, ७०५

२. विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज सम्पादित, वाराणसी १९६४

छोड़कर राजाश्रय के लिए बाहर जाना पड़ा। सबसे पहले वह मथुरा पहुंचे जहां की विद्वन्मण्डली को शास्त्रार्थ में पराजित किया। तत्पश्चात् वृन्दावन में कुछ समय रहे। वहां से कन्नौज, प्रयाग तथा वाराणसी होते हुए डाहल देश में गये। डाहल के राजा कर्ण ने उनका हार्दिक स्वागत किया। वहां गंगाधर नामक विद्वान् को शास्त्रार्थ में हराकर वह धारा नगरी में गये। उस समय राजा भोज का देहान्त हो चुका था। वहां से वह गुजरात के एक प्रदेश अन्हिलवाड़ में पहुंचे जहां कर्णदेव त्रैलोक्यमल राज्य कर रहा था। वहां के लोगों के व्यवहार से दु:खित होकर वह सोमनाथ रामेश्वर होते हुए चालुक्य राजा विक्रमांकदेव षष्ठ के राज्य में कल्याण नगर पहुंचे। वहां इन्हें पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ। अपने इसी आश्रयदाता के जीवन चरित को आधार बनाकर विल्हण ने विक्रमांकदेवचरित की रचना की। चालुक्य दरबार में रहते हुए ही बिल्हण को कश्मीर में हर्षदेव के शासन की सूचना मिली थी जो कवियों का बन्धु बनकर उन्हें प्रभूत धनराशि दे रहा था। राज-तरंगिणी में कल्हण ने इस तथ्य को प्रकट किया है—

कश्मीरेभ्यो विनिर्यातं काले कलशभूपतेः
त्यागिनं हर्षदेवं स श्रुत्वा सुकविबान्धवम्।
बिल्हणो वञ्चनां मेने विभूतिं तावतीमपि ।। ७. ९३६,९३८

कलश का राज्यकाल १०६३ ई० से १०८९ ई० तक था। हर्ष १०८९ ई० में कश्मीर के सिंहासन पर बैठा था। बूहलर के मतानुसार बिल्हण १०६३ ई० से १०६५ ई० के मध्य कश्मीर को छोड़कर गये थे तथा उन्होंने १०८५ ई० के लगभग विक्रमांकदेवचरित की रचना की थी। चूंकि विक्रमांकदेवचरित में विक्रमांक और जयसिंह के मध्य हुए उस युद्ध का वर्णन भी है जो १०८५ ई० में हुआ था अत: प्रतीत होता है कि विक्रमांकदेवचरित का प्रणयन १०८५ ई० के एक दो वर्ष बाद ही हुआ होगा।

विक्रमांकदेवचरित १८ सर्गों का ऐतिहासिक महाकाव्य है जिसमें कल्याण के चालुक्यवंशी राजा आहवमल्ल तथा उनके पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ के चरित का वर्णन है। प्रथम सर्ग में मंगलाचरण तथा सत्काव्य प्रशंसा के बाद चालुक्य वंश की दैवी उत्पत्ति का तथा उस वंश के राजाओं का वर्णन किया गया है। आहवमल्ल के गुणों का वर्णन विस्तार से किया गया है। दूसरे सर्ग में कल्याण नगर की शोभा का वर्णन है। आहवमल्ल को शिवकृपा से तीन पुत्रों सोमेश्वर, विक्रमादित्य तथा जय-सिंह की प्राप्ति होती है। तीसरे सर्ग में पिता मध्यम पुत्र विक्रमादित्य को युवराज बनाने की इच्छा प्रकट करते हैं परन्तु वह बड़े भाई सोमेश्वर को ही युवराज पद देने के लिए पिता को प्रेरित करता है। पिता और भाई की आज्ञा में रहता हुआ वह चोलदेश की सेना को नष्ट करता है, मालवदेश के राजा को पराजित करता है, बंगाल तथा आसाम के राजाओं की कीर्त्ति को भी नष्ट करता है। चतुर्थ सर्ग में

विक्रम की सेनाओं द्वारा द्रविडनरेश पर प्राप्त विजय का वर्णन है। दिग्विजय के उपरांत लौटने को उद्यत हुए विक्रम को सूचना मिलती है कि दाह-ज्वर से आक्रान्त होकर पिता ने तुङ्गभद्रा नदी में जलसमाधि लेकर प्राण त्याग दिये हैं। कल्याण नगरी में आकर वह भाई की सहायता करता है परन्तु कुछ ही दिनों बाद बड़े भाई के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर छोटे भाई जयसिंह को साथ लेकर दक्षिण की ओर चला जाता है। सोमेश्वर की सेनायें उसका पीछा करती हैं परन्तु वह उन्हें पराजित कर देता है। पंचम सर्ग में चोलराज राजेंद्र अपनी कन्या का विवाह विक्रम से करने का प्रस्ताव रखते हैं जिसे विक्रम स्वीकार कर लेता है। छटे सर्ग में विक्रम के विवाह का वर्णन है। कुछ समय बाद चोलराजा वीरराजेन्द्र का देहावसान हो जाता है। विक्रमांक राजकुमार अधिराजराजेन्द्र को सिंहासनारूढ करता है परन्तु शीघ्र ही वेङ्गिनरेश उसे मार कर राज्य पर अधिकार कर लेता है। वह सोमेश्वर की सहायता लेकर विक्रम से युद्ध करता है। विक्रम अपने भाई सोमेश्वर से युद्ध करने में झिझकता है परन्तु शिव उसे धर्म विरोधी भाई से युद्ध करने की प्रेरणा देते हैं। दोनों शत्रुओं को परास्त कर विक्रम पुनः अपने भाई को राज्य लौटा देना चाहता है परन्तु शिव उसे ऐसा करने से रोक देते हैं। सप्तम सर्ग में राज्याभिषेक के अनंतर विक्रम कल्याणनगरी में प्रवेश करते हैं। वसन्त का आगमन होता है। पीले फूलों से धरती भर जाती है। कवि ने वसंत को एक शिशु के रूप में वर्णित करते हुए कहा है—

शिशिर के जाते ही वसन्त नटखट शिशु के रूप में प्रकट हो गया है। माधवी-लता की कलियां निकली हैं तो लगता है कि वनभूमि की गोद में खेलते हुए वसन्त रूपी शिशु के नये-नये सुन्दर दांत निकल आए हैं। वनश्री ने श्वेत पुष्पों रूपी मुस्कान से युक्त वसन्त शिशु के मुख को दक्षिणानिल रूपी सांसों से चूम लिया है। पृथ्वी पर गिरी हुई रज पर भंवर पंक्तियों के चलने से पंक्तियां बन रही हैं तो लगता है कि नन्हा बालक वसन्त पृथ्वी रूपी पटिया पर भ्रमरी के पांव रूपी कलम से पुष्परज की स्याही लगाकर अक्षर लिख रहा है। बालक वसन्त वनस्थलियों में किलकारियां भरते हुए कभी वृक्षों पर चढ़ता है, कभी धूलि में लौटने लगता है, कभी लताओं के पुष्परूपी वस्त्रों को खींचने लगता है।[1] इस प्रकार के अनेक वर्णनों

---

१. नवीनदन्तोद्गमसुन्दरेण वासन्तिकाकुड्मलनिर्गमेन।
उत्सङ्गसङ्गी विपिनस्थलीनां बालो वसन्तः किमपि व्यराजत्॥
सुगन्धिनिःश्वासमिवानुवेलमुद्वेल्लता दक्षिणमारुतेन।
मुखं प्रसूनस्मितदन्तुरं तच्चुचुम्ब मुग्धस्य मधोर्वनश्रीः॥
संक्रान्तभृङ्गीपदपंक्तिमुद्रं पौष्पं रजः क्ष्माफलके रराज।
क्रमाल्लिपिज्ञानकृतक्षणस्य क्षुण्णं मधोरक्षरमालयेव॥
समारुरोहोपरि पादपानां लुलोठ पुष्पोत्कररेणुपुञ्जे।
लताप्रसूनांशुकमाचकर्ष क्रीडन्वनैः किं न चकार चैत्रः॥
विक्रमांकदेवचरित ९. ३४-३७

से सप्तम सर्ग भरा है।

अष्टम सर्ग में करहाट नरेश की कन्या चन्द्रलेखा के सौन्दर्य का वर्णन है। नवम सर्ग में चन्द्रलेखा को पाने को व्याकुल हुए विक्रम की दशा का वर्णन है। चन्द्रलेखा के स्वयंवर की सूचना पाकर विक्रम वहां पहुंचता है। दूधमिश्रित-जलराशि में से दूध को अलग करने वाली राजहंसी की तरह चन्द्रलेखा स्वयंवर में उपस्थित अन्य सब राजाओं को छोड़कर विक्रम का वरण कर लेती है। दसवें सर्ग में वन विहार का, ग्यारहवें सर्ग में सूर्यास्त, रात्रि तथा प्रभात का वर्णन किया गया है। बारहवें सर्ग में ग्रीष्म का तथा तेरहवें सर्ग में ग्रीष्म और वर्षा का वर्णन है। चतुर्दश सर्ग में वर्षाकाल की समाप्ति के पश्चात् शरद् ऋतु का वर्णन है। विक्रमाङ्क को गुप्तचर यह सूचना देते हैं कि उसका छोटा भाई जयसिंह उस पर आक्रमण करने को सेना लेकर कृष्णा नदी के तट पर पहुंच रहा है। विक्रम उसे समझाने को सन्देश भेजता है तथा यह कहलवाता है कि मैं तुम्हें राज्य देने को भी तैयार हूं। जयसिंह फिर भी युद्ध से नहीं टलता और बहुत से अन्य राजाओं को साथ लेकर आक्रमण कर देता है। जयसिंह के अत्याचारों को सहन न कर पाने से विक्रम भी सेना लेकर युद्ध के लिए पहुंचता है। पंचदश सर्ग में युद्ध का विस्तृत वर्णन है। विक्रम ने सभी शत्रुवीरों को पराजित कर जयसिंह को बन्दी बना लिया और बाद में समझा बुझा कर छोड़ दिया। सोलहवें सर्ग में हेमन्त ऋतु का तथा राजा की आखेट क्रीडा का वर्णन है। सप्तदश सर्ग में विक्रम की राज्यव्यवस्था का वर्णन है। विक्रम इतना स्वर्णदान करता था कि उसके राज्य में याचक भी स्वर्णकुण्डल पहनते थे। उसने कल्याण नगरी में विष्णु का विशाल मन्दिर बनवाया। इसी सर्ग में विक्रम की चोल राजा पर प्राप्त विजय का भी वर्णन है। अन्तिम सर्ग में बिल्हण ने अपनी जन्मभूमि कश्मीर का, अपने गांव का, अपनी वंशपरम्परा का तथा अपनी यात्राओं का विवरण दिया है।

महाकाव्य में ऐतिहासिक तत्व

बिल्हण ने अपने महाकाव्य का कथानक दक्षिण के इतिहास से लिया है परन्तु महाकाव्य की आवश्यकताओं के अनुरूप उसमें परिवर्तन परिवर्धन भी किया है। महाकाव्य का नायक धीरोदात्त आदर्श महापुरुष होता है अतः बिल्हण ने विक्रमाङ्क को आदर्श नायक के रूप में प्रस्तुत करने के लिए ऐतिहासिक तथ्यों में थोड़ा हेर-फेर कर दिया है। प्रमुख घटनाएं जैसे आहवमल्ल तथा विक्रमाङ्क का चोलों से युद्ध, विक्रमाङ्क तथा सोमेश्वर का युद्ध, विक्रमाङ्क तथा जयसिंह का युद्ध इतिहास में वर्णित है परन्तु उनके संयोजन में बिल्हण ने अपनी कल्पना से काम लिया है। कवि के अनुसार विक्रमांक अपने बड़े भाई सोमेश्वर के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर स्वयं कल्याण से बाहर चला गया था परन्तु तथ्य यह है कि उसने राज्य प्राप्त

करने के लिए सोमेश्वर के विरुद्ध षडयन्त्र किया था जिसका भेद प्रकट हो जाने पर सोमेश्वर ने उसे निर्वासित कर दिया था। यह वैमनस्य बढ़ता रहा तथा राज्य प्राप्ति के उद्देश्य से ही दोनों भाइयों में युद्ध हुआ परन्तु बिल्हण के अनुसार विक्रमांक बड़े भाई के साथ युद्ध करने को तैयार न था। शिव की प्रेरणा से ही उसे इसमें प्रवृत्त होना पड़ा। चोलों की पराजय की बात भी अर्धसत्य है। इतिहास के अनुसार चोल पूर्ण रूपेण पराजित नहीं हुए थे तथा काञ्ची पर उनका अधिकार बना रहा था। चालुक्यवंश के राजाओं का क्रम तैलप, सत्याश्रय, जयसिंह, सोमेश्वर प्रथम, आहवमल्लदेव इतिहास सम्मत है परन्तु आदि पुरुष की दैवी उत्पत्ति दिखाई गई है। महाकाव्य में तिथियों का अभाव है तथा कालक्रम का उल्लेख ततः तदनन्तर जैसे शब्दों से ही किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि बिल्हण इतिहासकार की अपेक्षा काव्यकार अधिक थे।

काव्यत्व

विक्रमाङ्कदेवचरित एक सफल महाकाव्य है जिसमें महाकाव्य के नियमों का पूर्ण रीति से पालन हुआ है। कथानक प्रख्यात है तथा नायक को धीरोदात्त क्षत्रिय अंकित किया गया है। प्रधान रस वीर है, शृंगार तथा करुण अंग रसों के रूप में समाविष्ट हैं। सूर्योदय, सूर्यास्त, विभिन्न ऋतुएं, नगर, वन, उपवन, मृगया, जलक्रीडा, उत्सव आदि का वर्णन महाकाव्य के लक्षणानुसार हुआ है। बिल्हण कालिदास की भांति रसवादी हैं, अलङ्कारों का प्रयोग वे साध्य रूप में नहीं, भावों की सफल अभिव्यञ्जना के लिए साधन रूप में करते हैं।

विक्रमाङ्कदेवचरित के युद्धवर्णनों में वीररस की प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति हुई है। छठे सर्ग में तथा पन्द्रहवें सर्ग में वीररस के वर्णनों का बाहुल्य है। "विक्रम के तीखे तीखे कङ्कपत्रों से घायल योद्धा हाथियों पर से गिर गिर ऐसे प्रतीत होते हैं मानों प्रणाम कर रहे हों।"[१] "विक्रम और सोमेश्वर की सेनायें होड़ में एक दूसरे की ओर बढ़ती हुई परस्पर इस प्रकार गुथ रही हैं जैसे सागर की ओर दौड़ती हुई दो महानदियों का जल आपस में मिल गया हो।[२] किसी वीर ने मरते मरते भी शत्रु के मस्तक पर ठोकर लगाकर अपने जन्म का फल पा लिया है। महा-

---

१. कुलिशनिशितकङ्कपत्रभिन्नस्त्रिभुवनभीमभुजस्य राजसूनोः।
प्रतिभटकरटिस्थिताः प्रवीराः प्रणतिपरा इव सम्मुखा निपेतुः॥
विक्रमाङ्क ६.८७

२. अहमहमिकया प्रधाविताभ्यां मिलितममुष्य बलं तयोर्बलाभ्याम्।
सलिलमभिमुखं सहाम्बुराशेस्तदनुमहानदयोरिवोदकाभ्याम्॥
विक्रमाङ्क ६.६९

पुरुषों का प्रेम देहपिण्ड में न होकर यश में ही होता है। विक्रम और जयसिंह की सेनाओं का युद्ध हो रहा है। युद्ध के नगाड़े बजने पर दोनों पक्षों की सेनाओं की तलवारें ऊंची नीची होती हुई ऐसी शोभा देती हैं मानों मेघगर्जन से वैडूर्यभूमियों में रत्नांकुर उग आए हों।[1]

बिल्हण की रुचि वीररस से अधिक श्रृंगार रस की अभिव्यंजना में दिखाई देती है। विक्रम चन्द्रलेखा को लेकर वनविहार के लिए निकला है। वसन्त के मादक वातावरण में वह प्रेयसी को झूला झुलाता है। झूला झूलने के पश्चात् नायिका प्रियतम की गोद में विश्राम करने लगती है।[2] नायिका स्नान करके निकली है। नायक विक्रम रोमांचयुक्त होकर नायिका के गालों पर चित्रकारी करता है तथा उसके खुले हुए केशों को अपने हाथों से बांधता है।[3]

विप्रलम्भ श्रृंगार का उदाहरण चित्रलेखा के वर्णन में इस प्रकार मिलता है—'विक्रम के विरह में चित्रलेखा चम्पा के पुष्प के समान पीली पड़ गई। उस का शरीर कमजोर हो गया। सांस फूलने लगी। शरीर कांपने लगा।'[4]

विक्रमाङ्कदेवचरित के तीसरे सर्ग में वात्सल्यरस का तथा चतुर्थ सर्ग में करुण रस का भी समुचित समावेश है। रसांकन में बिल्हण को कालिदास या भवभूति के समकक्ष नहीं रखा जा सकता। जहां कालिदास मानव हृदय की गहरी अनुभूतियों का अंकन करने में सफल हैं वहां बिल्हण प्रायः उस गहराई को नहीं पकड़ पाते।

बिल्हण का प्रकृति वर्णन अति मनोरम है। अस्ताचल पर पहुंचे सूर्य को देख कर कवि कल्पना करता है—सूर्य के चरणों में कमलिनी के कांटे चुभ गये हैं, इसी लिए वह सागर तट तक पहुंचने को अस्ताचल के कन्धे पर आरूढ़ हो गया है।[5] रात के अन्धेरे को देखकर कवि कहता है—ब्रह्मा ने सूर्य रूपी दीपक को बुझा दिया है। दीपक के बुझने पर जो धुआं उठा था उसी ने मानों अन्धकार का रूप धारण कर लिया है।[6] उदय होता हुआ रक्ताभ चांद कवि को नन्हा बालक सा दिखाई देता है जिसने गैरिक धातुओं के पर्वत शिखर की धूलि में खेल खेल कर

---

१. रणदुन्दुभिमेघस्वनैः सुभटश्रेणिविदूरभूमयः।
अभवन्निसृतासिवल्लरीनवरत्नाङ्कुरकोटिदन्तुराः॥ विक्रमाङ्क १५.३

२. विक्रमाङ्क १०.१८

३. विक्रमाङ्क १८.७६

४. विक्रमाङ्क ९.३१.३३

५. कण्टकैरिव विदारितपादः पद्मिनीपरिचितैरपराद्रेः।
आरुरोह सरसीरुहबन्धुः स्कन्धमम्बुधितटीगमनाय॥ विक्रमाङ्क ११.२

६. भास्वति त्रिभुवनांगण ·· विक्रमाङ्क ११.१३

शरीर मटमैला कर लिया है।[1]

ग्रीष्म ऋतु में नदियों का जल सूख जाता है। कवि की कल्पना है कि पति से मिलन न होने के कारण नदियां सूख कर कांटा हो गई हैं। उनमें सूखा हुआ कीचड़ ऐसे प्रतीत होता है मानों उन्होंने विरहाग्नि शान्त करने को चन्दन लीप रखा हो।[2]

वर्षा ऋतु में विरहिजनों द्वारा मेघों को दिया उपालम्भ कितना हृदयस्पर्शी है—'अरे मेघ! तुम स्वयं तो अपनी प्रेयसी विद्युत् को अपनी गोद में उठाए रहते हो किन्तु अपने गर्जन से विरहिजनों को तड़पाते हुए तुम्हें तनिक दया नहीं आती। क्या तुम्हारी प्रियतमा भी तुम्हें ऐसा करने से रोकती नहीं? सच, तुम्हारा शरीर ही नहीं अपितु मन भी काला है।[3]

बिल्हण वैदर्भी रीति के प्रशंसक हैं तथा इसका प्रयोग करने में निपुण हैं। उनके मतानुसार वैदर्भी के प्रयोग के साथ साथ वैचित्र्य का समावेश भी काव्य में आवश्यक होता है।

पृथ्वीराजविजय

चाहमान नृप पृथ्वीराज के जीवनचरित पर आधारित पृथ्वीराजविजय एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इस महाकाव्य के रचयिता के नाम तथा जन्मस्थान के विषय में यही अनुमान है कि कवि का नाम जयानक था तथा उसकी जन्मभूमि कश्मीर थी। इस महाकाव्य के प्रारम्भिक पद्य तथा अन्तिम भाग अभी तक अनुपलब्ध हैं। सर्गान्त में भी कवि का नाम नहीं मिलता। महाकाव्य के बारहवें सर्ग में एक कवि जयानक का उल्लेख है जो कश्मीर से महाराज पृथ्वीराज की राजसभा में आता है।[4] प्रतीत होता है कि कश्मीरी कवि बिल्हण की तरह जिसने चालुक्यवंशी राजा विक्रमांकदेव का चरित लिखा है, यह कवि जयानक भी यश और अर्थ की प्राप्ति के लिए कश्मीर को छोड़कर निकल पड़ा होगा और तत्कालीन प्रसिद्ध चाहमान राजा पृथ्वीराज की शरण में जा पहुंचा होगा। निम्नलिखित कारणों से कवि कश्मीरी प्रतीत होता है।

१. इस महाकाव्य की शैली बिल्हण के विक्रमांकदेव चरित से बहुत मिलती

---

१. पाटलेन···विक्रमाङ्क ११.३८

२. दशामलब्धाब्धिसमागमाश्चिरं वियोगयोग्यामभजन्त निम्नगाः। वही, १३.८

३. न केवलं ते बहिरेव नीलिमा। वही, १३.५९

४. बिबुधश्च कविश्च शारदाय···मण्डलादयम्।
निगमागमतीर्थतापसप्रथमोद्यागतवाञ्जयानकः॥
पृथ्वीराजविजय सर्ग १२ पद्य ६३

है। सम्भव है बिल्हण को आदर्श मानकर ही कवि ने यह महाकाव्य लिखा है।

२. कवि ने कश्मीर भूमि की प्रशंसा की है जिससे उसका इस भूमि से लगाव प्रकट होता है। पृथ्वीराज के बाल्यवर्णन में कवि कहता है धात्री के कुच से उसके मुख में प्रवेश करते हुए कुंकुम ने उसके हृदय में शारदादेश के प्रति गाढ़ अनुराग को पहुंचा दिया।[1]

३. कश्मीर के ही एक कवि जोनराज ने इस महाकाव्य पर टीका लिखी है।

४. कश्मीर के लेखक जयरथ की विमर्शिनी में इस महाकाव्य को उद्धृत किया गया है।

५. जोनराज के समय में इस महाकाव्य की कई प्रतियां कश्मीर में विद्यमान थीं क्योंकि वह कई पाठ भेदों का उल्लेख करता है।

इस महाकाव्य के नाम से प्रतीत होता है कि इसकी रचना ११९१ ई० के कुछ समय बाद हुई होगी जब शहाबुद्दीन गौरी पृथ्वीराज से पराजित हुआ था। अन्तिम भाग अनुपलब्ध होने से यह घटना महाकाव्य में नहीं मिलती। ग्यारहवें सर्ग में गुर्जरदेश के राजा भीमदेव द्वारा गौरी की पराजय का वर्णन है। यह घटना ११७८ ई० की है अतः काव्य उसके बाद ही रचा गया होगा। ११९३ में पृथ्वीराज की मृत्यु हो गई थी अतः काव्य उस वर्ष से पूर्व ही रचा गया होगा।

पृथ्वीराज विजय के प्रथम सर्ग में कवि वाल्मीकि, व्यास, भास, विष्णुधर्म के रचयिता तथा एक समकालीन कवि विश्वरूप की प्रशंसा करता है। प्रतीत होता है कि जयानक को अपने समय के कुछ घमंडी पण्डितों का ईर्ष्यापात्र बनना पड़ा होगा। इसी से क्षुब्ध होकर कवि को कहना पड़ा है कि सरस्वती के नदी की तरह दो तट हैं एक कवित्व रूप और दूसरा पाण्डित्यरूप। एक तट पर तो अमृत मिलता है और दूसरे पर ईर्ष्यारूपी विष प्राप्त होता है—

कवित्वपाण्डित्यतटद्वयेन सरस्वती सिन्धुरिव प्रवृत्ता।
एकत्र पीयूषमयो रसोऽयमन्यत्र मात्सर्यविषात्मकोऽस्याः॥

उत्तम कवियों की कविता को शुद्ध करने का पण्डितों का प्रयास तो वैसा ही होता है जैसे कोई जल को शुद्ध करने को उसमें राख डाल दे—

विशोधने सत्कविभारतीनां
शुद्धोऽपि पाण्डित्यगुणो न योग्यः।
उत्क्षिप्यते भस्म विशुद्धकामै—
रपां हि पातव्यतयोद्धतानाम्॥

---

१. तस्य धात्रीकुचाज्जातु कुङ्कमं वदनं विशत्।
गाढतां शारदादेशानुरागं हृदयेऽनयत्॥

इसी सर्ग में पुष्कर का, वहां स्थित अजगन्ध महादेव नामक शिव मन्दिर का तथा प्राचीन यज्ञ कुण्डों के झीलों में परिवर्तित होने का वर्णन है। दूसरे सर्ग से सातवें सर्ग तक चाहमान वंश की उत्पत्ति का तथा पृथ्वीराज के पूर्वजों का वर्णन है। वंश के संस्थापक चाहमान की उत्पत्ति सूर्य-मण्डल से बताई गई है। तृतीय तथा चतुर्थ सर्गों में वासुदेव नृप की शाकम्भरी झील की यात्रा का वर्णन है। झील की उत्पत्ति की कथा भी इन्ही दो सर्गों में है। पंचम सर्ग में उल्लिखित वंशावली बिजोलिया अभिलेख में वर्णित वंशावली से पूरा मेल खाती है। केवल गुवाक के स्थान पर गोविन्दराज नाम तथा चन्द्रराज के स्थान पर शशिनृप नाम मिलते हैं। वंशावली इस प्रकार है।
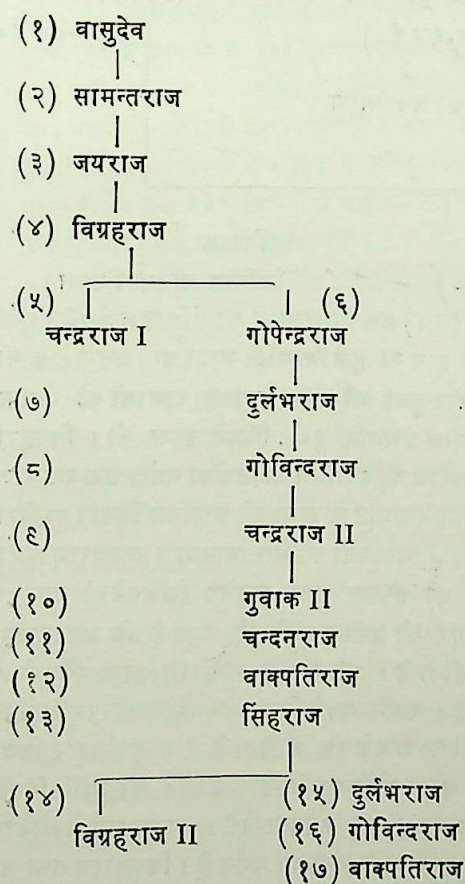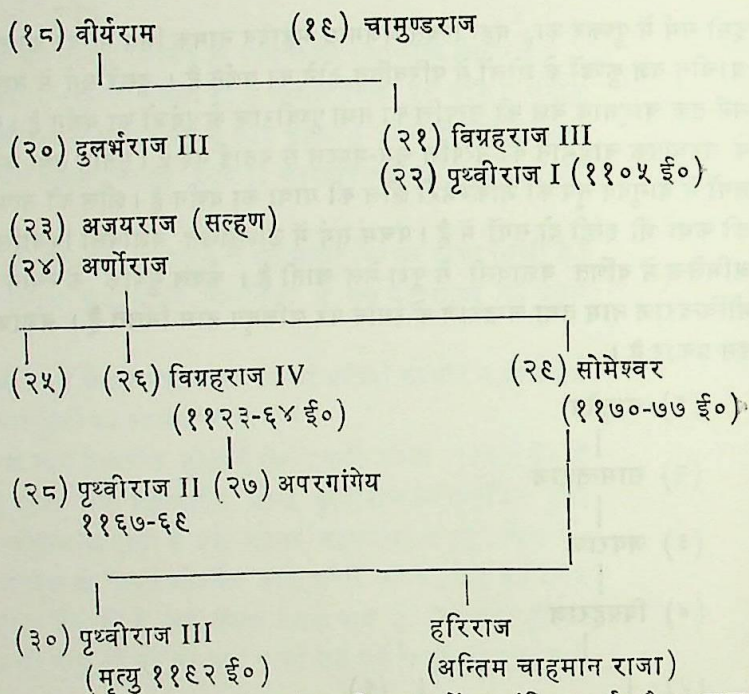
पंचम सर्ग में अजयराज (२३) तक के राजाओं का संक्षिप्त वर्णन है। गुवाक द्वितीय की बहन कलावती का हाथ बारह राजाओं ने चाहा था। उनमें से कन्नौज के राजा के साथ उसका विवाह हुआ और अन्य ग्यारह राजाओं को गुवाक ने ने पराजित किया। वाक्पतिराज प्रथम ने १८८ विजयें प्राप्त की। विग्रहराज द्वितीय ने गुजरात के राजा मूलराज को पराजित किया तथा नर्मदा तक कई राज्यों को जीता। वाक्पतिराज द्वितीय ने अघाट के राजा को पराजित किया। पृथ्वीराज प्रथम (२२) ने पुष्कर में ७०० चालुक्यों को मार भगाया। अजयराज (२३) ने मालवा के नृप सुल्हण को हराया तथा अजमेर (अजयमेरु) नगर की प्रतिष्ठा की। कवि ने इस नगर की प्रशंसा करते हुए कहा है कि यह इन्द्रपुरी अमरावती का पति प्रतीत होता है। छटे सर्ग में अर्णोराज द्वारा मलेच्छों को पराजित करने का विवरण है। उसने अपने पिता अजयराज की स्मृति में एक शिवमन्दिर बनवाया। अर्णोराज के बड़े पुत्र ने पिता के साथ दुर्व्यवहार किया। विग्रहराज साधुस्वभाव का था। सोमेश्वर के उत्पन्न होने पर ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि इसके यहां विष्णु अवतार लेंगे। सप्तम सर्ग में सोमेश्वर की विजयों का तथा पृथ्वीराज तृतीय के जन्म का वर्णन है। विग्रहराज तथा अन्य भाइयों की मृत्यु के पश्चात् सोमेश्वर ने राज्यभार संभाला परन्तु जल्दी ही उसका देहान्त हो गया। महारानी कर्पूरदेवी अपने पुत्रों की संरक्षिका के रूप में राज्य

कार्य चलाने लगी।

कर्पूरदेवी का चाचा भुवनायकमल्ल पृथ्वीराज तथा हरिराज की पर्याप्त सहायता करता रहा। दशम सर्ग में पृथ्वीराज तथा नागार्जुन के युद्ध का वर्णन है जिसमें नागार्जुन पराजित हुआ। मुहम्मद गौरी के भारत पर आक्रमण की सूचना भी इसी सर्ग में मिलती है। पृथ्वीराज क्रुद्ध होकर गौरी की कीर्ति को धूलि-धूसरित करने का निश्चय करता है। ग्यारहवें सर्ग में सूचना मिलती है कि गुजरात के राजा ने गौरी की सेनाओं को पराजित कर उन्हें पीछे धकेल दिया है। प्रसन्नता का वातावरण छा जाता है। पृथ्वीराज अपनी चित्रशाला में मन बहलाव के लिए जाते हैं। रामायण के चित्रों को दिखलाते हुए पृथ्वीभट्ट उन्हें बतलाता है कि ये सब उनके ही पूर्व जन्म के कार्य चित्रित हैं। तिलोत्तमा क चित्र को देखकर पृथ्वीराज के हृदय में अनुराग का अंकुर फूट पड़ता है। बारहवें सर्ग में कश्मीर से आए कवि जयानक का उल्लेख है। जयानक सरस्वती के निर्देश से पृथ्वीराज की सेवा करने की इच्छा से वहां पहुंचा है। हस्तलिखित प्रति यहीं तक उपलब्ध हुई है। जैसा कि महाकाव्य के शीर्षक से प्रतीत होता है, कथा पृथ्वीराज की गौरी पर प्राप्त विजय तक अवश्य चलती है अतः इस महाकाव्य में कुछ और अधिक सर्ग रहे होंगे जो अभी तक उपलब्ध नहीं हुए।

राजस्थान के इतिहास की दृष्टि से यह महाकाव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व कम नहीं। वसन्त का वर्णन अलङ्कारों के माध्यम से इस प्रकार किया गया है।

'शिशिर में रात्रि लम्बी थी अब वसन्त में छोटी हो गई है क्योंकि दिन के ताप में पसीने के कारण कमजोर हो गई है।

'मलयानिल पथिकों की आहों को बढ़ा रहा है और पथिकों की आहें मलयानिल की वृद्धि कर रही हैं। दोनों एक दूसरे की वृद्धि वैसे ही कर रहे हैं जैसे बादलों से समुद्र की तथा समुद्र से बादलों की वृद्धि होती है।'

'जो कार्य हर का शत्रु कामदेव भयंकर टंकारवाले धनुष को कुण्डलित कर नहीं कर सका उसे नवकेसर में रसपान करते हुए भंवरे ने झट कर दिया।'

प्रथम सर्ग में त्रिपुष्कर की प्रशंसा करते हुए कवि कहता है—यह त्रिपुष्कर कैलाशपर्वत से भी अधिक निर्मल, क्षीर समुद्र से भी अधिक अमृत बहाने वाला तथा नाभिकमल से भी अधिक पवित्र गन्धयुक्त कमलों से भरा है।'

'अजगन्ध नामक त्रिनेत्र देव उसी त्रिपुष्कर में रहता है मानो त्रिलोकी को पवित्र करने को प्रवृत्त हुई गंगा का दर्प दूर करना चाहता हो।'[1]

---

१. पृथ्वीराज विजय सर्ग १ पद्य ४२,३८

छटे सर्ग के युद्ध वर्णन में गौडी शैली का प्रयोग है।[१]

पंचमसर्ग के कुछ पद्यों में केवल दो या तीन अक्षरों का प्रयोग है—

नतेनतेतेन तेन तेन तेन नतेन ते।
नते नते तेन तेन ते नते न नते नते ।।[२]

'उस उसने तुम्हारे ऐश्वर्य को प्रणाम किया। उस विनम्रता के कारण वे अवनति को प्राप्त नहीं हुए। ऐश्वर्य तथा लक्ष्मी को प्राप्त किया।'

विभिन्न शब्दालंकारों तथा अर्थालङ्कारों का प्रयोग पंचम सर्ग में हुआ है। चन्द्रराज के पुत्र गुवाक का वर्णन मालारूपक तथा सन्देह अलंकारों द्वारा इस प्रकार किया गया है—उसका पुत्र गुवाक हुआ जो सभी राजाओं रूपी सूर्यों का जीमूत, सभी दिशाओं रूपी लताओं का वसन्त, सभी द्वीपों रूपी मण्डलों का यामिक था।[३] अपनी बहन को सर्वस्व देने वाला वह नृप बारह राजाओं को जीत कर यम है या कुबेर यह सन्देह उत्पन्न कर रहा था।[४] गोविन्दराज के यश मानों दिगङ्गनाओं को शीतल करने को पूर्वाद्रि में चन्द्रोदय की तरह, मलय में चन्दन की तरह, मन्दर में क्षीर सागर की तरह तथा हिमालय में हिम की तरह आचरण करते हैं।[५]

श्लेष के माध्यम से कवि ने कई सुन्दर संकेत दिए हैं। चतुर्थ सर्ग में वासुदेव की मृगया का वर्णन करते हुए कादम्बरी की कथा की ओर संकेत है—

क्योंकि उस राजा ने पुण्डरीक [(१) कादम्बरी का एक पात्र मुनिपुत्र, (२) व्याघ्र] का वध किया अतः वह चन्द्रापीड प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। मृगया के व्यसन के कारण वह दूर तक गया परन्तु आश्चर्य है कि मन से भी कादम्बरी

---

१. बभूव यावानवनेः पुरस्ताद्भारस्तुरुष्कैर्व्यसुभिर्लुठद्भिः।
तावानभून्मेदुरितोदरीणां तत्पारणाद्धारणतश्शिवानाम् ।।
पृथ्वीराज विजय, ६.६

हृतप्रसारीकृतनष्टाशिष्टप्रविष्ठतौरुष्कतुरङ्गमापि।
सेना चकाराजयराजभूनोरुच्चैश्श्रवस्सर्गमयीरिवाशाः ।। वही ६.१४

२. वही सर्ग ५ पद्य १०

३. वही सर्ग ५ पद्य २३

४. वही सर्ग ५ पद्य ३२

५. चन्द्रोदयन्ति पूर्वाद्रौ मलये चन्दनन्ति च।
मन्दरे क्षीरपूरन्ति तुषारन्ति हिमालये ।।
यशांसि शीतलीकर्तुमिच्छयेव दिगङ्गनाः।

[(१) कादम्बरी की नायिका (२) मदिरा] को न पा सका।[1] अष्टम सर्ग में पृथ्वीराज जन्म के उत्सव का वर्णन करते हुए कवि ने इस ओर संकेत किया है कि उसके पिता ने गुणिजनों को पर्याप्त धन देकर सन्तुष्ट किया था। हम से उत्पन्न गुण युक्त [(१) तन्तुओं से युक्त कमल (२) गुणों से युक्त विद्वज्जन] कमलों ने लक्ष्मी का वरण किया है यह जान कर सरोवर विमल हो गये।[2]

कल्हणकृत राजतरङ्गिणी

कल्हणकृत राजतरङ्गिणी प्राचीन कश्मीर का एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य है जो अपनी काव्यसुषमा के साथ साथ कश्मीर भूमि का आदिकाल से लेकर ११५० ई० तक का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करता है। कल्हण के पिता चम्पक तत्कालीन कश्मीरनरेश हर्षदेव के अमात्य थे, उसके चाचा कनक भी हर्ष के राज्य में उच्च अधिकारी थे। हर्ष की हत्या के पश्चात् स्वामिभक्त चम्पक ने राजकार्य से सँन्यास ले लिया। उज्जल तथा सुस्सल इन दो डामर भाइयों ने रक्तरंजित होली खेल कर कश्मीर के राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया। कल्हण ने राजदरबार से अपना नाता नहीं जोड़ा। एक निष्पक्ष द्रष्टा की न्याईं वह देखता रहा उस युग को जिसमें राजनैतिक षडयन्त्रों का बोलबाला था, अनाचार, अत्याचार का राज्य था। उसे राजनैतिक घटनाओं को समझने की सूक्ष्म बुद्धि विरासत में मिली थी उसकी पैनी दृष्टि ने राजकीय जीवन को समीप से देखा और बूझा था। आढ्य ब्राह्मणवंश में उत्पन्न होकर उसने अपने प्राचीन साहित्य का तथा अपने देश की परम्पराओं का गहन अध्ययन भी किया था। उसने निश्चय कर लिया अपनी मातृ-भूमि के उत्थान और पतन की, विकास और ह्रास की सच्ची कहानी लिखने का। आठ तरङ्गों में विभक्त ७८२६ पद्यों में प्रस्तुत यह अद्वितीय गाथा कश्मीर की राजनैतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों को जानने के लिए अमूल्य स्रोत है।

राजतरंगिणी का रचनाकार्य सन ११४८ ई० में प्रारम्भ किया गया था तथा सन् ११५० ई० में समाप्त हुआ। यदि रचना के समय कल्हण की आयु चालीस वर्ष मानी जाए तो कल्हण का जन्म बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में रखा जा

---

१. यत्पुण्डरीकमवधीत्तत एव चन्द्रा-
पीडोयमित्यधिजगाम यशस्स राजा।
दूरं गतस्तु मृगयाव्यसनेन चित्रं
कादम्बरीं न मनसापि कदाप्यपश्यत्॥ वही सर्ग ४ पद्य १४

२. गुणवद्भिर्वृता लक्ष्मीः पद्मै रस्मत्प्रसूतिभिः।
इति वैमल्यमाजग्मुरव्याजं सलिलाशयाः॥

सकता है।

राजतरंगिणी इतिहास ग्रन्थ भी है और महाकाव्य भी। महाकवि कल्हण ने इस ग्रन्थ में किसी एक राजा को नायक बनाकर उसका चरित्र प्रस्तुत करने के स्थान पर कश्मीर भूमि का अविच्छिन्न इतिहास प्रस्तुत किया है। राजतरंगिणी नाम इसी अनवरत धारा को प्रकट करता है जिसमें राजा आते हैं चले जाते हैं परन्तु शासन का क्रम टूटता नहीं।' सरिता की तरङ्गें उठती हैं, गिरती हैं, कभी शान्त भाव से, कभी भंवरों में चक्कर खाती हुई। नदी का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है, पुराने जल को आगे धकेलता हुआ और नवीन जल को स्वीकारता हुआ। कभी यह जल निर्मल होता है कभी मटमैला परन्तु जलधारा अनवरत गति से निरन्तर चलती रहती है। ऐसा ही होता है किसी देश का इतिहास! कभी शांत जनजीवन होता है, कभी रक्तरंजित क्रान्तियां, कभी कोई निर्मल गुणों से युक्त शासक जनता को सुखी कर देता है, कभी कोई आततायी उसे आतंकित कर देता है; कभी शासन की जलधारा मर्यादा में रहती हुई, खेतों उपवनों को सींचती हुई, उन्हें समृद्धि से भर देती है तो कभी सीमाओं का उल्लंघन कर हरे-भरे पादपों को गिरा देती है। सुख-दुःख की तरङ्गों की कलकल ध्वनि करती हुई यह राजतङ्गिणी बहती चली जाती है। अविशृंखल इतिहास के प्रतीक के रूप में यह सार्थक नाम सचमुच कवि कल्हण की मौलिक सूझ है।

इस महाकाव्य की रचना का प्रयोजन बताते हुए कल्हण ने कहा है कि पूर्वकाल में लिखे गये विस्तृत इतिहास को सुव्रत ने संक्षिप्त किया था। वे प्राचीन इतिहास लुप्त हो गये।[1] हेलाराज ने बारह हजार श्लोकों में पार्थिवावलि की रचना की थी। पद्ममिहिर ने अशोक के पूर्ववर्ती आठ राजाओं का वर्णन अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया था। श्रीच्छविल्लाकर ने अशोक के परवर्ती पांच राजाओं का वर्णन किया था। क्षेमेन्द्र ने नृपावली में अनेक राजाओं का विवरण दिया था जो कल्हण की दृष्टि में दोषपूर्ण था। प्रतीत होता है कि कश्मीर में इतिहास लिखने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही थी। कल्हण के समय में कुछ इतिहास ग्रंथ विद्यमान थे, कुछ लुप्त हो चुके थे। समकालीन इतिहास की सामग्री उसे सरलता से उपलब्ध थी। उसके पिता चम्पक और चाचा कनक ने हर्ष के राज्यकाल की घटनाओं को प्रत्यक्ष देखा और भोगा था। स्वयं कल्हण ने राजतरंगिणी की समाप्ति तक जय-सिंह के राज्य के बाईस वर्ष देखे थे। उसने नीलमतादि प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त शिलालेखों, दानपत्रों, प्रशस्तियों तथा अन्य ऐतिहासिक स्रोतों का स्वयं परीक्षण

---

[1] विस्तीर्णा प्रथमे ग्रन्थाः स्मृत्यै संक्षिपतो वचः।
सुव्रतस्य प्रबन्धेन च्छिन्ना राजकथाश्रयाः॥

कल्हण राजतरङ्गिणी तरङ्ग १, पद्य ११

किया था।[1] विद्वता और इतिहास लिखने के लिए साधन सम्पन्नता के अतिरिक्त उसे इतिहासकार की निष्पक्ष दृष्टि भी प्राप्त थी। आदर्श इतिहासकार की प्रशंसा करते हुए वह कहता है—'वही गुणयुक्त लेखक प्रशंसनीय है जिसकी वाणी राग द्वेष से उपर उठकर एक न्यायमूर्ति की तरह अतीत की घटनाओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है।[2] इतिहास लेखन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कल्हण उस कविकर्म को नमस्कार करता है जिसके बिना उन प्रतापशाली राजाओं की स्मृति भी शेष न रहती जिनकी बलवती भुजाओं की छाया में समुद्रवेष्ठित मेदिनी निर्भय थी।[3] पूर्वरचित इतिहास ग्रन्थों की त्रुटियों के निवारण के लिए तथा अपने निजी अनुभवों को लिखित रूप देने के लिए कल्हण ने लेखनी उठाई और सचमुच राजतरंगिणी के रूप में एक ऐसा इतिहास ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया जिस पर कश्मीर भूमि को ही नहीं पूरे भारत को गर्व है।

राजतरंगिणी में आठ तरङ्ग हैं। महाभारतकाल से लेकर ११०३ ई० तक का इतिहास तो प्रथम छः तरङ्गों के ३०४५ पद्यों में वर्णित है तथा १४६ वर्षों का इतिहास अन्तिम दो तरंगों के ५१८१ पद्यों में संगृहीत है। प्रथम तरंग में गोनन्द प्रथम से लेकर अन्ध युधिष्ठिर तक के ७५ राजाओं का वर्णन किया गया है। दूसरी तरंग में छः राजाओं प्रतापादित्य, जलौकस, तुंजीन प्रथम, विजय, जपेन्द्र तथा सन्धिमति के शासन काल का वर्णन है। तृतीय तरंग में दस राजाओं मेघवाहन, तुंजीन द्वितीय, हिरण्यतोरमाण, मातृगुप्त, प्रवरसेन द्वितीय, युधिष्ठिर द्वितीय, लखन नरेन्द्रादित्य, रणादित्य (तुंजीन तृतीय) विक्रमादित्य तथा बालादित्य का इतिहास है। यह इतिहास भाग पौराणिक गाथाओं तथा जनश्रुतियों पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से सदोष है। तृतीय तरंग में रणादित्य का राज्यकाल तीन सौ वर्ष बताया है जो अविश्वसनीय है। प्रथम तीनों तरंगों की कालगणना त्रुटिपूर्ण है, अशोक के काल में १३८० वर्षों का अन्तर दिखाई देता है। कुशान राजाओं हुष्क, जुष्क तथा कनिष्क का काल कल्हण ने बुद्ध के परिनिर्वाण के १५० वर्ष बाद रखा है। यदि इस गणना को स्वीकार करें तो

---

१. दृष्टैश्च पूर्वभूभर्तृ प्रतिष्ठावस्तु शासनैः।
प्रशस्तिपट्टैः शास्त्रैश्च शान्तोऽशेषभ्रमक्लमः : राजत० तरंग १, पद्य १५

२. श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती ॥ वही, पद्य ७

३. भुजवनतरुछायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ॥ वही, पद्य ४६

कुशान वंशी राजाओं का काल ईसा पूर्व ४१६ वर्ष होता है जो ठीक नहीं। भारत पर सिकन्दर के आक्रमण का वह कोई उल्लेख नहीं करता। चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे सम्राट् का नाम नहीं लेता। सम्भवतः उस प्राचीन काल के विषय में प्रामाणिक सामग्री उसे उपलब्ध न थी। इसी कारण प्रथम तीन तरंगों का वर्णन अस्पष्ट तथा अव्यवस्थित है अनेक पौराणिक तथा चामत्कारिक कथानकों का समावेश इन तरंगों में हुआ है। चतुर्थ तरंग में कर्कोट वंश के प्रथम राजा दुर्लभवर्धन के राज्याभिषेक से लेकर उत्पलापीड तक १७ राजाओं का वृत्तान्त है। पंचम तरंग में उत्पलवंश के अवन्तिवर्मा, शंकरवर्मा, गोपालवर्मा, संकटवर्मा, रानी सुगन्धा, निर्जितवर्मा, चक्रवर्मा, शूरवर्मा, पार्थ, शम्भुवर्धन, तथा उन्मत्तावन्ति के राज्यकाल का वर्णन है। छटी तरंग में राजा यशस्कर से लेकर रानी दिद्दा तक दस राजाओं का इतिहास है। यह काल ९३६ ई० से १००३ तक है। सप्तम तरंग में लोहरवंश के ६ राजाओं का वर्णन है तथा अष्टम तरंग में उच्चल, सुस्सल, भिक्षाचर तथा जयसिंह के राज्यकाल का आंखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय तरंग के पश्चात् राजतरंगिणी में वर्णित इतिहास प्रामाणिकता की ओर बढ़ता गया है। चतुर्थ तरंग में जयापीड के पश्चात् कालगणना सुधरती दिखाई देती है। पंचम तरंग से लेकर अष्टम तरंग तक के राजाओं के शासनकाल के वर्ष मास तथा दिन तक भी दिये गये हैं। प्रथम तीन तरंगों की कल्पना भूमि से उतर कर कल्हण आगे की तरंगों में यथार्थ के धरातल पर टिका है। पक्षपात और संकीर्णता से परे हट कर उसने प्रत्येक घटना को आलोचक की दृष्टि से देखा और परखा है। कलश जैसे दुष्ट अत्याचारी राजा के पुण्य कर्मों का उल्लेख करने में भी वह झिझकता नहीं और ललितादित्य जैसे वीर पराक्रमी की दुर्बलताओं को छिपाने का प्रयास भी नहीं करता। अपने पिता के आश्रयदाता राजा हर्ष के गुणों और दोषों का यथार्थ वर्णन करने से उसकी लेखनी चूकती नहीं। वह स्पष्ट कहता है—अब राजा हर्ष की चर्चा जा रही है जो करुणा के प्राधान्य से सुभग है परन्तु हिंसा के बाहुल्य के कारण भयंकर है, जो सत्कार्यों की बहुलता के कारण ललित है परन्तु पापकार्यों के कारण कलंकित है। यह कथा स्पृहणीया भी है और वर्ज्या भी, वन्दनीया भी है और निन्दनीया भी। कवि एक ओर तो शीर्ण धर्मस्थानों की मुरम्मत कराने के कारण उच्चल की प्रशंसा करता है, दूसरी ओर ईर्ष्या और कटु वाणी के कारण उसकी निन्दा करता है। स्वयं कश्मीरी ब्राह्मण होने पर भी वह कश्मीरियों की भीरुता, संग्राम से पलायनवृत्ति, परस्पर कलह, क्षुद्रता आदि का विवरण देने में नहीं झिझकता। कश्मीरी ब्राह्मणों के अनुचित व्यवहारों की स्पष्ट निन्दा करता है। प्रायोवेशन (मरणव्रत) का दुरुपयोग करने वाले पुरोहितों की उसने खूब खिल्ली उड़ाई है।

राजतरंगिणी केवल राजाओं का इतिहास नहीं है। कश्मीर की संस्कृति का,

वहां के लोगों के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन का विशद चित्रण इस महाकाव्य में मिलता है। कल्हण के समय में कश्मीर में शैव मत की प्रधानता थी परन्तु सभी सम्प्रदायों मत मतान्तरों को अपने-अपने विचारों के अनुसार चलने की स्वतंत्रता थी। हिन्दुधर्म के शैव, शाक्त, पाशुपत, वैष्णव आदि सम्प्रदायों के साथ-साथ बौद्ध-धर्म, जैन धर्म आदि को भी समान रूप से आदर प्राप्त था। अनेक कश्मीरनरेशों द्वारा बौद्ध चैत्यों तथा विहारों के निर्माण का उल्लेख प्रशंसात्मक ढंग से किया गया है। देवस्थानों की सम्पत्ति का हरण करने वाले राजाओं की कल्हण ने निन्दा की है। प्रजापीडक राजा कुल सहित नष्ट हो जाते है। नष्ट-भ्रष्ट को पुनः स्थापित करने वाले राजाओं के पीछे लक्ष्मी चलती है।[1] योग्य व्यक्तियों का समुचित सम्मान करने वाले राजा कवि की प्रशंसा के पात्र हैं। ललितादित्य मुक्तापीड ने देश विदेश से विद्वानों को इकट्ठा करके अपने यहां सम्मानित किया था। तुषार से आया हुआ विदेशी चंकुण उसके राज्य में मन्त्रीपद को सुशोभित कर रहा था।[2] उसने अपने नाम से चंकुण विहार बनवाया था जहां ललितादित्य द्वारा लाई गई बुद्धमूर्ति की स्थापना की थी। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त कश्मीर की धार्मिक सहिष्णुता के परिचायक हैं। राजा जयापीड ने देश-देशान्तरों से विद्वानों को कश्मीर में लाकर महाभाष्य का तथा अन्य विद्याओं का प्रचलन करवाया था।[3] ललितादित्य तथा अवन्ति वर्मा जैसे राजाओं के प्रजाहित-कारी रचनात्मक कार्यों की कल्हण ने प्रशंसा की है[4] तथा शंकरवर्मा की प्रजापीडक नीति की भर्त्सना की है। शंकरवर्मा ने ग्रामों में दरिद्रता की दूती बनकर आने

---

१. ये प्रजापीडनपरास्ते विनश्यन्ति सान्वयाः।
नष्टं तु ये योजयेयुस्तेषां वंशानुगाः श्रियः॥ राजत० तरंग १, पद्य १८८

२ संजग्राह स देशेभ्यस्तांस्तानन्तरविन्नरान्।
विकचान्सुमनःस्तोमान्पादपेभ्य इवानिलः॥
तेन कङ्कणवर्षस्य रससिद्धस्य सोदरः।
चङ्कुणो नाम तुःखारदेशानीतो गुणोन्नतः॥ वही, तरंग ४, पद्य २४५, २४६

३. समग्रहीत्तथा राजा सोऽन्विष्य निखिलान् बुधान्।
विद्वद्दुर्भिक्षमभवद् यथाऽन्यनृपमण्डले॥ वही, पद्य ४९३
देशान्तरादागमय्य व्याचक्षाणान् क्षमापतिः।
प्रावर्तयत विच्छिन्नं महाभाष्यं स्वमण्डले॥ वही, पद्य ४८८

४. चक्रे चक्रधरे तेन वितस्ताम्भः प्रतारणम्।
विनिर्मायारघट्टालीस्तांस्तान्ग्रामान्प्रयच्छता॥ वही, तरंग ५ पद्य १९१
अदेवमातृवान्कामान्परीक्ष्य विविधाः क्षितीः।
संविभेजे विभक्तेन नादेयेन स वारिणा॥ वही, पद्य १०९

वाली बेगार प्रथा को चलाया, विद्वानों का अनादर किया, कायस्थों के माध्यम से प्रजा की लूट खसोट की, इसी कारण कल्हण ने उसकी दुर्नीतियों का विवरण देने के पश्चात् प्रजा के अभिशाप को उसके पुत्रों की मृत्यु का कारण बताया है तथा कहा है कि प्रजा का बुरा करने वाले राजाओं का वंश, लक्ष्मी, प्राण, स्त्री तथा नाम भी क्षण में लुप्त हो जाते हैं।[१]

प्रजा के साथ पूर्ण न्याय करने वाले धर्मात्मा नृप चन्द्रापीड की स्तुति करते हुए कल्हण ने उसके राज्य की एक घटना का वर्णन किया है। राजा त्रिभुवन-स्वामी मन्दिर बनाना चाहता था। एक चर्मकार की कुटिया उस स्थान के बीच पड़ती थी। धन लेकर कुटी बेचने को चर्मकार तैयार न हुआ। राजा ने जबरदस्ती नहीं की। उसे सादर बुलाकर प्रार्थना की। चर्मकार ने उत्तर दिया—'यदि आप मेरी कुटी पर आकर कुटी के लिए भिक्षा मांगे तो मैं कुटी दान कर दूंगा।' राजा स्वयं उसकी कुटी पर पहुंचा और कुटी की भिक्षा मांगी। चर्मकार ने प्रसन्नता से कुटी दे दी।[२] यह घटना न्याय के समक्ष राजा तथा प्रजा के समान स्तर को प्रकट करती है। प्रभुसत्ता राजा के व्यक्तित्व में नहीं विधि, आचार और परंपरा में प्रतिष्ठित थी। राजा प्रजा के स्वाभिमान को ठुकरा नहीं सकता था, न्याय-संहिता का उल्लंघन नहीं कर सकता था। राजा मन्त्रिपरिषद् तथा पुरोहित परिषद् की अवहेलना नहीं करता था। राजा अन्ध युधिष्ठिर के राज्यत्याग कर चले जाने पर मन्त्रिपरिषद् ने विक्रमादित्य वंशज प्रतापादित्य को दूसरे देश से ला कर राजा बनाया था।[३] परलोकचिन्तन में मग्न राजा सन्धिमति ने जब मन्त्रियों की इच्छानुसार सभा में उपस्थित जनता और मन्त्रिपरिषद् को अपना राज्य समर्पित कर दिया, तो प्रजा ने मन्त्रियों के माध्यम से गान्धार देश के राजकुमार मेघवाहन को आमन्त्रित करके उसे कश्मीर के राज्यसिंहासन पर प्रतिष्ठित कर

---

१. वंशः श्री र्जीवितं दारा नामापि पृथिवीभुजाम्।
क्षणादेव क्षयं याति प्रजाविप्रियकारिणाम्।। राजत० तरंग ५, पद्य २११

२. कल्हण राजतरंगिणी तरग ४, पद्य ५५-७६
आजन्मनः साक्षिणीयं मातेव सुखदुःखयो।
मठिका लोठ्यमानाऽद्य नेक्षितुं क्षम्यते मया।। वही, पद्य ७१

१. अथ प्रतापादित्याख्यस्तैरानीय दिगन्तरात्।
विक्रमादित्यभूभर्तु र्ज्ञातिरत्राभ्यषिच्यत।। राजतरंगिणी, तरंग २, पद्य ५

दिया।[1]

मम्म आदि मन्त्रियों ने अजितापीड को हटाकर अनंगपीड को सिंहासन दिया था।[2] अजितापीड के पुत्र उत्पलापीड के राज्य में प्रजाविप्लव हुआ जिसकी शान्ति के लिए शूर नामक मन्त्री ने सुखवर्मा के पुत्र अवन्तिवर्मा को नृपति बना दिया।[3]

राजा ललितादित्य ने एक बार मदिरा के नशे में मन्त्रियों को प्रवरपुर को जला देने का आदेश दे दिया था। मन्त्रियों ने आज्ञा का उल्लंघन किया। प्रातः मदिरा का नशा उतरने पर राजा मन्त्रियों पर प्रसन्न हुआ और उन्हें आदेश दिया कि यदि वह नशे में कोई आज्ञा दे तो उसका पालन न किया जाये।[4] कल्हण ने ऐसे निरंकुश राजाओं की भर्त्सना की है जो मन्त्रियों को गलत कामों में अनुमति देने को बाध्य करते थे। चक्रवर्मा ने पितृवध के लिए अनुमति देने वाले मंत्रियों को पट्ट प्रदान किए और न अनुमति देने वालों को कैद कर लिया।[5] पार्थ की हत्या जिस क्रूरता से की गई उसका वर्णन रोमांचकारी है। क्रूर बेटा मरे पिता के शव के साथ दुर्व्यवहार होता देखकर प्रसन्न होता रहा। ऐसे पापी के विषय में कल्हण लिखता है कि जब अपने क्रूर पापों के अनुरूप वह क्षयरोग से पीड़ित होकर अंत में तड़पता हुआ मरा तो उसकी व्यथा को देखकर प्रजा ही नहीं अन्तःपुर की चौदह रानियां

---

१. इति संचिन्तयन्नन्तः सर्वत्यागोन्मुखोनृपः।
मनोराज्यानि कुर्वाणो दरिद्र इव पिप्रिये॥ राजतरंगिणी, तरंग २, पद्य १५८
अन्येद्युः प्रकृतीः सर्वाः संनिपत्य सभान्तरे।
ताभ्यः प्रत्यर्पयन्न्यासमिव राज्यं सुरक्षितम्॥ वही, पद्य १५९
अथोल्लसत्पृथुश्लाघमानिन्युर्मेघवाहनम्।
गान्धारविषयं गत्वा सचिवाधिष्ठिताः प्रजाः॥ वही, तरंग ३, पद्य २

२. अथोत्पाट्याजितापीडं संग्रामापीडसंभवः।
अनङ्गापीडनामा कृतो मम्मादिभिर्नृपः॥ वही, तरंग ४, पद्य ७०७

३. ततः शूराभिधो मन्त्री सुखवर्मात्मजेऽकरोत्।
राज्ययोग्योऽयमित्यास्थां सगुणेऽवन्तिवर्मणि॥ वही, तरंग ४, पद्य ७१५
एकत्रिंशे स वर्षेऽथ प्रजाविप्लवशान्तये।
विनिवार्योत्पलापीडं तमेव नृपतिं व्यधात्॥ वही, तरंग ४, पद्य ७१६

४. कार्यं न जातु तद्वाक्यं यत्क्षीबेण मयोच्यते। वही, तरंग ४, पद्य ३२०

५. उद्यतः पितरं हन्तुं मन्त्रिणोऽनुमतप्रदान्
बद्धपट्टान्व्यधाद्बद्धनिगडानितरान्पुनः॥ वही, तरंग ५, पद्य ४०३

भी सन्तुष्ट हुईं।[१]

महाकाव्य के रूप में राजतरङ्गिणी, रामायण तथा महाभारत की सरस सरल शैली का अनुकरण करती है। कल्हण रसवादी कवि है और उसकी दृष्टि में शांत रस का विशेष महत्त्व है। राजनैतिक उथल-पुथल, उलट फेर, मानवों की पराश्रयता, विश्वासघात, कृतघ्नता, स्वार्थपरता, नैतिक नियमों की अवहेलना, राजाओं का उत्थान पतन, प्रजा की विवशता, कहीं अन्याय कहीं उत्पीडन यह सब देखकर कवि भाग्यवादी बन गया है। राजभवनों में होते षडयन्त्र, लालची कर्मचारियों के कलह, देवस्थानों की लूट-खसूट, आडम्बरों का बोलबाला, यह सब देख कर कल्हण की आत्मा रो उठी है और कवि की यह वेदना कई स्थलों पर प्रकट हुई है। कवि यह सोचकर दुःखित है कि उसकी मातृभूमि जो कुलवधू की तरह सम्मानित थी अब वेश्या की तरह दुष्टों के हाथों जा पड़ी है।[२] कल्हण की शैली में रस, अलंकार, भाषा और भाव का सुन्दर समन्वय है। भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से बिल्हण की आलंकारिक शैली की अपेक्षा कल्हण की शैली कहीं अधिक प्रभावोत्पादक तथा सशक्त है। घटनाओं का सजीव वर्णन साक्षात् दृश्य उपस्थित कर देता है। उदाहरणार्थ—

जिसने भूख से बिलखते पुत्र को, दूसरों के घर में नौकरी करती वधू को, आपत्ति में पड़े मित्र को, दुही जाने के बाद चारे के अभाव में रम्भाती हुई गौ को, पथ्य के अभाव में मरणोन्मुख माता-पिता को और शत्रु द्वारा विजित अपने स्वामी को देख लिया है, उसे नरक में भी इससे अधिक बुरा देखने को क्या मिलेगा?

दुर्भिक्ष का वर्णन करते हुए कवि लिखता है भूख से कंकाल हुए जनप्रेतों का वह समूह नरक के प्रकार तुल्य लगता था। भूख से सताया हर कोई अपना पेट भरने की सोचता था। सब भूल गये थे पत्नी का प्यार, पुत्र का स्नेह तथा माता-पिता की उदारता। गरीबी की मार ने और भूख की आग ने कुल गौरव, स्वाभिमान, लज्जा सब विस्मृत करा दिया था। गले में अटके प्राणों वाले याचना करते हुए दुर्बल पुत्र को पिता तथा पिता को पुत्र त्याग कर अपना पेट भर रहा था। भोजन के लिए परस्पर लड़ते हुए वे अस्थिपिंजर नरकंकाल प्रेत युद्ध का दृश्य उपस्थित कर रहे थे। करुण रस की पराकाष्ठा है। दुर्भिक्ष में भूख से पीडित तथा बर्फ पड़ जाने के कारण देश से बाहर न जा सकने वाले लोगों की उपमा कवि वन्द

---

१. व्यथया तस्य तादृश्या प्रजा एव न केवलम्।
तुतुषुर्निजशुद्धान्तमहिष्योऽपि चतुर्दश॥ वही, तरंग ५, पद्य ४४४

२. वही, तरंग २, पद्य २०-२४

द्वार वाले घोंसले में स्थित पक्षियों के साथ देता है।[1]

राजतरङ्गिणी में अलंकारों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति को सशक्त बनाने के लिए हुआ है, पाण्डित्यप्रदर्शन के लिए नहीं। कल्हण की उपमायें इतनी रोचक हैं कि पाठक के मन पर गहरा प्रभाव डालती हैं। डामर भिक्षाचर को अपने सैनिकों के संरक्षण में लहर ले आये जैसे बराती वर को उसके ससुर के घर ले आते हैं। कितनी घरेलू उपमा है। राजा यशस्कर के विषय में कल्हण लिखते हैं—वह जनता को विनय का उपदेश देते हुए अपनी दुर्नीतियों के कारण उसी प्रकार हास्यास्पद बन गया जैसे को दूसरों पथ्य का उपदेश करते हुए कुपथ्य-भोजी वैद्य।[3] प्रकृति की तुलना मानवों के साथ करते हुए कवि ने प्रकृति और मानव में निकट सम्बन्ध स्थापित किया है। राजा हर्ष ने मूर्खतावश नगर के चारों ओर लगे हरे भरे वृक्षों को कटवा दिया। कल्हण उन वृक्षों का वर्णन इस प्रकार करते हैं – गृहस्थों की तरह फूलों तथा फलों से लदे हुए वृक्ष हर जगह धराशायी कर दिये और कुटुम्बियों के समान भंवरे रुदन करने लगे।[4] राजा रणादित्य द्वारा पुष्करिणी तट पर देखी गई रमणी के चरणों का वर्णन कवि श्लेषाश्रित उत्प्रेक्षा के माध्यम से इस प्रकार करता है—कठिनाई से चल पाते हुए उसके चरण जो यव के आहारी अथवा यावक (अलते) से सुन्दर थे, स्तनों की ओट में छिपे मुख को देखने को मानों तपस्या कर रहे थे।[5]

युधिष्ठिर तथा उसकी रानियां जब कश्मीर की धरती को छोड़कर जाने को बाध्य होते हैं, वह करुणरस भरा वर्णन पाठक की आंखों को गीला कर देता है।[6] सीमान्तपर्वत तट से दूर होते हुए कश्मीर मण्डल को रानियों ने देर तक देखा। अन्तिम बार उस भूमि की पुष्पों से पूजा की। तब गिरिकन्दराओं के स्वनीडस्थित पक्षियों ने बड़े वेग के साथ पृथ्वीतल पर पंख फैलाकर नमित-

---

१. कल्हण राजतरङ्गिणी, तरंग २, पद्य ३८

२. वही, तरंग ८, पद्य ७२४

३. वही, तरंग ६, पद्य ६८

४. वही, तरंग ७, पद्य २०२

५. यावकाहारिणौ पादौ दधतीं कृच्छचारिणौ।
स्तनच्छन्नमुखं द्रष्टुं तपस्यन्ताविवाऽन्वहम्॥ वही, तरंग ३, पद्य ४१५

६. पर्यन्ताद्रितटाद्विलोक्य सुचिरं द्रीभवन्मण्डलं
द्रागामन्त्रयितुं क्षिपत्सु नृपतेर्दारेषु पुष्पाञ्जलीन्।
क्षोणीपृष्ठविकीर्णपक्षति नमत्तुण्डं स्वनीडस्थितैः
सावेगं गिरिकन्दरासु पततां वृन्दैरपि क्रन्दितम्॥ वही, तरंग १, पद्य ३७१

चंचु होकर क्रन्दन किया। कल तक जो राजमहिषी थीं, आज निराश्रित होकर देशनिर्वासित हो रही थीं। जिस भूमि में उन्होंने अपने सुखमय वचपन और यौवन के सुनहले दिवस बिताये थे, उससे सदा के लिए विदा ले रही थीं। इस करुण दृश्य को देखने वाला, उन्हें धीरज के दो शब्द कहने वाला कोई मानव वहां नहीं था। कवि ने गिरि कन्दराओं के पक्षियों को रुलाकर एक ओर तो करुण को चरम सीमा तक पहुंचाया है, दूसरी ओर मानव और पक्षिजगत् का भावों के धरातल पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर दिया है।

राजतरंगिणी की भाषा में सरलता है, गति है। अनुष्टुप् छन्द की प्रधानता है यद्यपि तरंगों के आरम्भ तथा अन्त में छन्दों को वदलकर रखा गया है। रस और भावों के अनुरूप भी छन्दों को बदला गया है। सम्वादों में नाटकीयता का पुट है, चरित्रचित्रण में सजीवता है। वस्तुतः राजतरंगिणी इतिहास भी है और महाकाव्य भी। कल्हण पाठक को कश्मीर के अतीत की गाथा सुनाने के साथ-साथ काव्य-सरिता में स्नान का आनन्द भी प्रदान करता है।

जोनराजकृत राजतरंगिणी

जोनराज कश्मीर के सुल्तान जैनुलाब्दीन का सभाकवि था। सुल्तान के धर्माधिकारी शिर्यभट्ट की आज्ञा से उसने द्वितीय राजतरंगिणी की रचना प्रारम्भ की थी। कल्हण की राजतरंगिणी में महाभारत काल से लेकर कल्हण के समसामयिक राजा जयसिंह के सन् ११४९ ईस्वी तक के कश्मीर के राजाओं का वर्णन है। जयसिंह के अन्तिम पांच वर्षों का इतिहास वह नहीं लिख पाया था। कल्हण ने इतिहास का सूत्र जहां छोड़ा था वहीं से लेकर जोनराज ने ४५९ वर्षों का कश्मीर का इतिहास लिखा है जिसमें तेरह हिन्दू शासकों, एक भौट्ट शासक तथा नौ मुस्लिम सुल्तानों के राज्य का वर्णन है। इस ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना का प्रयोजन बताते हुए जोनराज स्वयं लिखता है कि कल्हण के उपरान्त देश के दोष से अथवा तत्कालीन राजाओं के अभाग्य से किसी कवि ने अपनी वाणी से अन्य नृपों को जीवित नहीं किया। श्री जैनुलाब्दीन के पृथ्वी पर राज्य करते समय मैं जोनराज उनका वृतान्त वर्णित करने को उद्यत हुआ हूं।[1] जैनुलाब्दीन की इच्छा विस्मृति के सागर में डूबे जयसिंह आदि राजाओं का उद्धार करने की थी। उसके धर्माधिकारी शिर्यभट्ट की आज्ञा से मैं अपनी

---

१. ततो दशादिदोषेण तदभाग्यैरथापि वा।
कविर्वाक्सुधया कश्चिन्नाजिजीवत्परान्नृपान्॥
श्री जैनोल्लाभदेने क्ष्मां संप्रत्यक्षति रक्षति।
जोनराजाभिधस्तेषामुद्यतो वृत्तवर्णने॥ जोन० राज० ६-७

बुद्धि के अनुसार राजावली को पूरा करने का उद्यम कर रहा हूं।[1] महाकवि कल्हण के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए जोनराज अपने काव्य की तुलना एक छोटे नाले से तथा कल्हण के काव्य की तुलना सरिता से करता है। उसका कथन है कि यह मेरी वाणी कल्हण के काव्य में प्रविष्ट होने के कारण लोगों को रुचिकर लगे। क्या सरिता के जल में जा मिले नड्वल का जल पिया नहीं जाता ?[2]

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर से प्रकाशित जोनराज की राजतरंगिणी के आलोचनात्मक संस्करण में कुल ६७६ पद्य हैं। बम्बई संस्करण में १३३४ पद्य हैं। प्रथम छब्बीस पद्यों में काव्यप्रयोजन आदि बताया गया है। तत्पश्चात् केवल उनतालीस पद्यों में पांच हिन्दु राजाओं का वृत्तान्त समेट दिया गया है। हो सकता है सुल्तान सिकन्दर द्वारा पुस्तकें नष्ट कर दी जाने के कारण जोनराज को इन राजाओं के बारे में विशेष सामग्री प्राप्त न हो सकी हो। जयसिंह के बारे में कवि लिखता है कि उसके राज्य में लक्ष्मी और सरस्वती में पारस्परिक विरोध नहीं था। त्रिगर्त से आए मल्ल को उसने अपना सेनापति बनाया जिसने तुरुष्कों को पराजित किया। द्वितीय राजा परमाणुक और चतुर्थ बोपदेव को उसने मूर्ख जडमति बताया है। वस्तुतः लवन्य ही प्रभावशाली थे। उन्होंने बोपदेव के मूर्ख भाई जस्सक को अपने स्वार्थ सिद्ध करने को राजा बनाया। छटे राजा जगदेव को मन्त्रियों ने देश से निर्वासित कर दिया था, अपने मित्र गुणराहुल की सहायता से उसने पुनः राज्य प्राप्त किया। षडयन्त्रकारी द्वारपति पद्मने गुप्त रूप से विष देकर राजा को मरवा दिया। राजदेव ने राजपुरी का निर्माण कराया। उसने भट्टों के षडयन्त्र की सूचना पाकर उन्हें लूटने के आदेश दे दिये थे। संग्रामदेव की हत्या कल्हण-वशजों ने करवा दी थी। राजा सुहदेव के समय में विदेशियों ने राजवृत्ति प्राप्त की तथा दुलचा का आक्रमण होने पर राजा ने जनता पर विशेष कर लगा दिया जिसका ब्राह्मणों ने विरोध किया। रिंचन बौद्ध ने षडयन्त्र द्वारा

---

१. मग्नान् विस्मृतिपयोधौ जयसिंहादिभूपतीन् ।
श्री जैनोल्लाभदेवस्य कारुण्यादुज्जिहीर्षतः ।।
सर्वाधिकारेषु नियुक्तस्य दयावतः ।
मुखाच्छ्रीशिर्यभट्टस्य प्राप्याज्ञामनवज्ञया ।।
राजावलिं पूरयितुं सम्प्रति प्रतिभासमः ।
कविनामाभिलाषेण न तु स्वस्मान्ममोद्यमः ।। जोन० राज०, पद्य १०-१२

२. मद्वाक् कल्हणकाव्यान्तः प्रवेशादेतु चर्वणम् ।
नड्वलाम्बु सरित्तोये पतितं पीयते न किम् ।। वही, पद्य २६

सुहदेव को भगाकर राज्य हथिया लिया और मन्त्री रामचन्द्र की पुत्री कोटादेवी से विवाह कर लिया। रिंचन शैव धर्म में दीक्षित होना चाहता था परन्तु उसे यह अवसर नहीं दिया गया था। सम्भवतः वह इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गया था। परन्तु जोनराज ने इस बात की चर्चा नहीं की है। रिंचन की मृत्यु के बाद उदयनदेव ने गद्दी सम्भाली और कोटादेवी से विवाह कर लिया। इसी बीच शाहमीर मन्त्री ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली थी। उदयनदेव की मृत्यु के बाद उसने महारानी कोटादेवी और उसके पुत्रों को वन्दी बना लिया और विश्वासघात करके स्वयं शमसुद्दीन नाम से कश्मीर का प्रथम मुस्लिम सुल्तान बना। शाहमीर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र जमशेद द्वितीय सुल्तान बना। छोटे भाई अलीशेर ने राजस्थानियों का समर्थन पाकर जमशेद को षडयन्त्र से हटाकर स्वयं अलाउद्दीन नाम से सुल्तान पद ग्रहण किया। चौथे सुल्तान शहाबुद्दीन को जोनराज आदर्श विजयी के रूप में चित्रित करता है तथा उसकी तुलना ललितादित्य तथा जयापीड से करता है। उसकी विजय यात्रा का वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी प्रभावशाली है। उसने उद्भाण्डपुर (ओहिन्द) पुरुषपुर (पेशावर) को जीता, भौट्टों को भी पराजित किया। युद्धों में वह चन्द्रडामर और लौल पर निर्भर रहता था और शासन के कार्यों में अपने मन्त्रियों उदयश्री और कोटभट्ट पर।[२] उसकी पत्नी लक्ष्मी हिन्दू थी। सुल्तान अपनी विजयों के पश्चात् भोगलालसा में अधिक लिप्त रहने लगा था। पत्नी की भानजी लासा पर अनुरक्त होकर उसने पत्नी तथा पुत्रों को निर्वासित कर दिया था। उसकी मृत्यु के समय कोई पुत्र विद्यमान नहीं था। अतः भाई कुतुबुद्दीन सुल्तान बना। शहाबुद्दीन को कुशल प्रशासक तथा धर्मनिरपेक्ष सुल्तान के रूप में चित्रित किया गया है। उदयश्री के उकसाने पर भी वह देवप्रतिमाओं को तोड़ने को उद्यत नहीं हुआ।

कुतुबुद्दीन को कई षडयन्त्रों का सामना करना पड़ा था। उसके राज्यकाल में महादुर्भिक्ष का वर्णन जोनराज ने किया है। उसमें सुल्तान ने जनता की पर्याप्त सहायता की थी। कुतुबुद्दीन के पश्चात् उसके पुत्र सुल्तान सिकन्दर के कुकृत्यों का वर्णन जोनराज ने स्पष्ट शब्दों में किया है। सुल्तान राज्यकार्यों को छोड़कर देवों की प्रतिमायें भंग करने में अहर्निश रुचि लेने लगा था। कोई भी पुर, पत्तन, ग्राम या वन नहीं बचा था जहां सिकन्दर के मन्त्री सूहम भट्ट ने (जो मुसलमान हो गया

---

१. जोन० राज०, पद्य ३६१-६२

२. स्वदेशे मन्त्रिणोस्तस्य कोटभट्टोदयश्रियोः।
समरेषु भरस्त्वासीच्चन्द्रडामरलौलयोः॥

था) देवालय न तोड़ दिये हों।[1] अधिकतर लोगों ने धर्म परिवर्तन कर लिया परन्तु जिन्होंने नहीं किया उनपर जजिया लगा दिया गया[2] सिकन्दर के पुत्र अलीशाह के समय में यह सूहम भट्ट और अधिक निरंकुश होकर अत्याचार करने लगा था। जोनराज लिखता है कि प्रजा का पुण्योदय ही समझना चाहिए कि वह क्षय रोग से पीडित होकर समाप्त हो गया। बीमारी का समय भी उसने शास्त्रनिन्दा और ब्राह्मणों को पीड़ा देने में ही बिताया था।

जैनुलाब्दीन के वर्णन में जोनराज ने सबसे अधिक शक्ति लगाई है। उसे न्यायप्रिय प्रजापालक कुशल प्रशासक के रूप में चित्रित किया गया है। जोनराज के शब्दों में उस सुल्तान में सूर्य की तीक्ष्णता और चन्द्रमा की मृदुता दोनों का अद्भुत समन्वय था। उसने दिशाओं में यश, साधुजनों में लक्ष्मी तथा लोगों में सुख आरोपित करते हुए जो शत्रुओं का उन्मूलन कर दिया था वही उसका क्रमभंग था। जिस प्रकार कार्तिक के आदि में शीत और गरमी बराबर होती है, जिस प्रकार सूर्य के भूमध्यरेखा पर आने पर दिन और रात समान होते हैं उसी प्रकार अपने अर्थात् इस्लाम के दर्शन तथा दूसरों के दर्शन के प्रति उसका समान आदर भाव था। वणिक् के तराजू के पलड़ों की तरह उसे दर्शनों में साम्यभाव का भंग सहन नहीं होता था।[3] सर्वदर्शन-समभाव की इस नीति का जनता और अधिकारियों पर भी समुचित प्रभाव पड़ा। जैसे सिद्धाश्रम में सिंह मृगों को नहीं सताते वैसे ही तुरुष्कों ने ब्राह्मणों को तंग करना छोड़ दिया।[4] हिन्दुओं पर जजिया भी नाममात्र का ही रखा गया। चोरी रोकने को जोनराज ने सामूहिक दण्ड की पद्धति चालू की। जिस गांव की सीमा में किसी व्यक्ति की चोरी हो उस गांव के लोगों को वह जुर्माना भरना होता था।[5] यदि कोई पथिक

---

१. न पुरं पत्तनं नापि न ग्रामो न च तद्वनम्।
यत्र सूहतुरुष्केन सुरागारमशेष्यत ।। जोन० राज० पद्य ६०३

२. जातिध्वंसे मरिष्यामो द्विजेष्विति वदत्स्वथ।
जातिरक्षानिमित्तं स तान्दुर्दण्डमजिग्रहत् ।। वही, पद्य ६०६

३. शीतोष्णयोरिवोर्जादौ विषुवेऽह्र्निशोरिव।
तस्य मानोऽभवत्तुल्यः स्वे परे वापि दर्शने ।।
राजा वणिगिवात्यर्थं तुलायाः पुटयोरिव।
साम्यभंङ्गःदर्शनयोर्नाक्षभिष्ट कथञ्चन ।।

४. शान्ते सिद्धाश्रमे सिंहैर्मृगा इव न पीडिताः।
तुरुष्कै : पुष्कल भयैर्ब्राह्मणाः पूर्ववत्तरा ।। वही, पद्य ७६८-७७०

५. मुषितो ग्रामसीमायां ग्रामेभ्यः प्रापितो धनम्।
अरण्येऽरण्यनाथेभ्यः पान्थस्तेन महीभुजा ।। वही, पद्य ८१८

जंगल में लूट लिया जाय तो जंगल के स्वामियों से हरजाना पथिक को दिलवाया जाता था। सुल्तान की न्यायप्रियता की अनेक धटनाओं का जोनराज ने विस्तार से वर्णन किया है। लोलराज नामक एक ब्राह्मण अपनी दशप्रस्थ भूमि में से एक प्रस्थ भूमि बेच कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। उसके पुत्रों को असमर्थ जानकर खरीदने वाले ने विक्रय पत्र में जालसाजी करके दशप्रस्थ भूमि वेची ऐसा लिखवा लिया। मामला राजदरबार में आने पर सुल्तान ने विक्रयपत्र को पानी में डाला। नयी लिखाई धुल गई और पुरानी लिखाई को "एक भूप्रस्थ वेचा" सभ्यों ने पढ़ा और जालसाज़ को दण्डित किया गया।[१] एक बार जयापीडपुर में किसी ब्राह्मण की गाय खो गई। कुछ समय बाद वह ब्राह्मण तीर्थ स्नान के लिए मडवराज्य में गया और वहां अपनी गाय को पहचान कर उसके स्वामी के घर जाकर उससे झगड़ा करने लगा। वे दोनों गाय और उसके बच्चे को लेकर जैनुलाब्दीन के पास पहुंचे। सुल्तान ने गाय तथा उसके बच्चे के आगे कमल गट्टे डाले। जयापीडपुर में कमल गट्टे खाने का बचपन से अभ्यास होने के कारण गाय ने झट सूंघकर वे खा लिये परन्तु उसके बच्चे ने देर तक नहीं खाये। इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि गाय जयापीडपुर के ब्राह्मण की है। सुल्तान ने दण्डनीय ब्राह्मण को दण्ड देकर गाय वापस करवा दी।[२]

जोनराज ने सुल्तान की राजपुरी उदभाण्डपुर तथा गोग्गदेश पर की विजयों का भी वर्णन किया है। जोनराज ने युद्ध की राजनीति की अपेक्षा सौहार्द की राजनीति को बढ़ावा दिया तथा गान्धार सिन्धु, मद्रादि देशों के राजाओं के साथ मैत्री सम्बन्ध बनाये।[३] जोनराज ने जैनुलाब्दीन के राज्यकाल के अन्तिम ग्यारह वर्षों का वर्णन नहीं किया है। प्रतीत यही होता है कि कवि की मृत्यु हो जाने के कारण यह ग्रन्थ अधूरा रहा।

जोनराज की यह कृति विशुद्ध इतिहास ग्रन्थ है या महाकाव्य यह कहना कठिन है। डा० रघुनाथ सिंह के शब्दों में जोनराज ने "इतिहास को इतिहास के ढंग से लिखा है। उसे रीतिबद्ध अलंकार एवं रस से बोझिल महाकाव्य का रूप नहीं दिया है। उसने चरित, कथा, आख्यायिका और इतिवृत्तों का संग्रह नहीं किया है। उसने क्रमागत राजाओं और सुल्तानों के शुद्ध इतिहास लिखने का स्तुत्य प्रयास किया है।"[४]

परन्तु इतिहास होते हुए भी यह कृति महाकाव्य कहलाने के योग्य है। जोन-

---

१. जोन० राज० पद्य ८०१-८०८

२. वही, पद्य ७८६-७९३

३. वही, पद्य ८२९-८३३

४. डा० रघुनाथसिंह सम्पादित जोनराजकृत राजतरंगिणी भूमिका

राज ने स्वयं इसे काव्यद्रुम कहा है, काव्य कहा है।[1] रस भाव अलंकारमयी इस पद्यमयी रचना के पात्र ऐतिहासिक हैं परन्तु यथार्थ का वर्णन काव्यात्मक शैली में किया गया है। कहीं युद्ध वर्णनों में वीररस है तो कहीं करुण का परिपाक हुआ है। वीर शासिका कोटादेवी का दुःखमय अन्त पाठकों को द्रवित कर देता है।[2] उद्दक द्वारा अपनी बेटी और दामाद को छल से जला दिये जाने पर जोनराज कहता है—

सूक्ष्मानत्ति तिमिर्महान् स्वकुलजान् व्याधादजानन्वधं
स्वामम्बामपि मक्षिका बत मधुग्राहाद् भविष्यद्वधा।
लक्ष्मीलोभभरेण मोहितधियः कल्पानल्पान् स्थितिं।
जानन्तोऽतिजडा न किं कुचरितं कुर्वन्ति हा हन्त हा ॥ जोन० राज० पद्य ५४३

श्रीवरकृत जैनराजतरंगिणी[3]

जोनराज के शिष्य श्रीवर[4] ने अपने गुरु द्वारा लिखे कश्मीर के इतिहास के सूत्र को पकड़ कर उसे आगे १४५९ ई० से १४८६ ई० तक चलाया है। उसने सुलतान जैनुलाब्दीन, उसके पुत्र हैदरशाह, पौत्र हसनशाह तथा प्रपौत्र मुहम्मदशाह—चारों का राज्यकाल देखा था और सभी से आदर सम्मान प्राप्त किया था। जैनुलाब्दीन श्रीवर से वाल्मीकि रामायण तथा योगवासिष्ठ सुनता था।[5] हैदरशाह ने उससे बृहत्कथा सुनी थी।[6] हसनशाह ने श्रीवर की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उसे अपना गुरु स्वीकार कर लिया था।[7] एक बार गीतिकाव्यकला में प्रख्यात कवि पवार कदन हसनशाह की सभा में आया। उसने देशी भाषा में अपना प्रबन्धकाव्य सुनाया। हसनशाह ने श्रीवर से उस काव्य का लक्षण पूछा। श्रीवर ने पद, पाठ, स्वर, ताल रागादि षडङ्गों से युक्त गीत उसे सुनाया जिसे सुनकर उदारहृदय राजा मस्त

---

१. जोन० राज० पद्य ८, २१, २३, २४

२. वही, ३०२-३०७

३. डा० रघुनाथसिंह द्वारा सम्पादित तथा अनूदित चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन वाराणसी १९७६

४. शिष्योऽस्य जोनराजस्य सोऽहं श्रीवरपण्डितः।
राजावलीग्रन्थशेषापूरणं कर्तुमुद्यतः ॥ श्रीवर राजत० १.७

५. मोक्षोपाय इति ख्यातं वासिष्ठं ब्रह्मदर्शनम्।
मन्मुखादशृणोद्राजा श्रीमद्वाल्मीकिभाषितम् ॥ वही, १.५.८०

६. सोऽहं संमान्य राज्ञास्मै दत्तस्तत्समयेऽन्वहम्।
कुर्वन् बृहत्कथाख्यानमभूवं धृतपुस्तकः वही २, १५८

७. अहो काश्मीरकोऽपीदृक् चतुरः सर्वशास्त्रवित्।
इत्युक्त्वालिङ्ग्य मां मे गुरुरित्यब्रवीत्स्फुटम् ॥ वही ३, २६३

हो गया। गीत का दर्प करने वाले उस गायक के साथ श्रीवर का शास्त्रार्थ कराया गया। उसमें श्रीवर की विद्वत्ता से प्रभावित होकर सुलतान बोल उठा— अहो काश्मीरी ! तुम ऐसे शास्त्रवेत्ता और चतुर हो। इस प्रकार श्रीवर का आलिङ्गन कर उसे गुरु कहा और नाना सम्पत्तियों से सम्मानित किया।

इससे प्रतीत होता है कि श्रीवर ने शास्त्रों एव विविध विद्याओं का गहन अध्ययन किया था। राजकवि होने के साथ वह संगीतनाटकविभाग का प्रमुख अधिकारी भी था। जैनराजतरंगिणी की रचना उसने अपने गुरु जोनराज के छोड़े हुए काम को पूरा करने को तथा अपने आश्रयदाता सुलतानों के ऋण से उत्रऋण होने के लिए की थी। प्रथम तरंग में वह स्वयं सुलतान जैनुलाब्दीन द्वारा पुत्रवत् पाले जाने के विषय में तथा उसके द्वारा दिए सम्मान दान आदि से उत्रऋण होने की इच्छा के विषय में लिखता है।

श्रीवर की राजतरंगिणी में चार तरंग हैं। प्रथम तरंग में सात सर्ग हैं परन्तु शेष तरंगों को सर्गों में विभाजित नहीं किया गया। प्रथम तरंग में जैनुलाब्दीन, द्वितीय में सुलतान हैदरशाह, तृतीय में सुलतान हसनशाह तथा चतुर्थ में मुहम्मद-शाह के राज्यकाल का वर्णन है। प्रत्येक तरंग अपने आप में पूर्ण है। प्रतीत होता है कि श्रीवर की प्रथम योजना जैनुलाब्दीन का इतिहास ही लिखने की थी। बाद में वह आगे का वृत्तान्त भी लिखता गया। उसकी मृत्यु फतहशाह के राज्यकाल के प्रारम्भ में ही हो गई होगी अन्यथा वह फतहशाह के राज्यकाल की समाप्ति तक के वर्णन को पंचम तरंग में करता। श्रीवर पूर्वकाल का इतिहास नहीं लिख रहा था। वह तो आंखों देखा वृत्तान्त अंकित कर रहा था। डा० रघुनाथसिंह ने ठीक कहा है कि "श्रीवर की रचना संस्मरण के अधिक निकट कही जाएगी। संस्मरणलेखक जो स्वयं देखता है, अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है। उसके वर्णन में उसकी अनुभूति एवं संवेदनायें रहती हैं"।[1] श्रीवर ने कितने विस्तार से समकालीन घटनाओं का वर्णन किया है इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जहां जोनराज ने ३०० वर्षों का इतिहास ९७६ श्लोकों में बांधा है वहां श्रीवर ने २७ वर्षों का वर्णन २२४१ श्लोकों में किया है।

श्रीवर कल्हण की तरह निष्पक्ष और निर्भीक इतिहासकार नहीं हो सकता था। वह राजकवि था, राजा का अनुग्रहप्राप्त अधिकारी था, राजा के ऋण से उत्रऋण होने की भावना से ग्रन्थरचना कर रहा था।[2] फिर भी उसने अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक दृढ़ता से प्रकट किया है। मृतक शव के गाड़ने की अपेक्षा दाह-

---

१. रघुनाथसिंह : जैनराजतरंगिणी अनुवाद की भूमिका पृ० ३७

२. सात्मजस्य नृपस्यास्य प्राप्यते राज्यवर्णनात्।
प्रतिष्ठादानसम्मानविधानगुणनिष्कृतिः ।। श्रीवर राजत० १, १, १७

संस्कार का समर्थन वह युक्तिपूर्वक करता है—"प्रत्येक सामान्यजन सैंकड़ों हाथ भूमि घेरने में रत रहता है और दूसरे का प्रवेश यत्नपूर्वक नहीं होने देता, क्या उसे लज्जा नहीं आती ? अन्य दर्शन का आचरण ही श्रेष्ठ है जहां हस्तमात्र भूतल पर नित्य करोड़ों दग्ध होते हैं तथापि वह उसी प्रकार खाली रहता है। इस प्रकार प्रसंगवश यहां जो अनुचित निन्दा की है, मुसलमान लोग उसे क्षमा करें क्योंकि कवि की वाणी निरंकुश होती है।"[1] जैनुलाब्दीन की मृत्यु के उपरान्त हैदरशाह के समय में प्रजा पर हुए अत्याचारों का स्पष्ट वर्णन कवि ने किया है। उन दिनों भट्टों के लूटे जाने पर ब्राह्मण अपना जातीय वेश त्याग कर, "मैं भट्ट नहीं हूं मैं भट्ट नहीं हूं," इस प्रकार कहने लगे। म्लेच्छों की प्रेरणा से राजा ने नगर के प्रमुख इष्टदेव बहुखातक आदि की मूर्तियों को तोड़ने की आज्ञा दी। गुणों की परीक्षा के कारण जिन लोगों को जैन राजा ने भूमि दी थी उनसे उसे अधिकारियों ने बिना कारण छीन लिया। मदोन्मत्त राजा, स्वतन्त्र मन्त्रिमण्डल, रिश्वतखोर और सब अन्तरंगजनों और अबलाओं को पीड़ित करने में निपुणता दिखाने वाले लोगों को देखकर जनता को जैनुलाब्दीन के गुणों की याद आती थी।[2]

श्रीवर ने जैनुलाब्दीन के राज्यकाल की प्रशंसा की है। दिगन्तर में शत्रुओं को मारकर पैतृक देश में आकर उसने राम के समान राज्य को प्राप्त किया।[3] रागमाला की तरह उसकी कीर्ति बंगाल, मालव, आभीर, गौड, कर्नाट देशों में जा फैली थी।[4] धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को प्रोज्ज्वल देखकर उसकी प्रेमिका सदृश तीनों शक्तियां (प्रभु, मंत्र, उत्साह) उससे एकमत होकर रहती थीं।[5] उसके समय में नीतिशाली एवं ध्यानी सद्गृहस्थ से कोई अन्यायपूर्वक एक कौड़ी भी नहीं ले सकता था।[6] जीविका के अभाव में ही लोग चोरी आदि कुकर्म करते हैं, यह सोचकर उस राजा ने राज्य में बेकारी दूर करने की व्यवस्था की।[7] उसके समय में दो बार भीषण अकाल पड़ा। तीन सौ दीनार में एक खारी मिलने वाला धान तब पन्द्रह सौ दीनार में भी नहीं मिलता था। राजा ने अपने राज्यकोश से धन देकर कुछ समय तक प्रजा का पालन किया। जो लोग अखरोट खाकर गुज़ारा कर रहे थे उन्हें सरल वृक्षों से तेल

१. श्रीवरराजत० २. ६१-६७
२. वही २. १२५-१३०
३. वही १. १.१६
४. वही १. १.२५
५. वही १. १.२६
६. वही १. १.३७
७. वही १. १.३६

निकालने का काम दिया।[१] जिन भ्रष्टाचारी लोगों ने दुर्भिक्ष के दिनों में बहुत अधिक मूल्य पर धान बेचा था सामान्य स्थिति आने पर राजा ने लोगों का वह धन उनसे वापिस करवाया। जिन धनिकों ने उस समय लोगों की विवशता का लाभ उठाकर थोड़ा धन देकर अधिक ऋणपत्र लिखा लिये थे, उनके ऋणपत्रों को समाप्त कर दिया।[२] पंचमसर्ग में जैनुलाब्दीन द्वारा किये गये प्रजाहित के कार्यों का विस्तृत वर्णन है। उसने स्थान स्थान पर अन्नसत्र खोले[३], नहरें और सरोवर खुदवाए।[४] सिंचाई के बढ़िया प्रबन्ध से हर स्थान पर नई नई क्यारियों में उत्पन्न धान्य फल के ढेर दिखाई देते थे।[५] सिकन्दर बुतशिकन के समय में विद्वान् अपनी पुस्तकें लेकर देश छोड़कर चले गये थे। सुल्तान ने दूर दूर से पुराण, तर्क, मीमांसा आदि के ग्रन्थों को मंगाकर विद्वानों को दिया।[६] संस्कृत के ग्रन्थों का फारसी में तथा फारसी में लिखित ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद कराया।[७]

जैनुलाब्दीन के चार पुत्रों में से जसरथ का बाल्यकाल में ही देहान्त हो गया था। शेष तीनों आदमखां, हाजीखां और बहरामखां आपस में शत्रुता रखते थे। पथभ्रष्ट पुत्रों के व्यवहार से दुःखी राजा ने शासन कार्य मन्त्रियों को सौंप दिया और अन्त में स्वयं भोजनादि का त्याग कर जाप करते हुए ज्येष्ठ मास की द्वादशी को प्राण त्याग दिये।

१४७० ई० में हैदरशाह नाम से हाजीखां सिंहासन पर बैठा। भाइयों में आपसी कलह के कारण सन्देह का वातावरण था। आदमखां अपने मामा मद्र के राजा माणिक्यदेव की ओर से मुगलों के साथ युद्ध करता हुआ मारा गया। हैदरशाह एक वर्ष दस मास राज्य कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। बहरामखां और हसनशाह दोनों राज्य चाहते थे। हसनशाह को गद्दी मिली और बहरामखां नगर से भाग गया।

हसनशाह ने अपने दादा जैनुलाब्दीन की तरह राज्य में सुव्यवस्था लाने का यत्न किया। बहरामखां ने पुनः राज्यप्राप्ति के लिए युद्ध किया परन्तु पुत्र सहित बन्दी बना लिया गया। उसे कारागार में अन्धा कर दिया गया और वहीं तीन वर्ष बाद उसका देहान्त हो गया। हसनशाह संगीत का प्रेमी था तथा संस्कृत का अध्ययन

१. श्रीवर राजत० १. २.३३
२. वही १. २.३४
३. वही १. ५.२०-२१
४. वही १. ५.३०
५. वही १. ५.२५
६. वही १. ५.७६
७. वही १. ५.८२-८३

भी करता था। जैनुलाब्दीन, हैदरशाह तथा हसनशाह तीनों की रानियां सैय्यद-वंशीय थीं। राजपरिवार से सम्बन्धित हो जाने के कारण सैय्यद राजदरबार में प्रभावशाली हो गये थे। वे जनता का शोषण करने लगे थे। स्थिति बिगड़ती गई। हसनशाह की मृत्यु के बाद सैय्यदों ने मन्त्रणा करके सात वर्ष के बालक मुहम्मद-खान को मुहम्मदशाह नाम से अभिषिक्त कर दिया। दौहित्र के सुल्तान बन जाने पर सैय्यद और अधिक उद्दण्ड हो गये। उनकी शोषण की नीति से कश्मीरी जनता तथा मद्र के लोग शंकित हो गये। गृहयुद्ध छिड़ गया। मद्रों और कश्मीरियों ने मिलकर सैय्यदों को खदेड़ दिया। आदमखां के पुत्र फतहखां ने राज्यप्राप्ति की लालसा से कश्मीर पर आक्रमण किया और कई मुठभेड़ों के बाद मुहम्मदशाह सिंहासनच्युत हो गया।

श्रीवर की जैनराजतरंगिणी पन्द्रहवीं शती के कश्मीर का आंखों देखा वर्णन प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से भी यह सफल काव्य है। शैली प्रसादगुणयुक्त है। घटनाओं का वर्णन प्रभावोत्पादक ढंग से किया गया है। नवीन उपमाओं तथा सुन्दर सूक्तियों से शैली में गाम्भीर्य आया है।

शुककृत राजतरंगिणी[1]

कल्हण, जोनराज और श्रीवर के बाद प्राज्यभट्ट ने राजावलिपताका नामक इतिहास ग्रन्थ लिखा था जिसमें उसने नवासिवें वर्ष (अर्थात् लौकिक संवत् ४५८९, विक्रम-संवत् १५७०, ईसवी १५१३) तक फतहशाह के राज्यकाल की घटनाओं का वर्णन किया था। अभी तक यह ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया है। प्राज्यभट्ट के पश्चात् शुक ने कश्मीर के इतिहास को राजतरंगिणी में लिखा है। उसने अपने को बुद्ध्याश्रय का पुत्र कहा है। अपने वंश, परिवार, जन्मस्थान आदि के विषय में कुछ नहीं लिखा। मंगलाचरण में उसने शिव तथा भैरव की स्तुति की है जिससे वह शिवभक्त कश्मीरी ब्राह्मण प्रतीत होता है।

शुककृत राजतरंगिणी में पांच सुल्तानों फतहशाह (द्वितीय तथा तृतीय बार), मुहम्मदशाह (तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम बार), इब्राहीमशाह, नाजुकशाह तथा शमशुद्दीन (द्वितीय) का वर्णन है। उत्तराधिकार के लिए हुए संघर्षों, गृहयुद्धों, दलबदल, प्रजा के उत्पीडन आदि से इस युग का कश्मीर का इतिहास रक्तरंजित है। १५१३ ई० से १५३८ ई० तक के केवल २५ वर्षों में कश्मीर के राजसिंहासन ने ग्यारह बार सुल्तानों का उतरना चढ़ना देखा।

फतहशाह दुर्बल शासक था। उसका मुख्य सचिव मूसा राजानक ईराकदेशीय

---

१. सम्पा० रघुनाथसिंह, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस वाराणसी १९७६

शाहकासिम के छात्र मेरशेष के प्रभाव में आकर हिन्दुओं को अत्यधिक पीड़ित करने लगा। मन्दिरों के साथ लगी भूमियां ब्राह्मणों से छीन ली गईं।[1] जंगल काट दिये गये। मूर्तियां तोड़ी जाने लगीं। दुराचारी, सदाचारी, भट्ट, भुट्ट, नट, विट सब बराबर हो गये। श्रीनगर और जैनकदल भस्म हुए जंगल की तरह हो गये और विटों ने लोगों को इतना लूटा कि किसी के पास नहाने को अंगोछा भी न बचा। अन्त में मूसा की शक्ति क्षीण होने पर फतहशाह ने उसे कश्मीर छोड़ने की आज्ञा दी। रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गई। दूसरे मन्त्री इब्राहीम मार्गेश ने अपने पुत्रों को प्रमुख अधिकार दिये तथा बाहर गये हुए डामरों राजान तथा जहांगीर प्रतिहार को कश्मीर में बुलाया। उन्होंने शक्तिशाली होकर इब्राहीम को बाहर खदेड़ दिया। इब्राहीम १५१४ ई० में मुहम्मदशाह की सेना लेकर पुनः आया और फतहशाह को पराजित कर मुहम्मदशाह को राज्य गद्दी पर बिठा दिया। भूमि का लगान दुगना कर दिया गया। ग्रामीणों की प्रार्थना सुनने में मन्त्री गूंगे बहरे हो गये थे। नौ मास नौ दिन राज्य करके मुहम्मदशाह के बाहर जाने पर फतहशाह ने फिर राजगद्दी पर अधिकार कर लिया। उसने शासनव्यवस्था में कुछ सुधार किया। प्रकृति का प्रकोप ऐसा हुआ कि अस्थिप्रवाह के लिए हरमुकुट गंगा गये हुए दस सहस्र लोग तुषारपात से मर गये। महामारी ऐसी फैली कि कफ़न भी दुर्लभ हो गया।

मुहम्मदशाह ने दिल्ली के बादशाह सिकन्दर लोदी से सैनिक सहायता लेकर १५१६ ई० में पुनः कश्मीर का राजसिंहासन संभाल लिया। उसके समय में निर्मलकण्ठ भट्ट की प्रेरणा से ब्राह्मणों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ परन्तु ईर्ष्यावश खुज्जा मीर अहमद ने उसकी हत्या करवा दी। फतहशाह कश्मीर के बाहर ही दिवंगत हुआ। मुहम्मदशाह ने अपने पुत्र इब्राहीम को दिल्लीपति इब्राहीम लोदी के यहां बन्धक रखा हुआ था। बाबर और इब्राहीम लोदी के युद्ध में वह बचकर भाग आया और कश्मीर में आकर काचचक्र की सहायता से पिता की गद्दी छीन ली। उसने एक वर्ष तक राज्य किया। फिर नाज़ुकशाह १५२९ ई० में गद्दी पर बैठा। सन् १५३० में पुनः मुहम्मदशाह का अभिषेक हुआ। दिल्लीपति बाबर का देहान्त होने पर हुमायूं के भाई मिरजा कामरान का कश्मीर पर आक्रमण हुआ। कश्मीरियों ने मुग़लसेना का डट कर मुकाबला किया। कश्मीर पराजित नहीं हुआ। शरद् ऋतु में काशगर के सुल्तान सैदखान के पुत्र सिकन्दर ने हमला किया।

---

१. मोसचन्द्रस्तदादेशाद् धृत्वा देवालयस्थिताम्।
भूमिं द्विजेभ्यो नीत्वा तद्भृत्यांस्तृप्तान् व्यधात्तया ।। शुकराज० १, २५
२. दुराचारोऽथ साचारो भट्टो भुट्टो नटो विटः।
इत्येवमासीत् तत्काले सभासाम्यं कलेर्बलात् ।। वही, १, २८

लाखों की संख्या में जले घरों से नगरी श्मशान सरीखी हो गई थी। कश्मीरी सेनायें थक गईं तो मुहम्मदशाह ने सन्धिप्रस्ताव भेजा। सुल्तान की कन्या तथा अन्य उपहार लेकर मुग़ल सेनायें काशगर लौट गईं। युद्धसमाप्ति के बाद कश्मीर में दुर्भिक्ष पड़ा। दस हजार निष्कों से एक खारी धान मिलता था। लोग स्वामि-भक्ति, पुत्रस्नेह, मातापिता की सेवा आदि सब कुछ छोड़कर अपने प्राण बचाने को फिर रहे थे। जिस किसी के पास कुछ सोना चांदी था वे उसे बेचकर शाक, अखरोट और भुने तिलों से अपनी प्राणरक्षा कर रहे थे।[1] दुर्भिक्ष का वर्णन करने के पश्चात् शुक ने सुकाल के आगमन को काव्यमय शैली में वर्णित किया है। डंठलों से जब गेहूं की बालियां निकलीं तो ऐसा लग रहा था कि अपने फलों से पृथ्वी पर शेष बचे प्राणियों की आरती उतार रही हों। लोगों को अन्न क्या मिला मानों पुनर्जन्म मिल गया।[2]

१५३७ ई० में सुल्तान मुहम्मदशाह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र शंसशाह (शमशुद्दीन) राजगद्दी पर बैठा। शुक ने दो पद्यों में प्रजा की प्रसन्नता का तथा शेष बारह पद्यों में प्रारम्भिक संघर्षों का वर्णन करके अकस्मात् राजतरंगिणी को समाप्त कर दिया है। हो सकता है १५३८ ई० के आसपास शुक का देहान्त हो जाने से यह काव्य अधूरा ही छूट गया हो।

ऐतिहासिक काव्य की दृष्टि से शुककृत राजतरंगिणी, कल्हण, जोनराज तथा श्रीवर की राजतरंगिणियों के समक्ष नहीं ठहर पाती। उसका प्राचीन इतिहास का ज्ञान तथा भौगोलिक ज्ञान नगण्य प्रतीत होता है। युद्धों के वर्णनों में वह मार्गों तथा स्थानों का पूरा वर्णन नहीं देता। हुष्क, जुष्क और कनिष्क द्वारा कश्मीर का राज्य विभाजित कर दिया गया था उसकी यह इतिहासविरोधी बात उसका कल्हण की राजतरंगिणी से पूर्ण परिचय न होना सिद्ध करती है।

---

१. सहस्रदशभिर्निष्कैर्लभ्या मूल्येन खार्यभूत्।
धान्यस्य गतिमादातुं कान्यस्य धनिनो विना॥
भर्त्तृभक्तिं सुतस्नेहं शुश्रूषां पित्रोरेव च।
हित्वा स्वप्राणरक्षार्थं चेरुः स्त्रीपुरुषाः क्षुधा॥
संचितं रूप्यकुप्यादि विक्रीय व्यधुरात्मनः।
प्राणसंधारणं केचिच्छाकेनाक्षोटपिण्यकैः॥
शुकराजत० २, ९२;९३;९७

२. यवा गोधूमकलटा उद्ययुः स्तम्बजा भुवः।
कुर्वन्तः स्वफलैः शेषजन्तोरारात्रिकामिव॥
अन्नराजफलैः पुष्टा जन्तवोऽतिकृशास्ततः।
पुनर्जातमिवात्मानममन्यन्त दिवानिशम्॥ वही, १०१,१०४

काव्य की भाषा सरल है। कहीं कहीं अलङ्कारों का प्रयोग भी हुआ है। बहुत से उपमान रामायण तथा महाभारत से लिए गये हैं। काजीचक की उपमा राम से करते हुए कवि कहता है कि जैसे दशरथ से राम उत्पन्न हुए वैसे ही होसनचक्र से कांचन (काजीचक) का जन्म हुआ। काजीचक ने अपने पुत्र मसूद को युद्ध में भेजा था। शुक उस वीर बालक की उपमा अभिमन्यु से करते हुए कहता है—'पार्थपुत्र सदृश उसके युद्ध करते हुए शत्रुओं के बीच कोई सुसन्नद्ध धनुर्धारी नहीं रह गया था।'[१]

अपने समय के इतिहास के लिए शुक की राजतरंगिणी प्रामाणिक ग्रन्थ है। वस्तुतः शुक का प्रयोजन भी राजवृत्तान्त देना ही था। वह स्वयं कहता है—प्रभूत सम्पत्तिशाली पूर्वकवियों के राजसम्मान को सुनकर उस भार की शान्ति के लिए मैं यह रचना कर रहा हूं न कि कवि बनने की अभिलाषा से। कहाँ पूर्व कवियों की वाणी और कहाँ मुझ मन्दधी की यह कृति। वर्णमात्र से पीतल का टुकड़ा स्वर्णखण्डवत् कैसे हो सकता है?'[२]

१. शुकराजत० १, १०६;१८६

२. पूर्वेषां राजसम्मानं निशम्य पृथुसम्पदाम्।
तद्भारशान्तये वाहं न कुर्वे कविवाञ्छया॥
क्व पूर्वकविवक्तृत्वं क्वेदं मन्दधियो मम।
वर्णमात्रेण रीत्यंशः स्वर्णखण्डायते कथम्॥ १, ११-१२

लोककथा

कथासरित्सागर

गुणाढ्य द्वारा पैशाची भाषा में रचित बृहत्कथा का संस्कृत रूपान्तर कथासरित्सागर कश्मीर नरेश अनन्त के सभाकवि सोमदेव की कृति है। बृहत्कथा की कथाओं को काव्यरूप में नये ढंग से सजाकर रखने का कार्य कवि ने किया है। अपने को संकलनकर्ता बताते हुए सोमदेव स्वयं स्पष्ट कहते हैं कि 'मूल ग्रन्थ में तथा कथासरित्सागर में अन्तर नहीं है। जहां ग्रन्थ का विस्तार था वहां संक्षेप कर दिया गया है। भाषा अलग है। औचित्यपरम्परा की रक्षा की गई है। मूलकथा के रस को बचाते हुए कुछ नये काव्यांशों की योजना की गई है। यह सब मैंने अपनी निपुणता की ख्याति के लिए नहीं अपितु विशाल कथासमूह को स्मरण करना आसान बनाने को किया है।'[1] इस कथासंग्रह का उद्देश्य कश्मीरनरेश अनन्त की महारानी सूर्यमती का मनोविनोद करना भी था।[2] अनन्त का राज्यकाल १०४२ ई० से १०७७ ई० तक रहा। १०७७ ई० में वह अपने पुत्र कलश को राज्य सौंप कर जंगल को चला गया। वहां भी उसके दुष्ट पुत्र कलश ने उसका पीछा न छोड़ा तथा उसके शिविर में आग लगवा दी। दुःखी होकर अनन्त ने १०८१ ई० में आतमहत्या कर ली। रानी सूर्यमती भी पति के साथ सती हो गई। पुत्र के दुर्व्यवहार से चिन्तित रानी का मनोरंजन करने को सोमदेव ने बृहत्कथा की कथाओं को अपने समय की मान्यताओं के अनुरूप ढाल कर कथाओं का एक विशाल सागर प्रस्तुत कर दिया।

कथासरित्सागर के कथापीठ में गुणाढ्य के जीवन तथा इन कथाओं के उद्गम के बारे में विवरण मिलता है जिसके अनुसार ये कथायें शंकर ने पार्वती को सुनाई

---

१. क० स० सा० १,१, १०-१२

२. शास्त्रेषु नित्यविहितश्रवणश्रमाया
देव्याः क्षणं किमपि चित्तविनोदहेतोः ॥ क० स० सा० १,१,११

थीं। शिव के दो गणों माल्यवान् तथा पुष्पदन्त ने छिपकर इन कहानियों को सुन लिया। पार्वती ने इन्हें पृथ्वी पर जन्म लेने का शाप दिया तथा ये वररुचि तथा गुणाढ्य के नाम से कौशाम्बी नगरी में उत्पन्न हुए। गुणाढ्य राजा सातवाहन का प्रधानमन्त्री बना। राजा ने उसे छः महीने में संस्कृत सिखाने को कहा जो वह न कर सका तथा तिरस्कृत होने पर संस्कृत न लिखने बोलने की प्रतिज्ञा करके वन में चला गया। वहां उसने पिशाच काणभूति से पैशाची भाषा में कथायें सुनीं जो काणभूति को पुष्पदन्त ने सुनाई थीं। गुणाढ्य ने पैशाची में लिखकर वे कथायें राजा सातवाहन के पास भेजीं, परन्तु राजा ने अवहेलना कर दी। दु:खी गुणाढ्य पशु पक्षियों को सुना सुनाकर एक एक पन्ना जलाने लगा। कथाओं को सुनने में तल्लीन पशुपक्षियों ने खाना पीना छोड़ दिया। राजा को सूचना मिली तो उसने क्षमा याचना की। तब तक केवल एक लाख श्लोक शेष बचे थे जिन्हें बृहत्कथा कहा गया।

मूल बृहत्कथा तो उपलब्ध नहीं होती परन्तु बृहत्कथा पर आधारित चार ग्रन्थ अभी तक मिले हैं। नेपाल से उपलब्ध बृहत्कथाश्लोकसंग्रह में बुधस्वामी ने गुप्तकालीन संस्कृति की झलक दी है। संघदासगणि ने वसुदेवहिण्डी में नरवाहन-दत्त की कहानियों को वसुदेव पर आरोपित कर इन्हें जैनधर्म के अनुरूप बनाने का प्रयास किया है। कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी में ७५०० श्लोकों में बृहत्कथा का संक्षिप्त रूप दिया है। सोमदेव का कथासरित्सागर २२ हज़ार श्लोकों में लिखित रोचक कथाओं का विशाल समुद्र है। ग्रन्थ १८ लम्बकों में विभक्त है। लम्बक शब्द का मूल लम्भक है। विवाह द्वारा स्त्री की प्राप्ति लम्भक कही जाती थी। प्रत्येक लम्भक में नायक को स्त्री की प्राप्ति होती है। मुख्यकथा के भीतर अनेक प्रकार की कथायें पिरोई हुई हैं। देवों, अप्सराओं, मानवों, असुरों, बेतालों सभी से सम्बन्धित कथायें एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी निकलती चली आती हैं। अधिकांश कहानियों में स्त्रीपात्रों का चरित्र वर्णित है। कुलटा, दुष्टा, पति-घातिनी, अभिचार करने वाली, कृतघ्न स्त्रियों की कथायें अधिक हैं यद्यपि सती, पतिव्रता, धर्मपरायणा नारियों का वर्णन भी मिलता है। विंटरनित्ज़ के शब्दों में—"हमारा भारतीय संस्कृति का ज्ञान बहुत हद तक सोमदेव के कथासरित्सागर पर निर्भर है। इस ग्रन्थ से भारतीय धर्म एवं प्राचीन भारत में स्त्रियों के स्थान के बारे में जानकारी मिलती है। इससे हमें जातिव्यवस्था, नृवंशविद्या, कला, कलाकार एवं शिल्पी, द्यूत, मद्यपान, एवं भारतीय जनजीवन से सम्बद्ध अन्य सूचनायें भी मिलती हैं।"[1] ब्लूमफील्ड ने इस ग्रन्थ को विश्व का सर्वोच्च एवं अद्वितीय कथा-साहित्य माना है। उनके मतानुसार यह ग्रन्थ कथासम्पत्ति एवं कथा कहने की

---

१. भारतीय साहित्य का इतिहास भाग ३ पैरा ५०२

प्रणाली में अद्वितीय है। कथाओं की विविधता इसकी प्रमुख विशेषता है। कहीं साहसी प्रेमियों की प्रेमकथायें हैं तो कहीं दूर दूर के देशों की यात्रायें करने वाले यात्रियों की साहस भरी कहानियां हैं। कहीं हंसाने वाली मूर्खकथायें मिलती हैं तो कहीं चकित कर देने वाली बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण कथायें हैं। कहीं छोटी छोटी कथाओं को गूंथा गया है तो कहीं पद्मावतीकथा या विक्रमादित्यकथा जैसी लम्बी कथाओं को सम्मिलित कर लिया गया है। पंचतंत्र तथा वेतालपंचविंशतिका इस विशाल ग्रंथ का भाग बन गये हैं। बौद्ध, जैन तथा पौराणिक कथाओं का बहुत बड़ी संख्या में इस ग्रन्थ में समावेश हुआ है। अलिफलैला की अनेक कहानियों के मूलरूप कथासरित्सागर में मिलते हैं।

मूर्खों की कहानियां कथासरित्सागर का विशेष मनोरंजक पक्ष है। एक गंवार ग्वाले की गाय प्रतिदिन पच्चीस सेर दूध देती थी। उसके यहां कोई उत्सव होना था। उसने सोचा कि एक ही बार में उत्सव के लिए इकट्ठा दूध दोह लेना ठीक रहेगा। उसने एक महीने तक गाय नहीं दुही। उत्सव के दिन जब दुहने बैठा तो दूध की एक बूंद न मिली।

एक धनी सेठ का मूर्ख पुत्र व्यापार करने को कटाहद्वीप गया। उसने बिक्री के लिए अगुरु भी साथ लिया। उसका बाकी माल तो बिक गया परन्तु अगुरु का ग्राहक कोई न मिला। सेठ के पुत्र ने देखा कि लोग लकड़हारों के पास आकर कोयला खरीद कर ले जाते हैं। उसने भी अगुरु लकड़ी को जलाकर कोयले बना कर वेच डाले और अपने घर वापिस आ गया। जब वह अपनी बुद्धिमत्ता की डींग मारने लगा तो लोग उसकी मूर्खता पर हंसने लगे।

धूर्तों की कहानियाँ तत्कालीन समाज की बुराइयों को सामने लाने में सक्षम हैं। मानव स्वभाव जैसा है उसे वैसा दिखाने में सोमदेव झिझकते नहीं।

एक बार एक धूर्त मौनी साधु ने भिक्षा मांगते मांगते किसी वैश्य के घर में सुन्दरी कन्या को देखा और काम के वशीभूत होकर 'हाय मर गया' यह वचन कहे। उस वैश्य ने साधु के मठ में जाकर मौन भंग करने का कारण पूछा तो साधु ने उस की कन्या को अशुभ बताते हुए वैश्य को सुझाया कि वह कन्या को काठ के सन्दूक में बन्द करके उस पर दिया जलाकर नदी में बहा दे। भीरु वैश्य ने वैसा ही कर दिया। साधु ने अपने चेलों को नदी पर भेजा कि यदि कोई दिये वाला बहता हुआ सन्दूक मिले तो मेरे पास ले आओ। जब तक चेले गंगातट पर पहुंचे, उससे पूर्व ही कोई राजपुत्र वहां स्नानार्थ आया। उसने उत्सुकतावश सन्दूक खुलवा कर देखा और उस सुन्दर कन्या से विवाह कर लिया। पेटी में एक भयानक बन्दर को बन्द करके उसे फिर बहा दिया। पेटी को खोजते हुए साधु के शिष्यों ने उस पेटी को देखा और गुरु के पास ले आए। प्रसन्न हुए गुरु ने उनसे कहा—अकेले ही इस पेटी पर बैठकर मैं मंत्र सिद्ध करता हूं, तुम सब नीचे जाकर रात में सोओ।

संन्यासी ने रात्रि में एकान्त में सुन्दर कन्या की आशा से पेटी को खोला तो एक भयानक बन्दर उस पर टूट पड़ा और अपने दांतों और नाखूनों से उसके नाक कान काट लिए।

इस प्रकार की सैंकड़ों कहानियां कहने में सोमदेव को अद्‌भुत सफलता मिली है। पैंज के शब्दों में कथासरित्सागर भारतीय कल्पनाजगत् का दर्पण है जिसे सोमदेव भविष्य की पीढ़ियों के लिए छोड़ गये हैं।[१]

सांस्कृतिक दृष्टि से कथासरित्सागर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। गुप्तकाल के पूर्व काल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक के भारतीय समाज का यथार्थ चित्रण इसमें मिलता है। भारत के व्यापारी, नाविक, धर्मप्रचारक समुद्र यात्रा की कठिनाइयों की परवाह न करते हुए दूर दूर के देशों में जाकर समृद्धि लाते थे तथा अपनी संस्कृति की अमिट छाप उन देशों में छोड़ आते थे। इन कथाओं में कई द्वीपों जैसे सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) कटाहद्वीप (केडा), नारिकेलद्वीप (निकोबार) कर्पूरद्वीप (बोर्नियो), मलयद्वीप (मलाया) आदि का वर्णन मिलता है। उत्तर पश्चिम की ओर अपरगान्धार की राजधानी पुष्कलावती का उल्लेख मिलता है। उस समय के भारतीय उत्तर में नेपाल, अलका, मानसरोवर आदि को लांघ कर चीन देश के साथ सम्बन्ध स्थापित कर चुके थे।

सामाजिक दृष्टि से कथासरित्सागर की कहानियां उथलपुथल का वातावरण प्रकट करती हैं जिसमें पुरानी मान्यतायें टूटती दिखाई देती हैं। आध्यात्मिकता के स्थान पर भौतिकता की प्रधानता दिखाई देती है। वर्णव्यवस्था में पर्याप्त लचीलापन दिखाई देता है। अन्तर्जातीय विवाहों के कई उल्लेख मिलते हैं। अनंगारवती के विवाह में विभिन्न वर्णों के युवक भाग लेते हैं। परोपकारी राजा की पुत्री ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय युवक से विवाह करना चाहती है। राजा महावराह की पुत्री पद्मरति से विवाह के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र युवक आते हैं परन्तु वह किसी को भी स्वीकार नहीं करती।[२]

व्यवसायचयन के क्षेत्र में भी स्वतंत्रता दिखाई देती है। श्रीदत्त ब्राह्मण होने पर भी मल्लयुद्ध में निपुणता प्राप्त करता है।[३] पंचपट्टिक शूद्र होने पर भी कपड़े का व्यापार करता है।[४] सामान्यतया शूद्र उपेक्षित होकर बौद्धधर्म ग्रहण करते दिखाई देते हैं।

स्त्रियों में पर्दा प्रथा दिखाई नहीं देती। यद्यपि बार बार पातिव्रत्य धर्म की

---

१. सी० एच० टानीकृत क० स० सा० के अंग्रेज़ी अनुवाद की भूमिका
२. क० स० सा० ६.२.११० आदि।
३. वही, २.२.१५.
४. वही, १२.१६.२४.

प्रशंसा की गई है परन्तु सैंकड़ों कुलटा स्त्रियों की कहानियाँ तत्कालीन नैतिक पतन और अमर्यादित उच्छृंखलता की ओर संकेत करती हैं। कई कथाओं में सासों द्वारा बहुओं पर किये गये अत्याचारों का उल्लेख है।[1] देवदासीप्रथा का उल्लेख मिलता है।

राजनैतिक क्षेत्र में अस्थिरता दिखाई देती है। युद्धों में कूटनीति का प्रचुर प्रयोग है। आमोद प्रमोद के कई साधनों नृत्यगोष्ठी, संगीतगोष्ठी, पानगोष्ठी, जल-क्रीड़ा, उद्यानक्रीड़ा, मृगया, गुलिकाक्रीड़ा, दोलाक्रीड़ा आदि का वर्णन मिलता है।

इस प्रकार कथासरित्सागर, कथाओं की विविधता, रोचकता तथा सांस्कृतिक सामग्री की विपुलता के कारण एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से भी यह सरस सुन्दर शैली में रचित महाकाव्य कहा जा सकता है। प्रसादमयी शैली में मनोरम सूक्तियां सहृदय के हृदय तथा बुद्धि दोनों को प्रभावित करती हैं। कितनी सुन्दर उक्ति है 'जैसे दीवार पर फैंकी हुई गेंद लौट कर फैंकने वाले की ओर आती है, वैसे ही दूसरे का बुरा चाहने वाले का अपना बुरा होता है।'[2]

---

१. क० स० सा० ६, ३.६७; ६, ३.६९.
२. कन्दुको भित्तिनिःक्षिप्त इव प्रतिफलन् मुहुः।
आपतत्यात्मनि प्रायो दोषोऽन्यस्य चिकीर्षितः॥ वही, ३.२१३

मुक्तककाव्य

अग्निपुराण के रचयिता ने मुक्तक को चमत्कारप्रधान स्वतन्त्र पद्य माना है —

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम् ।[1]

साहित्यदर्पण में मुक्तक का लक्षण इस प्रकार दिया हुआ है—

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।[2]

छन्द से निबद्ध एकाकी और दूसरे श्लोक की अपेक्षा न रखने वाले पद्य को मुक्तक कहते हैं। मुक्तक के लिए छन्दोबद्ध होना अनिवार्य धर्म है। जब कोई मुक्तक ब्रह्मानन्दसहोदर रस द्वारा पाठक के हृदय को आनन्दमग्न करके उसे अन्य विषयों से विरत करा देता है तभी वह सफल मुक्तक कहा जा सकता है। आनन्दवर्धन ने अमरुक के मुक्तक पद्यों की प्रशंसा करते हुए एक एक मुक्तक को प्रबन्ध काव्य के समकक्ष रख दिया है—

मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते यथा ह्यमरुकस्य कवे र्मुक्तकाः शृंगाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव ।[3]

प्रबन्धकाव्यों के समान मुक्तकों में भी रस में आग्रह रखने वाले कवि पाये जाते हैं। जैसे अमरुक कवि के शृंगाररस को प्रवाहित करने वाले प्रबन्धकाव्य सदृश (विभावादि से परिपूर्ण) मुक्तक प्रसिद्ध ही हैं। कश्मीरी महाकवियों द्वारा लिखे गये इन मुक्तकों के अनेक भेद हैं। इनमें अन्यापदेश या अन्योक्तिप्रधान मुक्तकों का प्रमुख स्थान है। इनके अतिरिक्त शृंगार, नीति, भक्ति, वैराग्य, उपदेश आदि विषयभेद से मुक्तकभेद देखे जाते हैं। कविता यदि जीवन की आलोचना है तो अन्यापदेश मुक्तक अवश्य इस कसौटी पर खरे उतरते हैं क्योंकि इनमें कविहृदय की वे गहरी अनुभूतियां प्रकट होती हैं जिन्हें वह अभिधा से नहीं कह पाता है। व्यङ्ग्योक्तियों का सहारा लेकर कवि लता, पुष्प आदि के माध्यम से मानवजीवन के मार्मिक सत्यों

---

१. अग्निपु० ३३६, ३७

२. साहित्यदर्पण ६,३१४

३. ध्वन्यालोक ३,६ वृत्तिभाग

का प्रकाशन कर हृदय और मस्तिष्क दोनों पर गहरी चोट करता है। भल्लटशतक और अन्योक्तिमुक्तालता नामक मुक्तककाव्य इसी शैली पर लिखे गये हैं।

भल्लटशतक

यह शतक कवि भल्लट की रचना है। कल्हण ने राजतरंगिणी में कश्मीर के राजा शंकरवर्मा के समय का वर्णन करते हुए भल्लट का उल्लेख किया है। गुणियों के सङ्ग से विमुख रहने वाले उस राजा के राज्य में भल्लट जैसे कवियों को बड़ा कष्टमय जीवन बिताना पड़ रहा था। एक ओर बड़े बड़े कवि वेतनरहित रहकर जीवन का भार ढो रहे थे, दूसरी ओर बोझा उठाने वाला जड़बुद्धि लवट दो हज़ार दीनार वेतन के रूप में पा रहा था। उसने अपने आपको नीच कुल में उत्पन्न होने वाला प्रमाणित कर दिया था।[1] शंकरवर्मा का राज्यकाल ८८३ ई० से ९०२ ई० तक था। अतः भल्लट का समय नवमी शताब्दी का उत्तरार्ध तथा दशमी शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

भल्लटशतक काव्यमाला शृंखला के चतुर्थ गुच्छक में निर्णयसागर प्रैस बम्बई के संग्रह में उपलब्ध है। इस प्रति तथा अन्य उपलब्ध प्रतियों के आधार पर तैयार किया गया इसका एक संस्करण मेहरचन्द लछमनदास दरियागंज दिल्ली ने १९८५ ई० छापा है। इसमें १०३ श्लोक दिये हुए हैं।

भल्लट ने भल्लटशतक में अन्यापदेश अथवा अन्योक्ति का आधार लेकर तत्कालीन समाज के उच्च वर्ग के अयोग्य व्यक्तियों के ऊपर फब्तियां कसी हैं। इन उक्तियों में कथन का विषय जड़ पदार्थ एवं पशु, पक्षी आदि प्राणी रहते हैं। परन्तु जो बात इन पदार्थों तथा प्राणियों पर घट रही होती है वही बात इनसे अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों पर भी चरितार्थ होती है। भल्लट की इन उक्तियों में कवि-हृदय की मार्मिक पीड़ा तथा तत्कालीन समाज के प्रति तीव्रप्रतिक्रियापूर्ण मनः-स्थिति दिखाई पड़ती है।

विप्रलम्भ शृंगार में पगे एक पद्य में विरहिणी का उलाहना बड़े मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। सुगन्धित वायु और गरजते मेघों के साथ आकर वर्षाकाल ने उसके हृदय की पीड़ा जगा दी है। मोरों ने नाचना प्रारम्भ कर दिया है, बिजली चमक चमककर उसका दिल दहला रही है। वियोगिनी नायिका को वायु, मयूर और मेघ से कोई शिकायत नहीं क्योंकि वे सब कठोरहृदय पुरुष प्राणी हैं और नारी की व्यथा नहीं पहचानते पर शिकायत तो इस विद्युत् से है जो उसकी भांति नारी होती हुई भी निर्दयता का व्यवहार कर रही है। उसे तो कोमलहृदया नारी होने के नाते पतिवियुक्ता के प्रति सहानुभूति दिखानी चाहिए थी—

---

१. राजतरंगिणी ५, २०४—६

वाता वान्तु कदम्बरेणुबहला नृत्यन्तु सर्पद्विषः
सोत्साहा नवतोयदानगुरवो मुञ्चन्तु नादं घनाः ।
मग्नां कालवियोगदुःखदहने मां वीक्ष्य दीनाननां
विद्युत् स्फुरसि त्वमप्यकरुणे स्त्रीत्वेऽपि तुल्ये सति ।।[१]

भयानक और बीभत्स रस के अद्भुत सम्मिश्रण से समन्वित श्लोक में कवि शिकारी के प्रतीक से अत्याचारी शासक के शासन में राष्ट्र की भावी दुर्गति की कल्पना प्रस्तुत कर रहा है—

मृत्योरास्यमिवाततं धनुरिदं चाशीविषाभाः शराः
शिक्षा सापि जितार्जुनप्रभृतिका सर्वाङ्गलग्ना गतिः ।
अन्तः क्रौर्यमहो शठस्य मधुरं हा हारि गेयं मुखे
व्याधस्यास्य यथा भविष्यति तथा मन्ये वनं निर्मृगम् ।।[२]

मौत के खुले मुँह सा यह इसका धनुष, तेज़ ज़हर सने ये इसके बाण, अर्जुन को मात करने वाला इसका हुनर, सारे अंगों की यह चुस्ती, दिल में ज़ुल्म और अधरों पर मीठे मीठे गीत, बस जंगल का अब क्या बचा रहेगा ?

कवि ने अपने मुक्तकों में विशेष रूप से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार को अपनाया है किन्तु कहीं कहीं उन्होंने भावध्वनि तथा विविध अलंकारों से भी अपनी कविता को चमत्कृतिपूर्ण बनाया है—

युष्माकमम्बरमणेः प्रथमे मयूखा
स्ते मंगलंविदधतूदयरागभाजः ।
कुर्वन्ति ये दिवसजन्ममहोत्सवेषु
सिन्दूरपाटलमुखीरिव दिक्पुरन्ध्रीः ।।[३]

यहां सूर्यदेवताविषयक रति होने से भावध्वनि है । दिक्पुरन्ध्रीः में रूपक तथा सिन्दूरपाटलमुखीरिव में उत्प्रेक्षा है ।

मान्धाता जैसे उदारहृदय अवन्तिवर्मा के राज्यकाल की सुख सुविधाओं से परिचित भल्लट ने जब शंकरवर्मा के राज्य में विद्वानों की उपेक्षा और जनता का शोषण देखा तो उनका पीड़ित कविहृदय सूर्य और अन्धकार के प्रतीक के माध्यम से बोल उठा—

पातः पूष्णो भवति महते नोपतापाय यस्मात्
कालेनास्तं क इह न ययु र्यान्ति यास्यन्ति चान्ये ।

---

१. भल्लटशतक ९७
२. वही, ९४
३. वही, २

एतावत्तु व्यथयतितरां लोकबाह्यैस्तमोभि—
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोऽवकाशः ।।[1]

सूर्य का अस्त हो जाना कष्ट की बात नहीं, दुःख तो इस बात का है कि सूर्य के जाते ही इस नभ पर अन्धकार ने अधिकार जमा लिया है। यह अन्योक्ति दो बिम्ब उपस्थित करती है—एक है सूर्य के प्रकाश से प्रदीप्त सुनहले दिवस का जिसकी महत्ता और उपादेयता का अनुमान कश्मीर की बर्फीली घाटियों में रहने वाले ही लगा सकते हैं और दूसरा है गहरी काली अमावस की रात का।

भल्लट ऐसे व्यक्तियों को धिक्कारता है जो निरन्तर निरादर सहते हुए भी अयोग्य स्वामी की सेवा किये जा रहे हैं। भ्रमर और हाथी के प्रतीकों से श्लेष-मयी भाषा में कहा जा रहा है—

सोऽपूर्वो रसनाविपर्ययविधिस्तत्कर्णयोश्चापलं
दृष्टिः सा मदविस्मृतस्वपरदिक् किं भूयसोक्तेन वा।
पूर्वं निश्चितवानसि भ्रमर हे यद् वारणोऽद्याप्यसा-
वन्तः शून्यकरो निषेव्यत इति भ्रातः क एष ग्रहः ।।[2]

यहां इस कंजूस स्वामी की तुम्हें बिलकुल भी सेवा नहीं करनी चाहिए इस व्यंग्य-ध्वनि की प्रतीति हो रही है।

अन्योक्तिमुक्तालता

कश्मीर के राजा हर्षदेव (१०८९-११०१ ई०) के सभाकवि शम्भु की यह कृति १०८ पद्यों का संग्रह है जिसमें बड़ी मार्मिक तथा रोचक अन्योक्तियां हैं। शम्भु ने अपने अन्य काव्य राजेन्द्रकर्णपूर में राजा हर्षदेव की विजयों का वर्णन किया है तथा उसकी प्रशंसा की है। सम्भवतः अन्योक्तिमुक्तालता की रचना हर्ष के राज्य-काल के अन्तिम दिनों में हुई होगी जब हर्ष का अत्याचारी रूप प्रबल हो उठा था। यह भी हो सकता है कि हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उच्चल के राज्यकाल में यह कृति रची गई हो जब कश्मीर की राजनैतिक स्थिति अस्थिर और शोचनीय थी। राजाश्रय छूट जाने पर शम्भु को असहृदय लोगों का कोपभाजन बनना पड़ा होगा जिसका संकेत अन्योक्तिमुक्तालता के कई पद्यों में मिलता है।

किसी विद्वत्सभा में मूर्ख को सम्मानित होते देखकर कवि आश्रयदाता को जतलाना चाहता है कि जिस सभा में नाना विद्याओं और कलाओं की सुगन्धि बिखेरने वाले पण्डित शोभायमान हों वहां निर्गन्ध जड़बुद्धि व्यक्ति को उनसे अधिक आदर देना समुचित नहीं होता। हार गूंथने वाले माली के प्रति कही इस अन्योक्ति से यह भाव ध्वनित होता है—

---

१. भल्लट शतक ११
२. वही १९

सौरभ का आगार जो हार खिले हुए मौलसिरी के फूलों से, लवंग की कलियों से, शेफालिका के मुकुलों से, नीलकमलों से और विचकिल के फूलों से युक्त और शोभित है, उसके बीच, अरे भोले ! यह सुगन्धिरहित कुसुम्भ क्यों गूंथ रहे हो ? यह तो ठीक रीति नहीं।[1]

प्रतीत होता है कि शम्भु कवि की सरस कविता को अच्छी तरह समझने वाले रसिक सहृदय कम थे। कुछ ऐसे आलोचक भी रहे होंगे जिन्होंने ईर्ष्यावश शम्भु की कविता की निन्दा की होगी तथा अन्य कवियों की रचनाओं को उत्तम बताया होगा। ऐसे सहानुभूतिशून्य आलोचकों को सुनाते हुए कवि की ऊंट के प्रति उक्ति है—यदि तेरा मन कांटों के समूह को पाने और नीम के पत्तों को खाने से आनन्दित होता है तो होता रहे। इसमें क्या हानि है ? परन्तु हे ऊँट, मैं तेरी यह धृष्टता कैसे सहन कर लूं जो तू मीठे गन्ने की पोरियों की निन्दा करने में लगा है।

इस प्रकार के अन्याय के शिकार बने किसी कवि के प्रति शम्भु की अन्योक्ति है—हे इक्षुदण्ड (गन्ने), तुम्हारी जिन पोरियों का रस कश्मीर की सुन्दर रमणियों के अधरों के अमृत के माधुर्य की छाप लिए है और जिनका पका हुआ गुड़ शहद को भी मात करता है, उन सफेद पोरियों के आस्वाद को यह अरसिक ऊँट व्यर्थ ही प्राप्त करते हैं और व्यर्थ ही उनकी निन्दा करते हैं।[2] असहृदयों के बीच फंसे कवि के हृदय की वेदना मौलसिरी पर अल्पवयस्का नायिका के व्यवहार का आरोप करते हुए निम्न अन्योक्ति में फूट पड़ी है—अरी भोली मौलसिरी ! तुम्हें किसने इन कठोर कंटीले करीर के पेड़ों के जंगल के बीच लगा दिया है, जहां तुम्हारी कोमल कलियों, पत्तों तथा अंकुरों तक भँवरे नहीं पहुंच पाते।[3]

मौलसिरी के सुकुमार नन्हें नन्हें नक्षत्राकार फूलों की मादक सुगन्धि भंवरों को मुग्ध कर देने वाली होती है परन्तु पत्तों से रहित कांटेदार करीरों के जंगल में

---

१. उत्फुल्लैर्बकुलैर्लवङ्गमुकुलैः शेफालिकाकुड्मलैः
नीलाम्भोजकुलैस्तथा विचकिलैः क्रान्तं च कान्तं च यत्।
तस्मिन्सौरभधाम्नि दाम्नि किमिदं सौगन्धवन्ध्यं मुधा
मध्ये मुग्ध कुसुम्भमुम्भसि भवेन्नैवैष युक्तः क्रमः ।। अन्योक्ति० पद्य ५

२. धत्ते कीरवधूरदच्छदसुधामाधुर्यमुद्रां रसो
येषां सा परिपाकसंपदपि च क्षौद्रद्रवरोहिणी।
तेषां पुण्ड्रककाण्ड पाण्डिमजुषां त्वत्पर्वणां चर्वणां
किं मुग्धाः करभा मुधैव विरसा विन्दन्ति निन्दन्ति च ।। वही, पद्य ८

३. केनात्र कर्कशकरीरवनान्तराले वाले बलाद् वकुलकन्दलि रोपितासि।
यत्राप्नुयुर्मधुलिहस्तव कोमलानि नो कुड्मलानि न दलानि न कन्दलानि ।।
वही, पद्य ७

खिलते हुए उन फूलों का मूल्य कौन पहचान पाता है ? प्रशंसा और अनुराग की प्यास हृदय में लिए वे फूल वहीं कांटों में गिरकर मुरझा जाते हैं।

सुन्दर अतीत की स्मृतियों को कुरेदते हुए वर्तमान की कटुता से सन्त्रस्त तथा अन्धकारमय भविष्य की कल्पना से विकल हुए कवि की भंवरे के प्रति उक्ति है—

हे मित्र सुन्दर भंवरे ! अब तुम्हें खैर के पेड़ से ही याचना करनी है, करीर के पेड़ की ही सेवा करनी है। हम क्या करें ? क्योंकि अब तुम्हारे लिए यह कांटेदार वृक्षों वाला भयंकर रेगिस्तानी मार्ग ही उपयुक्त है। वह मल्लिका की कली, नील-कमलों का वह समूह, जूही की वह क्यारी, और वह लवंगलता सबके सब आपसे दूर चले गये हैं।[1]

निराशा भरे विपरीत वातावरण में जीवन से मृत्यु ही श्रेयस्कर लगने लगती है। जब कभी कवि अपने को चारों ओर से स्वार्थ, घृणा, उपेक्षा तथा अपमान से घिरा पाता है तो उसकी लेखनी सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर पाती। पीड़ा में छट-पटाता वह मृत्यु के आलिङ्गन के लिए विकल हो उठता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति लवङ्ग के प्रति कही गई इस उक्ति में है—

हे लवङ्ग ! जिस कुञ्ज में करीर के पेड़ पनप रहे हैं, जहां द्रेक के पेड़ खिल रहे हैं, जहां करंज के अंकुर फूट रहे हैं और पीलू विकसित हो रहे हैं वहां तुम क्यों व्यर्थ खिल रहे हो ? क्यों व्यर्थ ही रमणियों के हृदय को बांधने वाली अदाएं धारण कर रहे हो ? यह कैसी रीत है ? तुम टूट ही क्यों नहीं गये ?[2]

कवि के ये अन्यापदेशमुक्तक उसके हृदय की गहरी अनुभूतियों को प्रकट करते हैं जिन्हें वह अभिधा से नहीं कह पाता। पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, पुष्प आदि अनेक प्रतीकों के माध्यम से ये अन्योक्तियां मानवजीवन के मार्मिक सत्यों का प्रकाशन करती हैं जो हृदय तथा मस्तिष्क पर गहरी चोट करते हैं। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा इस प्रकार कई अर्थ खुलते चले जाते हैं जो इस अन्योक्तिविधा की असीम सम्प्रेषणीयता के द्योतक हैं।

---

१. याच्यस्ते खदिरः करीरविटपः सेव्योऽपि किं कुर्महे
मार्गः संगत एष ते खरतरुर्यद् भैरवो मारवः।
तन्मल्लीमुकुलं तदुत्पलकुलं सा यूथिकावीथिका
चङ्ग तच्च लवंगमङ्गभवतो हा भृंग दूरं गतम्।। अन्योक्ति० ३३

२. कुञ्जे कोरकितं करीरतरुभिर्द्रेक्काभिरुन्मुद्रितं
यस्मिन्नङ्कुरितं करञ्जविटपैरुन्मीलितं पीलुभिः।
तस्मिन् पल्लवितोऽसि किं वहसि किं कान्तामनोवागुरा-
भङ्गीमङ्ग लवंग भङ्गमगमः किं नासि कोऽयं क्रमः।। वही, ४५

परोपकार से नितान्त विमुख हुए वैभवशाली व्यक्ति को उलाहना देते हुए कवि समुद्र से कहता है—

तुम्हारी आकाश तक उठने वाली लहरों का क्या लाभ जिनका पानी न पीने के काम आता है न नहाने के। तुम्हारे पानियों की अपेक्षा तो कूएं का नीरस नीर और मरुस्थल का जल ही भला, छोटे तलैया तथा बावलो का उथला पानी ही अच्छा है।[1]

ऐसी समृद्धि को जो किसी के काम नहीं आती, शाप देते हुए कवि कहता है— अरे जलधि ! आग लगे तेरे ऐसे जलों को जिनकी बूंद कोई पी नहीं सकता। पानी में घूमते मगरमच्छों के समूहों ने तेरे शरीर को क्लान्त कर रखा है। हवा के झौंके तेरी ऊंची लहरों के जाल बना रहे हैं। अत्यधिक खारेपन की संगति से खारा हुआ तुम्हारा जल कहां पीने लायक है।[2]

शम्भु की कई अन्योक्तियों में शृंगार का पुट है। अपनी प्रियतमा की स्मृति में खोए एक प्रेमी की स्थिति का अंकन भ्रमर के माध्यम से किया गया है। संसार भर के फूलों से विमुख हुआ केवल मालती की मुसकान को याद करता हुआ वियोगी भ्रमर वृक्ष की कोटरकुटीर में चुपचाप बैठा है।[3]

राजेन्द्रकर्णपूर

राजेन्द्रकर्णपूर शम्भु के आश्रयदाता महाराज हर्षदेव की लघु प्रशस्ति है। इस लघु कृति को शुद्धरूप से इतिहासकोटि में तो रखा नहीं जा सकता। ऐतिहासिक काव्यों में भी इसकी गणना उन रचनाओं में करना उचित है जिनमें इतिहास की अपेक्षा साहित्यिक सौन्दर्य को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। राजेन्द्रकर्णपूर के ७५ मुक्तक पद्यों में राजा हर्षदेव के शारीरिक सौन्दर्य, गुणग्राहकता, प्रजापालन आदि गुणों का वर्णन काव्यात्मक शैली में किया गया है। प्रतीत होता है कि शम्भु कवि का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाता की स्तुति करके उसका कृपापात्र बनना तथा

---

१. नीरं नीरसमस्तु कौपमिति तत्पाथो वरं मारवं
कासाराम्बु तदस्तु वा परिमितं तद्वास्तु वापीपयः।
पाने मज्जनकर्मनर्मणि तथा वार्ह्यैरलं वारिधे
कल्लोलावलिहारिभिस्तव नभः संचारिभिर्वारिभिः॥ अन्योक्ति० ५७

२. तत्ते पाथः पवनजनितोत्तालकल्लोलजालं
ज्वालं ज्वालं ज्वलतु जलधे सर्वमौर्वानलेन॥ वही, ४१

३. नानन्दं मुचुकुन्दकुड्मलकुले नो केतके कौतुकं
नोत्फुल्ले कुमुदे मदं न कुटजे कौटुम्ब्यमालम्बते।
चोलीदन्तचतुष्किकाशुचिरुचिस्मेरां स्मरन्मालतीं
किं त्वास्ते तरुकोटिकोटरकुटीबद्धास्पदः षट्पदः॥ वही, ३०

धन प्राप्त करना था। इसी कारण उसने ऐतिहासिक सामग्री के स्थान पर गुण-स्तवन पर बल दिया है। अनुमान है कि कवि की यह कृति महाराज हर्ष के राज्य-काल के पूर्वार्ध में रची गयी थी, जब उसका यश चरम सीमा पर था। बाद में राजकीय कोष खाली हो जाने पर जब उसने प्रजा को लूटना तथा देवालयों को नष्ट करना शुरू कर दिया और जब राजौरी और दरद देश पर किये गये उसके आक्रमण असफल रहे तब किसी स्वामिभक्त सभाकवि के लिए भी इस प्रकार की प्रशंसात्मक स्तुति लिखना संभव नहीं हो सकता था। राजेन्द्रकर्णपूर में महाराज हर्ष के गुणों का तथा दिग्दिगन्तों में फैली उसकी कीर्त्ति का काव्य-मय वर्णन किया गया है। स्वर्गलोक तथा भूलोक के विविध उपमानों की सहायता से कवि अनेक चित्र प्रस्तुत करता है जो उसके राजविषयक रतिभाव की पुष्टि करते हैं कई एक चित्र बड़े हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं। विद्याप्रेमी महाराज मुञ्ज के निधन पर दुखित हुई सरस्वती देवी का मार्मिक चित्रण कवि दो पद्यों में प्रस्तुत करता है। अपने को निराश्रित अनुभव करती हुई वाग्देवी के स्तन कांप रहे हैं, उसका अधर आंसुओं से धुल गया है, चेहरे से उदासी टपक रही है, एक हाथ पर गाल टिकाये वह चिन्ता में पड़ी है कि अब उसे कौन सहारा देगा ? कवि उससे पूछता है—"तुम्हें यह घुटन, यह अशान्ति, यह असन्तोष क्यों है ? तुम खोई खोई, घबराई सी, मुरझाई सी क्यों हो ? क्या महाराज मुञ्ज का दिवंगत होना तुम्हारी उदासी का कारण है ? तो घबराओ नहीं इस महाराज हर्ष को वही समझो। बुद्धि, यश, कान्ति, त्याग, नीति, विद्यानुराग, सम्पत्ति आदि में यह बिल-कुल वैसा ही है।"[1] सचमुच हर्ष जैसे साहित्यप्रेमी को पाकर सरस्वती नाच उठी। शम्भु कवि के शब्दों में—उसके मनोहर हार और कुण्डल झंकृत हो उठे, कंगन बजने लगे और हिलती हुई सोने की करधनी पुनः शब्दायमान हो उठी।[2] हर्ष का शुभ्र यश पर्वतों, नदियों, समुद्रों, दिशाओं दिगन्तों तक जा फैला है। उपमा, काव्य-लिंग तथा तद्गुण अलंकारों की सहायता से कवि ने इस यश के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि अन्धकार को समाप्त करता हुआ और दिङ्मण्डलों को धो डालता हुआ यह यश आकाश में व्याप्त हो गया है और इस शुभ्र यश की श्वेतिमा में प्रत्येक वस्तु अपना रंग छोड़कर श्वेत प्रतीत हो रही है। सामान्य पर्वत हिमा-

---

१. किं तान्तिः किमनिर्वृतिः किमधृति वाग्देवि मुञ्जे गते
 किं शून्यासि किमाकुलासि किमिति क्लान्तासि कोऽयं क्रमः।
 एवं विद्धि तमेव सास्य हि मतिः सा विश्रुतिः सा द्युतिः
 स त्यागः स नयः स सूक्तिषु रसस्ताः संमताः सम्पद.॥ राजेन्द्रकर्णपूर पद्य ३६

२. संजाते त्वयि हारिहारवलयक्वाणं क्वणत्कंकणं
 चंचत्कांचनकांचि सा भगवती नर्नर्ति वाग्देवता॥ वही १७

च्छादित कैलाश प्रतीत हो रहे हैं, सर्प शेषनाग प्रतीत हो रहे हैं, हाथी ऐरावत लग रहे हैं तथा पुंस्कोकिल हंस प्रतीत हो रहे हैं।[१]

वीरता में हर्ष राजा नल से बढ़कर है।[२] नित नई विजयों को प्राप्त करता हुआ उसका खड्ग भगवान् कृष्ण की समानता करता है। रक्षाकार्य में उत्सुक और तीनों लोकों में विख्यात इस खड्ग ने युद्ध की कथा को ही समाप्त कर दिया है।[३] शत्रुओं की स्त्रियों को विधवा बनाते हुए इस खड्ग ने चोलदेश की नारियों के शिरोभूषणों का अपहरण कर लिया है, कर्णाटदेश की स्त्रियों के कर्णाभूषणों को बिखेर दिया है, मुरल तथा केरल की सुन्दरियों के हार हर लिए हैं तथा लाटदेश की वनिताओं के मस्तक तिलकविहीन कर दिए हैं।[४] कोंकण और कुन्तल के राजा भी उससे भयभीत हैं।[५] दो पद्यों में मरुस्थल की विजयों की ओर संकेत है।[६]

कल्हण की राजतरंगिणी में भी महाराज हर्ष का विस्तार से वर्णन है। कल्हण ने हर्ष की पर्याप्त प्रशंसा की है परन्तु उसने राजा के दुर्गुणों को भी नहीं छुपाया। उसकी विलासिता, अदूरदर्शिता तथा प्रजापीडन का भंडाफोड़ भी किया है। राजतरंगिणी के हर्षविषयक भाग की तुलना राजेन्द्रकर्णपूर से करने पर स्पष्ट हो जाता है कि एक निष्पक्ष इतिहासकार के दृष्टिकोण में तथा एक आश्रयभोगी सभाकवि के दृष्टिकोण में कितना बड़ा अन्तर होता है? कल्हण किसी राजदरबार के आश्रित नहीं था और शम्भु सभाकवि था। दोनों कवियों की स्थिति में यह मौलिक अन्तर दोनों की शैली के अन्तर का प्रमुख कारण है। कल्हण में कविप्रतिभा थी परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों और घटनाओं की ओर उसकी दृष्टि अधिक थी अतः कविता के कलापक्ष की ओर उसने ध्यान नहीं दिया। शम्भु में उक्तिवैचित्र्य की क्षमता थी परन्तु अपने आश्रयदाता के विरुद्ध लेखनी उठाने का साहस नहीं था। अतः उसकी रचना ऐतिहासिक दृष्टि से एकपक्षीय रही।

साहित्यिक दृष्टि से यह लघुकाव्य मनोरम है। कलापक्ष की प्रधानता होने पर भी भावपक्ष उपेक्षित नहीं है। उपमा, रूपक, प्रतीप, उत्प्रेक्षा, निदर्शना, तद्गुण,

---

१. राजेन्द्रकर्णपूर पद्य ४
२. वही, पद्य ८१
३. वही, पद्य ३४
४. चौडीचूडाभरणहरणः कीर्णकर्णावतंसः
कर्णाटीनां मुषितमुरली केरलीहारलीलः।
कुर्वन्नुर्वीतिलक तिलकोत्सृष्टलाटीललाटं
जीयादेकस्तव नवयशःस्वर्णशाणः कृपाणः। वही ६
५. वही, २
६. वही, २१.२६

व्यतिरेक, काव्यलिंग, परिणाम, परिकर, दीपक, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारों से कविनिष्ठ राजविषयक रत्याख्यभावध्वनि सम्पुष्ट होती है। भाषा में शब्दचयन तथा वाक्यविन्यास दोनों सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ ३२वें पद्य की प्रथम पंक्ति में ल् वर्ण की असकृत् आवृत्ति झूलते हुए मोतियों और लहराती हुई अलकों का स्पष्ट चित्र आंखों के सामने ला देती है और दूसरी पंक्ति में ञ् ङ् के प्रयोग से बजते हुए कंगनों की खन् खन् ध्वनि सुनाई देने लगती है।[1]

शान्तिशतक

भर्तृहरि के वैराग्यशतक की शैली पर रचा गया शिल्हण का शान्तिशतक पर्याप्त लोकप्रिय ग्रंथ है। जीवानन्दविद्यासागरसंपादित संस्करण में १०१ पद्य हैं। बाटलिंग के संस्करण में १११ पद्य हैं। शॉनफैल्ड का जर्मन भाषानुवादसहित आलोचनात्मक संस्करण है।[2] भर्तृहरि के वैराग्यशतक के बीस पद्य इसमें सम्मिलित हैं। १२०५ ईस्वी में श्रीधरदास द्वारा संपादित सदुक्तिकर्णामृत में शिल्हण को कश्मीरी कवि कहा गया है तथा शान्तिशतक के कुछ पद्य भी उद्धृत किये गये हैं। स्पष्ट है कि शिल्हण भर्तृहरि (सप्तमशती ई०) के पश्चात् तथा श्रीधरदास से पूर्व हुए होंगे। इस शतक के अधिकांश हस्तलेख बंगाल से प्राप्त हुए हैं। एक ही हस्तलेख जम्मू के रणवीर संस्कृत अनुसन्धान संस्थान में सुरक्षित है। अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवतः बिल्हण की तरह निराश होकर कश्मीर भूमि को छोड़कर कवि शिल्हण बंगाल चला गया होगा। पिशल ने बिल्हण तथा शिल्हण को अभिन्न माना है परन्तु बिल्हण की शैली की ऐन्द्रियकता शान्तिशतक की शैली से मेल नहीं खाती।

शान्तिशतक के पद्य परितापोपशम, विवेकोदय, कर्तव्योपदेश तथा ब्रह्मप्राप्ति नामक चार परिच्छेदों में विभाजित हैं। प्रथम परिच्छेद में कवि दुःख प्रकट करता है कि संसार के लोग जानबूझ कर भी संन्यास का रास्ता नहीं अपनाते जिसमें आनन्द ही आनन्द है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि तीनों लोकों के स्वामी भगवान् विष्णु के होते हुए जो मन से सेवा करने पर ही अपना परम पद देने को तैयार हैं, हम मूर्ख जिस किसी नीच मनुष्य की सेवा के लिए लालायित रहते हैं जो तनिक सा टुकड़ा डाल देता है।[3]

---

१. लोलन्मौक्तिकवल्लि वेल्लदलकं वाचालकाञ्चीगुणं
चञ्चत्काञ्चनकङ्कणं च गिरिजा जातोत्सवा नृत्यतु॥ राजेन्द्रकर्णपूर, ३२

२. Das Santisataka Karl Schonfeld, Leipzig 1910

३. नाथे श्रीपुरुषोत्तमे त्रिजगतामेकाधिपे चेतसा।
सेव्ये स्वस्य पदस्य दातरि सुरे नारायणे तिष्ठति।
यं कञ्चित् पुरुषाधमं कतिपयग्रामेशमल्पार्थदं
सेवायै मृगयामहे नरमहो मूढा वराका वयम्॥ शान्तिशतक १.११

वन में निश्चिन्त होकर स्वतंत्र रूप से विचरण करते हुए मृग को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है—'अरे मृग तुमने कौन सी तपस्या की थी जो तुम्हें धनियों का मुंह बार बार नहीं देखना पड़ता, न ही वृथा चाटुकारी करनी पड़ती है। तुम न तो इन धनिकों के अहंकार भरे वचन सुनते हो और न ही आशा लेकर उनके पीछे पीछे भागे फिरते हो। समय पर हरी हरी घास खाते हो तथा नींद आने पर सुख की नींद सोते हो।'[1]

वृद्धावस्था में भी इस संसार का मोह न छोड़ने वाले वृद्ध के प्रति कवि की उक्ति है—यह संसार बचपन, जवानी और बुढ़ापे के रूप में किसी के आगे है, किसी के इर्द गिर्द फैला है और किसी के पीछे छूट गया है। शिशु के लिए सुलभ नहीं, वह उसे आदर दे। युवक को वह मिला है तो उसे भोगे परन्तु हे वृद्ध! विषयों से बाहर धकेले जाकर भी तुम क्यों मुड़ मुड़कर पीछे देख रहे हो?[2]

कवि मन को समझाता है कि तनिक से सुखरूपी मणि के लालच में विषय-रूपी भयंकर विषधर सांपों को छेड़ना उचित नहीं।[3]

मनुष्य के अपने कर्म ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। देवता लोग तो विधाता के अधीन हैं और विधाता हमारे कर्मों का ही फल दे सकता है। अतः कर्मों को ही नमस्कार है जिन पर विधाता का भी वश नहीं चलता।[4]

ब्रह्मप्राप्ति नामक अन्तिम परिच्छेद में योगी का वर्णन करते हुए उसे सभी

---

१. यद्वक्त्रं मुहरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चाटु मृषा
नैषां गर्वगिरः शृणोषि न पुनः प्रत्याशया धावसि।
काले बालतृणानि खादसि सुखं निद्रासि निद्रागमे
तन्मे ब्रूहि कुरंग! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः॥ शान्तिशतक १.१४

२. अग्रे कस्यचिदस्ति कञ्चिदभितः केनापि पृष्ठे कृतः
संसारः शिशुभावयौवनजराभावावतारादयम्।
बालस्तं बहु मन्यतामसुलभं प्राप्तं युवा सेवतां
वृद्धस्त्वं विषयाद्बहिष्कृत इव व्यावृत्य किं पश्यसि॥ वही २.२६

३. विषमविषधराणां दोषदंष्ट्रोत्कटानां
विषमविषविमर्दव्यक्तदुश्चेष्टितानाम्।
विरम विरम चेतः सन्निधानादमीषां
सुखकर्णमणिहेतोः साहसं मास्म कार्षीः॥ वही ३.१७

४. नमस्यामो देवान् ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा
विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।
फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किञ्च विधिना
नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति॥ वही १.१

प्रकार के भयों से मुक्त बताया गया है। जिसका पिता धैर्य्य है, जिसकी माता क्षमा है, जिसकी पत्नी शान्ति है, जिसका पुत्र सत्य है, जिसकी बहन दया है तथा भाई मन का संयम है। जिसके लिए भूमितल ही बिछौना है, दिशाएं ही वस्त्र हैं, ज्ञानामृत ही भोजन है। ये सब जिसके कुटुम्बी हैं उस योगी को किसका डर हो सकता है?[1]

अन्त में कवि प्रकृति के विभिन्न उपादानों से सम्बन्ध स्थापित करके उन्हीं के माध्यम से पाये ज्ञानप्रकाश द्वारा परब्रह्म में लीन होने की ओर संकेत करता है।[2]

शिल्हण की शैली की प्रमुख विशेषता भाषा की सरलता है। भक्ति, ज्ञानऔर वैराग्य की प्रशंसा बड़े सरल और प्रभावोत्पादक ढंग से की गई है। सैंकड़ों इच्छाओं के कारण कभी भी सन्तुष्ट न होने वाले हृदय की निन्दा कितने आकर्षक ढंग से की गई है—हे मेरे उदर! तुम्ही को भला समझता हूं जो साग पाकर सन्तुष्ट हो जाते हो। इस नीच हृदय को क्या कहूं जो सैंकड़ों इच्छाओं के कारण कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता।[3]

चतुर्वर्गसंग्रह

ग्यारहवीं शती के उत्तरार्ध में हुए क्षेमेन्द्र द्वारा रचित चतुर्वर्गसंग्रह नीतिपरक मुक्तककाव्य है। चतुर्वर्गसङ्ग्रह के चार परिच्छेदों में क्रमशः धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-विषयक पद्य हैं। प्रथम परिच्छेद के २७ पद्यों में कवि ने धर्म के विभिन्न अंगों—सत्य, अहिंसा, पवित्रता, दान, शान्ति, वैराग्य आदि पर प्रकाश डाला है। मनुष्य में यदि करुणा प्रवाहित करने वाली अहिंसा है तो उसे तीव्र तपों से क्या? यदि शान्ति से निर्मल हुआ मन सत्यपूत है तो दूर दूर के तीर्थों से क्या वास्ता? यदि बुद्धि परोपकाररत है तो दिखावे के दान पुण्यों से क्या? यदि पवित्र मन

---

१. धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी
सत्यं सूनुरियं दया च भगिनी भ्राता मनःसंयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्
यस्यैते हि कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद् भयं योगिनः॥ शा० श० ४.६

२. मातर्मेदिनि तात मारुत सखे ज्योतिः सुबन्धो जल
भ्रातर्व्योम निबद्ध एष भवतामस्तु प्रणामाञ्जलिः॥
युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मल-
ज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परे ब्रह्मणि॥ वही, ४, २५

३. त्वामुदर साधु मन्ये शाकैरपि यदसि लब्धपरितोषम्।
हतहृदयं ह्यधिकाधिकवाञ्छाशतदुर्भरं न पुनः॥ वही, ४

वालों की अच्युत में दृढ़ भक्ति है तो मोक्ष के अन्य उपायों से क्या ?[१]

द्वितीय परिच्छेद के २५ पद्यों में धन के महत्त्व का प्रतिपादन तथा उसकी वृद्धि और रक्षा के उपायों का वर्णन है।

धर्म की कथायें, काम में रुचि और मुक्ति की चाह तभी होती है जब मनुष्य का पेट भरा हो। गांठ में पैसा न होने पर भोजन की चिन्ता लगी हो तो कुछ और नहीं सूझता।[२]

तृतीय परिच्छेद में कामप्रशंसा के प्रसंग में नारी के सौन्दर्य का, प्रियजन के विरह की पीड़ा का तथा मिलन की घड़ियों के हर्षातिरेक का अंकन है। कवि पूछता है कि यह क्या बात है कि वही प्रिया जिसके चंचल नयन नीलकमल से हैं, भवें तरंगों सी, मुख चन्द्रवत् और गात्र मृणाललता की तरह हैं, जिसका स्पर्श चन्दन की तरह और मुस्कान तुषार की तरह शीतल है, वही प्रिया विरह में अग्निमयी सी हो जाती है और उसकी याद भी विषम ताप को उत्पन्न करने लगती है ?[३]

प्रियमिलन का एक चित्र देखिए—पति बहुत दिनों बाद घर लौटा है। उसे देखते ही सुनयना गृहिणी की आंखों में हर्ष के आंसू भर आए हैं। भाव-विभोर होकर वह अपने आंचल से उस घोड़े के गले की धूल झाड़ने लगती है जो उसके प्रिय को घर तक ले आया है। प्रेमातिरेक का अत्यन्त स्वाभाविक

१. तप्तैस्तीव्रव्रतैः किं विकसति करुणास्यन्दिनी यद्यहिंसा
किं दूरैस्तीर्थसारैर्यदि शमविमलं मानसं सत्यपूतम् ।
यत्नादन्योपकारे प्रसरति यदि धीर्दानपुण्यैः किमन्यैः
किं मोक्षोपाययोगैर्यदि शुचिमनसामच्युते भक्तिरस्ति ।। चतु० स० २.२७.

२. तावद्धर्मकथा मनोभवरुचिर्मोक्षस्पृहा जायते
यावत्तृप्तिसुखोदयेन न जनः क्षुत्क्षामकुक्षिः क्षणम् ।
प्राप्ते भोजनचिन्तनस्य समये वित्तं निमित्तं विना
धर्मे कस्य धियः स्मरं स्मरति कः केनेक्ष्यते मोक्षभूः ।। वही २.२४

३. कुवलयमयी लोलापाङ्गे तरङ्गमयी भ्रुवोः
शशिशतमयी वक्त्रे गात्रे मृणाललतामयी ।
मलयजमयी स्पर्शे तन्वी तुषारमयी स्मिते
दिशति विषमं स्मृत्या तापं किमग्निमयीव सा ।। वही ३, ७

अंकन है।[1]

अन्तिम परिच्छेद में सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता और वैराग्य की महत्ता का प्रतिपादन है।[2]

चारुचर्या

इस लघुकृति में एक सौ अनुष्टुप् पद्य हैं जिनमें सामान्य शिष्टाचार, लोकव्यवहार, धर्माचरण आदि के विषय में उपदेश दिया गया है। प्रत्येक पद्य के पूर्वार्ध में नीति-विषयक उक्ति है तथा उत्तरार्ध में उस उक्ति का समर्थन इतिहास पुराणादि से लिये उदाहरण से किया गया है। शरीरशुद्धि से लेकर आत्मदर्शन तक सभी विषयों का समावेश इस शतक में किया गया है। शताधिक आख्यानों की ओर संकेत कवि की बहुज्ञता को प्रकट करते हैं। जप, होम, पूजा आदि के समय शरीर पवित्र रखना चाहिए। नल ने पैर नहीं धोये थे तो कलि उसमें प्रविष्ट हो गया था।[3] मद्यव्यसन से बचने के लिए वृष्णियों का उदाहरण दिया गया है जो इसी कारण विनष्ट हो गये थे।[4] धन लाभ की दृष्टि से अपात्र की सेवा नहीं करनी चाहिए। भीष्म, द्रोण आदि का नाश दुर्योधन का आश्रय लेने से ही हुआ था।[5] तीव्र तथा दीर्घ वैर रखने वालों को क्रुद्ध नहीं करना चाहिए। चाणक्य ने सात दिनों में नन्द का पतन करवा दिया था।[6] कोई न कोई हुनर अवश्य सीखना चाहिए जो आपत्काल में काम आ सके। अर्जुन को नटवृत्ति से आजीविका करनी पड़ी थी।[7] अच्छे लोगों के गुणों का स्तवन करके उनका उत्साह बढ़ाना चाहिए। अपनी प्रशंसा सुनकर ही हनुमान् राम के कार्य को करने में समर्थ हो पाए थे।[8]

किसी के गुणों को देखकर उसका सम्मान करना उचित है उसकी जाति को

---

१. समायाते पत्यौ बहुतरदिनप्राप्यपदवीं
समुल्लङ्घ्याविघ्नागमनचतुरं चारुनयना।
स्वयं हर्षोद्बाष्पा हरति तुरगस्यादरवती
रजः स्कन्धालीनं निजवसनकोणावहननैः॥ चतु० स०, ३

२. न कस्य कुर्वन्ति शमोपदेशं स्वप्नोपमानि प्रियसङ्गतानि।
जरानिपीतानि च यौवनानि कृतान्तदष्टानि च जीवितानि॥ वही,

३. चारुचर्या, पद्य ८

४. वही, पद्य ११

५. वही, पद्य २२

६. वही, पद्य ६५

७. वही, पद्य ७५

८. वही, पद्य ३५

देखकर नहीं। द्रौणि जन्म से ब्राह्मण होकर भी शूद्रत्व को प्राप्त हुआ था और विदुर जन्म से शूद्र होकर भी पूजायोग्य बने थे।[१] माता पिता गुरुजन आदि की सेवा करनी चाहिए। माता के शाप से नागों का क्षय हुआ।[२] पिता को सन्तुष्ट करने से ययाति का छोटा पुत्र चक्रवर्ती बना।[३] गुरु के लिए भी आवश्यक है कि वह धनलाभ के लालच से कुशिष्य को न अपनाए अन्यथा बृहस्पति की तरह लज्जित होना पड़ सकता है।[४] इस प्रकार की अनेक व्यावहारिक शिक्षायें इस कृति में उपलब्ध होती हैं।

१. चारुचर्या, पद्य ३६
२. वही, पद्य १६
३. वही, पद्य १७
४. वही, पद्य ७४

लघुकाव्य

चौरपंचाशिका

बिल्हणकृत चौरपंचाशिका[1] इतना लोकप्रिय गीतिकाव्य रहा है कि इसके पाठ के तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं। दक्षिणी संस्करण में चौरपंचाशिका को एक चरित-काव्य बिल्हणकाव्य के अंग रूप में प्रस्तुत किया गया है। महिलापत्तन के राजा वीरसिंह की कन्या शशिकला (या चन्द्रलेखा) को पढ़ाने का कार्य कश्मीरी कवि बिल्हण को सौंपा गया था। दोनों परस्पर अनुरक्त हो गये तथा गान्धर्वरीति से प्रणयसूत्र में बंध गये। राजा ने बिल्हण के लिए मृत्युदण्ड घोषित कर दिया। मृत्यु से पूर्व जब कवि को ईश्वर का नाम लेने को कहा गया तो उसने अपनी प्रिया की मधुरस्मृतियों से भरे पचास पद्य सुना दिए तथा भावी जन्म में उसी को पत्नी रूप में पाने की चाह प्रकट की। राजकुमारी अपने प्रिय की मृत्युजन्यवेदना से करुणार्द्र हो उठी और आत्महत्या के लिए तैयार हो गई। तब महारानी की प्रार्थना पर महाराज ने बिल्हण को मुक्त कर दिया और अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया।

कश्मीरी संस्करण में ५६ पद्य हैं। इसमें बिल्हण की प्रणयकथा तो नहीं मिलती परन्तु द्वितीय पद्य में उसकी ओर संकेत अवश्य है—"कमलदल के समान कोमल और भोली सुन्दरि! तू व्यर्थ में राजा के सामने क्यों रो रही है? मृत्यु के पश्चात् अमराङ्गनाओं के कटाक्ष जाल में बद्ध हुआ यह बिल्हण पुनः लौट कर इस

---

१. विक्रमाङ्कदेवचरित की भूमिका में बूहलर ने इसे बिल्हणकृत मानने में तीन कठिनाइयों का उल्लेख किया है—१. कवि ने विक्रमाङ्कदेवचरित के १८वें सर्ग में अपना जीवनचरित देते हुए इसकी ओर संकेत नहीं किया। (२) इसके एक हस्तलेख में इसे चौरकवि की रचना कहा गया है। (३) विभिन्न हस्तलेखों में राजा तथा राजकुमारी के नामों में भेद पाया जाता है। फिर भी बूहलरने इसे बिल्हण की कृति ही माना है।

लोक में नहीं आयेगा।"[१]

उत्तरी संस्करण के एक हस्तलेख में ६४ पद्य हैं, दूसरे में ६० पद्य हैं तथा बिल्हण की प्रणयकथा भी है।

तीनों पाठों में केवल पांच पद्य पूर्णरूपेण समान हैं। श्री तदपत्रीकर ने दस हस्तलेखों का तुलनात्मक अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि ये पांच पद्य ही वस्तुतः बिल्हण द्वारा रचे गये थे। बाद में कवियों ने इन्ही पांच पद्यों का पचास या अधिक पद्यों में विस्तार कर दिया है।[२] कृति का नाम पहले पंचिका रहा होगा जो विस्तार करने के पश्चात् पंचाशिका कर दिया गया। कीथ के अनुसार दक्षिणी तथा कश्मीरी पाठों के ३४ पद्य वास्तविक हैं। सभी संस्करणों में समान रूप से उपलब्ध पांच पद्यों में कवि ने उत्तमपुरुष एकवचन का प्रयोग करते हुए प्रिया का स्मरण किया है। कभी नायिका नायक से रूठी पड़ी थी। इसी बीच नायक को अमंगल सूचक छींक आ गई। मानवती नायिका उस अमंगल को दूर करने के लिए "जीते रहो" यह शब्द तो नहीं कह पाई पर सौभाग्य के चिह्न कनकपत्रको झट कान से लगा लिया।[३] प्रेमी प्रेमी प्रेमिका के मानमिश्रित प्रेम का यह कितना निकट से लिया गया, वैयक्तिक और स्वाभाविक चित्र है? प्रियतम की विदाई की घड़ी आ पहुंची है, यह सुनते ही प्रेमिका के नयन डरी हुई हरिणी की तरह चंचल हो उठे, वाणी लड़खड़ा उठी, आंसू वहने लगे और तभी उसने शोक से मुख नीचा कर लिया।[४]

यात्रा से लौटकर प्रिय ने अपने को द्वार के पीछे छुपा लिया और प्रिया को देखा जो प्रियतम के लौटने की आशा में अपनी आंखें मार्ग पर गड़ाए, मुंह पर हाथ रखे चिन्तामग्न दिखाई दे रही थी।[५]

कश्मीरी पाठ के अन्तिम पद्यों में कवि प्रिया के विरह को प्रियामिलन से भी

---

१. चौरपञ्चाशिका कश्मीरी सस्करण

२. A. B. O R. I. Vol II

३. अद्यापि तन्मुखशशी परिवर्तते मे
रात्रौ मयि क्षुतवति क्षितिपालपुत्र्या।
जीवेति मङ्गलवचः परिहृत्य कोपात्
कर्णे कृतं कनकपत्रमनालपन्त्या॥ चौरपञ्चा०

४. अद्यापि तां गमनमित्युदितं मदीयं
श्रुत्वैव भीरुहरिणीमिव चंचलाक्षीम्।
वाचः स्खलद्विगलदश्रुजलाकुलाक्षीं
सञ्चिन्तयामि गुरुशोकविनम्रवक्त्राम्॥ वही

५. अद्यापि तां मयि समीपकपाटलीने
मन्मार्गमुक्तदृशमाननदत्तहस्ताम्॥ वही

बहुमूल्य मानता है क्योंकि मिलन में तो वह एक दिखाई पड़ती है पर उसके विरह में सारा विश्व ही प्रियामय प्रतीत होता है। राजभवन में, मार्ग में, शय्या पर, हर दिशा में, आगे पीछे सर्वत्र वही दिखाई देती है।[1]

शृंगार की विभिन्न अवस्थाओं के मनोरम वर्णनों से युक्त, कवि की आत्माभिव्यक्ति से अनुस्यूत यह गीतिकाव्य अपनी प्रवाहमयता, संगीतमयता तथा ऐन्द्रियकता के कारण पाठक पर अमिट प्रभाव डालता है।

दर्पदलन[2]

क्षेमेन्द्रकृत दर्पदलन सात विचारों में विभक्त ५६६ पद्यों का लघुकाव्य है। इसमें अभिमान के सात मुख्य कारणों कुल, धन, ज्ञान, सौन्दर्य, वीरता, दान और तप का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थरचना का प्रयोजन बताते हुए क्षेमेन्द्र ने कहा है कि दर्पदोष का चिकित्सक मैं मित्रों के प्रेम के कारण मधुरसूक्ति रूपी औषधियों से उनके स्वास्थ्य के लिए यत्न कर रहा हूँ। अहंकार से पीड़ित हुए मनुष्यों की भलाई के लिए उनके मोह को शान्त करने को यह दर्पदलन रचा गया है। प्रत्येक विचार अहंकार के किसी एक कारण के विषय में सामान्य चर्चा से प्रारम्भ होता है। उस कारण पर प्रकाश डालते हुए कई उदाहरणों से उस पर आधारित अभिमान की सारहीनता को स्पष्ट किया जाता है। प्रायः कोई रोचक कथा उसी तथ्य को पुष्ट करने के लिए दे दी जाती है।

कुल का अभिमान करने वाले मनुष्य के प्रति कवि का कथन है 'गुणवान् कुल में उत्पन्न हुए गुणरहित व्यक्ति को कौन पूजता है? दुधारू गऊओं के कुल में उत्पन्न वन्ध्या गाय किसके काम आती है?'

इसलिए सम्मोह रूपी पाताल के विशाल सर्प की तरह कुल और जाति का अभिमान नहीं करना चाहिए। शान्ति, क्षमा, दान, दया के आश्रय बने हुए महापुरुषों का चरित्र ही महान् कुल माना जाता है?"

---

१. प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा।
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा नास्ति तद्वियोगातुरस्य॥
देहान्तः सा बहिरपि सा नास्ति दृश्यं द्वितीयं।
सा सा सा सा त्रिभुवनगता तन्मयं विश्वमेतत्॥
संगमविरहवितर्के वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
संगे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥ चौरपञ्चा०

२. काव्यमाला सीरीज़ षष्ठ गुच्छ में प्रकाशित
उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद से १९६१ में प्रकाशित क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रह में समावेशित।

धन के अभिमान की चर्चा करते हुए कवि कहता है कि उस धन का क्या अभिमान जो लक्ष्मी के कटाक्ष की तरह चंचल है और जो गले के साथ बंधा होने पर भी मृतक के पीछे एक पग नहीं चलता। धन नमकीन पानी की तरह है जिसे पी पीकर भी प्यास नहीं बुझती।

काले धन की निन्दा करते हुए कवि कहता है 'उस शूल जैसे चुभने वाले धन से क्या लाभ जिसे राजद्रोह आदि पापों से सहसा कमा तो लिया परन्तु डर के मारे खर्च नहीं किया जा सकता। कंजूस का धन वस्तुतः धन नहीं हृदयरोग है जो अरुचि, क्लेश, तृष्णा, मोह और अनिद्रा को पैदा करता है।[१]

विद्या के विषय में क्षेमेन्द्र के बड़े क्रान्तिकारी विचार हैं। विद्या प्राप्त करके भी जो व्यक्ति चरित्र में ऊंचा नहीं उठ पाता उस पापात्मा को क्षेमेन्द्र दूर से ही नमस्कार करते हैं। जिस विद्या से न अपना उपकार हो न किसी और का वह विद्या कागज़ों का भारमात्र होने से व्यर्थ है।[२] जिस विद्या से तर्क द्वारा अन्याय को न्याय और न्याय को अन्याय बना दिया जाता है उस नीच विद्या का भी क्या लाभ?[३]

जो लोग सभाओं में दूसरों के यशरूपी शूल की पीड़ा से व्याकुल हुए अपनी झूठी प्रशंसा द्वारा गुणियों के गुणों को छिपाने का प्रयास करते हैं, क्रोध से लाल हुई आंखों वाले द्वेष के मारे गरम फुंकार करते हुए उन काले साँपों की विद्या सांप की रत्नशिखा की तरह लोगों को दुःख ही देती है।[४]

केवल दिन में सुन्दर दीखने वाले कमलों की तरह मनुष्यों के अस्थिर रूप का का भी क्या अभिमान? रूप से उत्पन्न कान्ति वैसे ही क्षणिक होती है जैसे हल्दी के रंग में रंगे रेशमी वस्त्र की।[५] बुढ़ापा, रोग, निर्धनता, युद्ध ये सब रूप का लोप कर देते हैं।

शौर्य का अभिमान करना भी व्यर्थ है। 'जो कल शत्रुसेना के छक्के छुड़ाता था वह आज डरा हुआ अधीर दीखने लगता है। जिस परशुराम ने युद्ध में कार्तवीर्य की हज़ार भुजाओं को तोड़ दिया था वही राम के धनुष उठाने पर दैन्यभाव प्रकट करने लगा था।[६] वस्तुतः दूसरों के प्राण की रक्षा करने में शौर्य है, प्राणों को

---

१. दर्पदलन ३, ४
२. वही ३, २८
३. वही ३, २९
४. वही ३, १४
५. वही ४.१
६. वही ५.८

हरने में नहीं।[१]

दान के विषय में कवि की धारणा है कि लोकप्रसिद्धि के लिए, किसी की होड़ में आकर यश पाने के लिए, सम्पत्तिरक्षा अथवा पुत्र, स्त्री और सुख की प्राप्ति के लिए जो दान दिया जाता है उस लोभयुक्त दान का लाभ नहीं होता।[२] सच्चा दान तो वह है जो बिना कहे, फल की इच्छा के बिना, दूसरों की पीड़ा को हरने के लिए गुप्त रूप में दिया जाता है।[३]

आशा लेकर द्वार पर आए सत्पात्र को छोड़कर पहले से भरे पूरे मनुष्य को स्वयं प्रार्थना करके जो दान दिया जाता है, निर्धन की गरम आहों से तपे हुए उस जले दान का कोई लाभ नहीं होता।[४]

श्रद्धा के बिना, अपमान करके जो धन दान में दिया जाता है वह उसी तरह निष्फल होता है जैसे ऊसर भूमि में डाला हुआ बीज।[५]

तप के विषय में क्षेमेन्द्र का कथन है कि सज्जन राग, धनाभिमान तथा मोह का नाश करने के लिए तप करते हैं। यदि उसी तप से अभिमान होने लगे तो व्यर्थ ही शरीर को कष्ट दिया।[६] संसार में रहते हुए कमल के पत्ते की तरह असङ्ग होकर रहना तथा दूसरों का हित करना ही सबसे उत्तम तप है।[७]

सरल तथा प्रभावोत्पादक शैली में अभिव्यक्त ये विचार आज भी उतने ही उपयोगी हैं जितने क्षेमेन्द्र के समय में थे। प्रत्येक विचार में कोई न कोई पौराणिक या ऐतिहासिक कथा देकर उस विचार की पुष्टि की गई है।

सेव्यसेवकोपदेश

क्षेमेन्द्र की यह लघुकृति इकसठ पद्यों में सेवक तथा स्वामी के सम्बन्धों को प्रकट करती है। कवि उन लोगों को धन्य मानता है जिन्हें स्वामियों को प्रणाम करते हुए गलियों की धूल अपने मस्तक पर नहीं लगानी पड़ती।[८] सेवक की दयनीय

---

१. दर्पदलन ५.२३
२. वही ६.४;१०
३. वही ६.२६
४. वही ६.१२
५. वही ६.५
६. वही ७.१
७. वही ७.३६
८. जयन्ति ते स्वस्ति नमोऽस्तु तेभ्यः प्रभुप्रणामच्युतमानरत्नम्।
सेवाप्रयासव्यसनेषु मिथ्या रथ्यारजोभागि शिरो न येषाम्॥
सेव्यसेवकोपदेश पद्य ३२

स्थिति की चर्चा करते हुए कवि कहता है—स्वामी को झुककर प्रणाम करते समय सेवक अपनी दीनता के मूल कारण पेट को देखता हुआ लज्जित होकर मानों भूमि में प्रवेश करने को नीचे देखता है।[1] सेवक ज़मीन पर सोता है, खाना भी नहीं खाता, और सरदी गरमी हवा सभी से पीड़ित हुआ बेचारा मुनियों जैसा व्रत धारण करने पर भी नरक जैसा क्लेश भोगता है।[2] आशा रूपी ग्रह से पकड़े हुए इन सेवकों का भी क्या जीवन है? हाथ जोड़कर माथे पर रखे हैं, हृदय में दीनता है और मुख में चापलूसी के वचन हैं। क्षेमेन्द्र की यह धारणा है कि कुस्वामी से कुछ पाने की आशा व्यर्थ है। अहंकार से अन्धा हुआ जो धनी स्वामी सामने की भूमि को भी नहीं देख पाता वह भला दीनता से तुच्छ हुए सेवक को कहां देख सकता है?[3] वैसे तो स्वामी और सेवक दोनों ही अन्धे हुए पड़े हैं, एक अहंकार से और दूसरा लोभ से। दोनों के चेहरे विकृत हुए पड़े हैं, एक का धन की गर्मी से और दूसरे का दीनता से। अतः कौन किसे ठीक तरह से पहचाने।[4] स्वामी की सेवा में हाज़िर होते हुए सेवक का कैसा चित्र खींचा है? सेवक दरवाज़े पर खड़ा है परन्तु स्वामी उसकी परवाह ही नहीं कर रहा। किसी तरह डरते डरते वह पास पहुंचता है तो भी उसे नहीं देखता। प्रार्थना करने पर सुनता नहीं या उल्टा सीधा सुनाता है। ऐसे स्वामी की भी जिन्होंने सेवा की है वे पिशाच क्या नहीं कर रहे?[5] कवि की सेवकों को यह सलाह है कि अज्ञानवश राजाओं के सामने जो दीनता दिखाते हो उसे छोड़ दो। उनके चरणों में प्रणाम करके जो धूल इकट्ठी की है उसे संतोष रूपी जल से धो डालो। परम सन्तोष की तथा संवित् से युक्त परम पुराण पुरुष की सेवा करो जिसके स्मरण से संसार के बन्धन नहीं रहेंगे।[6]

कलाविलास

क्षेमेन्द्रकृत यह लघुकाव्य दस विलासों में विभक्त है तथा जीवन के विभिन्न

---

१. प्रभुप्रणामे जठरं दैन्यमूलं विलोकयन्।
प्रवेष्टुं सेवकः शङ्के विलक्षः क्षितिमीक्षते॥ सेव्यसेवकोपदेश पद्य ११

२. भूमिशायी निराहारः शीतवातातपक्षतः।
मुनिव्रतोऽपि नरकक्लेशमश्नाति सेवकः। वही, पद्य २०

३. यः पृथ्वीमपि दर्पान्धो न पश्यति पुरःस्थिताम्।
स दैन्यलघुतां यातं कथं सेवकमीक्षते॥ वही, पद्य ५

४. दर्पादेकः परो लोभाद् द्वावन्धौ सेव्यसेवकौ।
धनोष्मदैन्यविकृती मुखे कः कस्य पश्यति॥ वही, पद्य ४

५. वही, पद्य ५४

६. वही, पद्य ५८

क्षेत्रों में विभिन्न लोगों द्वारा प्रयुक्त छल, कपट और धूर्तताओं का व्यंग्यात्मक शैली में वर्णन प्रस्तुत करता है। हिरण्यगुप्त नाम का एक व्यापारी अपने पुत्र चन्द्रगुप्त को लोकव्यवहार की शिक्षा प्राप्त करने को मूलदेव के पास भेजता है। मूलदेव उसे काम, लोभ, दम्भ, अहंकार आदि के विषय में तथा वेश्या, कायस्थ, गायक, सुवर्णकार, नकली वैद्य, झूठे संन्यासी, नट, नर्तक आदि के विषय मे सभी प्रकार का ज्ञान देता है।

प्रथम विलास में बताया गया है कि दम्भ सभी कलाओं का सार है। संसार में मनुष्यों को निराश्रय देखकर भगवान् स्वयंभू ने धूर्तता की सृष्टि की और उनकी कृपा से यह धूर्तता अब सर्वत्र शासन कर रही है। वाह्लीकों की वाणी में, प्राच्यों और दाक्षिणात्यों के व्रत, नियमों में, कीरदेशीयों के शासन में, गुरु, शिष्य, तपस्वी, राजकर्मचारी, गणक, चिकित्सक, सेवक, नट, भट, गायक, वाचक सभी में इसका प्रवेश है। पशु पक्षी भी इस दम्भ से नहीं बचे हैं।[1] तपस्वी की तरह स्थिर, एक पैर पर खड़े उस बगुले को देखो जिसकी नज़र मछलियों पर टिकी है। ये वृक्ष भी जो संन्यासियों की भांति वल्कल ओढ़े सरदी गरमी को सहते दिखाई देते हैं वस्तुतः पानी की चाह कर रहे हैं।[2]

द्वितीय विलास में लालच की महिमा वर्णित है। यह लोभ मनुष्य को कर्तव्य अकर्तव्य का भेद भुला देता है।[3] इस लोभ के वश में हुए चोर व्यापारी दिन दहाड़े जनता को लूटते हैं।[4] एक साहूकार पर व्यंग्य किया गया है जो अपनी धरोहर वापिस लेने को आए हुए निर्धन व्यक्ति को गाली देकर टाल देता है या फिर यह कहकर पुत्र के पास भेज देता है कि मैं तो बूढ़ा हो गया हूं, बेटे के पास ही सब हिसाब है। पुत्र कहता है कि पिता को हिसाब ज्ञात है, पिता कहता है कि पुत्र को पता होगा, इस प्रकार वह बेचारा गेंद की तरह इधर से उधर

---

१. वचने बाह्लीकानां व्रतनियमे प्राच्यदाक्षिणात्यानाम्।
अधिकारे कीराणां दम्भः सर्वत्र गौडानाम्॥
तदनु च गणकचिकित्सकसेवकवणिजां सहेमकाराणाम्।
नटभटगायकवाचकचक्रचराणां च हृदयानि॥
अंशैः प्रविश्य हृदयं विविधाकारैः समस्तजन्तूनाम्।
दम्भो विवेश पश्चादन्तरमिह पक्षिवृक्षाणाम्॥ कलावि. ८७,९१-९२

२. वही १, ९३-९४

३. वही २, १

४. क्रयविक्रयकूटतुलालाघवनिक्षेपरक्षणव्याजैः।
एते हि दिवसचौरा मुष्णन्ति मुदा जनं वणिजः॥ वही २, ४

भटकता फिरता है।[१]

तृतीय विलास में काम के प्रभाव का विवरण दिया गया है। यह माधुर्य से आच्छादित विष है जो प्रारम्भ में तो आनन्दित करता है परन्तु बाद में नष्ट कर देता है।[२] कामासक्त स्त्रियां किस प्रकार अपने पतियों की उपेक्षा करके दूसरे युवकों को अपने जाल में फंसाती हैं इसका रोचक वर्णन किया गया है। ऐसी पत्नियां क्लबों में घूमने की शौकीन, अपने पतियों के दोष बतलाती हुई, दूसरों के गुणों की चर्चा करती हुईं, तरुणों के लिए स्वभाव से सदया होती हैं।[३] ऐसी निर्लज्ज नारियों के अस्थिर और क्रूर स्वभाव को पहचानने वाला ही उनके चंगुल से बच सकता है।[४] अन्यथा वणिक् धनदत्त के जामाता समुद्रदत्त की तरह कष्ट भोगता है।

चतुर्थ विलास में चौंसठ कलाओं में पारङ्गत वेश्याओं की चर्चा है। सजधज कर रहना, नाचना, गाना, टेढ़ी नज़रों से देखना, मित्रों को धोखा देना, रोना, रूठना, आंखें बन्द कर निस्पन्द होना, मरने जैसी दशा दिखाना ये सब उनकी कलायें हैं। झूठी आशा की तरह वेश्या पहले तो प्रसन्न कर लेती है, मध्य में प्रवासादि का कष्ट देती है और अन्त में दुःखकारिणी होती है।[५] इस विलास में क्षेमेन्द्र ने कई लघु कथाएं कही हैं जो वेश्याओं के व्यवहार पर प्रकाश डालती हैं। एक प्रेमी से सन्तुष्ट न रहकर वेश्या कइयों को जाल में फंसाए रखती है। एक उसकी स्तुति करता है, दूसरा उसे धन अर्पित करता है, तीसरा दास की तरह उसकी सेवा में लगा रहता है, चौथा उसकी रक्षा करता है और पांचवा उससे प्रेमक्रीड़ा करता है।[६]

पंचम विलास में कायस्थ की क्रूर लेखनी की करामात दिखाई है जो सभी को ठगती है। राज्यलक्ष्मी उसकी कलम के अग्रभाग से गिरती स्याही के बिन्दुओं के

---

१. वही २, २४-३४

२. कामः कमनीयतया किमपि निकामं करोति संमोहम्।
विषमिव विषमं सहसा मधुरतया जीवनं हरति ।। कलावि. ३, १

३. गोष्ठीविहरणशीला तरुणजने वत्सला प्रकृत्यैव।
परगुणगणने सक्ता निजपतिदोषाभिधायिनी सततम् ।। वही ३, २१

४. इत्येताः कुटिलतराः क्रूराचारा गतत्रपाश्चपलाः।
यो नाम वेत्ति रामाः स स्त्रीभिर्नैव वञ्च्यते मतिमान् ।। वही ३, ७६

५. प्रथमसमागमसुखदा मध्ये व्यसनप्रवासकारिण्यः।
पर्यन्ते दुःखफलाः पुंसामाशाश्च वेश्याश्च ।। वही ४, २३

६. वर्णनदयितः कश्चिद् धनदयितो दासकर्मदयितोऽन्यः।
रक्षादयितश्चान्यो वेश्यानां नर्मदयितोऽन्यः ।। वही ४, ४०

बहाने कज्जलसहित आंसू गिराती है।[१] कवि कायस्थ के द्वारा लिखित कुटिलाक्षरों की उपमा कालपाशों तथा सर्पों से देता है। ये विचित्र बुद्धि वाले कायस्थ चित्रगुप्त की तरह हैं जब चाहा एक रेखा मिटाकर सहित को रहित बना कर भाग्य बिगाड़ दें।[२]

छठे विलास में मदवर्णन है। सौन्दर्य का मद, शौर्य का मद, शृंगार का मद, ऊचे कुल का मद, इन सब मदवृक्षों का मूल धन का मद होता है। सबसे प्रमुख तो शराब का नशा है जो हज़ार वर्षों के परिश्रम से अर्जित सदाचार को क्षण में नष्ट कर देता है। व्यंग्य करते हुए कवि कहता है कि शराबी तो योगदशा में पहुंचा हुआ विद्वान्, ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी, कुत्ते सभी में समान दृष्टि रखता है। उसे अपने पराये का भेद नहीं रहता, भले बुरे की पहचान नहीं रहती, सोना, लकड़ी पत्थर सब उसके लिए समान हैं पर फिर भी वह स्वयं नरक में जा गिरता है।[३]

सातवें विलास में भाट, नर्तक, नट आदि का उल्लेख है जो अपने धूर्त कार्यों से लोगों को दिन दहाड़े लूटते हैं। गायक प्रातः तो सजधज कर निकलते हैं, दुपहर तक जूए में सब कुछ हार कर निष्प्रभ हो जाते हैं, सायंकाल को झूठी स्तुतियों के बाणों से मृगों जैसे भोले भाले लोगों का सर्वस्व हर लेते हैं।[४]

आठवें विलास में स्वर्णकारों के विषय में कहा है कि वे पूर्वजन्म के राक्षस तथा मेरु पर्वत को खोदने वाले चूहे हैं अतः इस रसलोक में दिन रात सोना काटते रहते हैं।[५]

नवम विलास में हज़ारों मनुष्यों को मौत के घाट पहुंचाने वाले वैद्य, कुलीन नारियों को पतित करने वाले हृदयचौर, जूए, शराब, वेश्यागमन में आसक्त गृहचौर, झूठे लाभ का आश्वासन देकर ऋण लेने वाले लाभचौर, अदालत रूपी समुद्र में वडवानल की तरह निरन्तर भक्षण करने वाले न्यायचौर, चुगली करके दूसरों की वृत्ति छीनने वाले वृत्तिचौर, भोले लोगों को भटका कर पशुओं की तरह हांक कर विदेश ले जाने वाले देशचौर, धन रूपी कमलों पर मंडराने वाले परन्तु मुसीबत की आंधी से परे भागने वाले सुखचौर, दूसरों के गुणों को छिपाकर अपने गुणों की वकालत करने वाले गुणचौर, प्रतिदिन वेतन लेकर भी काम छोड़कर

---

१. कलमाग्रनिर्गतमषीबिन्दुव्याजेन साञ्जनाश्रुकणैः।
कायस्थलुण्ठ्यमाना रोदिति खिन्नेव राज्यश्रीः॥ कलावि० ५, ७

२. एते हि चित्रगुप्ताश्चित्रधियो गुप्तकारिणो दिविराः।
रेखामात्रविनाशात् सहितं कुर्वन्ति ये रहितम्॥ वही ५, ११

३. वही, ६, १५-१७

४. वही, ७, ११-१२

५. वही, ८, २७-२८

मज़े लूटने वाले तरखान, मिस्त्री आदि कालचौरों का वर्णन है।[१] दूसरों की ग्रहदशा को बताता हुआ ज्योतिषी स्वयं इतना भी नहीं जान पाता कि उसकी अपनी पत्नी विविध प्रेमियों के साथ प्रेमक्रीड़ायें करती हैं।[२] तांबे के पात्र के समान गंजे सिर वाला औषधिविक्रेता दूसरों का गंजापन दूर करने की दवाई बेचता फिर रहा है।

दशम विलास में क्षेमेन्द्र इस बात को स्पष्ट करते हैं कि इन सब धूर्तताओं से बचने के लिए इनका ज्ञान आवश्यक है। सुखप्राप्ति के लिए तो ईर्ष्या का त्याग, मधुर वचन, धैर्य, अक्रोध तथा वैराग्य ये पांच कलायें हैं। शील का आधार सत्सङ्ग कामजय, पवित्रता, गुरुसेवा, सदाचार, निर्मलज्ञान तथा यश में प्रेम ये सात कलायें हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी की सत्कलाओं का वर्णन कवि ने किया है।

कवि ने अपनी पैनी दृष्टि से समाज में फैली बुराइयों को देखकर उनका भंडा-फोड़ करने का प्रयास किया है। जिन पात्रों का अंकन उसने किया है वे उसकी कल्पना की उपज नहीं अपितु प्रत्यक्ष जीवन से लिये गये जीते जागते पात्र हैं। क्षेमेन्द्र यथार्थवादी है जो यथार्थ पर परदा न डालकर उसके निरावरण द्वारा जनता को सावधान करता है। अपनी कलम की चोट से पाठकों का दिल दहला देता है।

नर्ममाला

क्षेमेन्द्र की नर्ममाला में ग्यारहवीं शती के कश्मीर के भ्रष्ट अधिकारी वर्ग का परि-हास किया गया है। कायस्थों के अनेक काले कारनामों जैसे—रिश्वत, जालसाज़ी आदि का वर्णन बड़ी पैनी दृष्टि से किया गया है। राक्षसों के घर का खजांची कायस्थ राक्षसों के नष्ट होने पर कलि की कृपा से कलम रूपी अस्त्र लेकर देवों के विनाश के लिए पृथ्वी पर जन्मा है।[३] ऐसा लगता है कालि स्वयं पिघलकर उसकी स्याही के रूप में उपस्थित हुआ है।[४] अपनी निःस्पृहता तथा योग्यता का ढोंग रच कर वह क्रमशः उन्नति करते करते गृहकृत्याधिकारी बन जाता है। पूजापाठ करते करते भी उसके द्वारा प्रजा को नाना अन्यायपूर्ण पीड़ा देने के आदेश देते जाना बड़ा सजीव चित्र उपस्थित करता है।[५] खुफ़िया पुलिस का अधिकारी मन्दिरों की

१. कलाविलास ९, २२-३७

२. गणयति गगने गणकश्चन्द्रेण समागमं विशाखायाः।
विविधभुजंगक्रीडासक्तां गृहिणीं न जानाति॥ वही ९, ६

३. नर्ममाला १.९-११

४. कलिः प्रयातो द्रवतां मषीरूपेण तिष्ठति। वही १. २९

५. वही १. ३९-४४

सम्पत्ति को छीनने की सलाह देता है।[१] परिपालक जब सैनिकों से लोगों के घरों के दरवाज़े तुड़वाकर उनके घर का सारा सामान, वस्त्र, बर्तन आदि छीन लेता है तो घर से स्त्रियों तथा बच्चों का कोहराम सुनाई पड़ता है।[२] फटे हाल क्लर्क की पत्नी जिसे फटे कपड़े और मिट्टी की बालियां नसीब होती थीं पति की परिपालक के साथ नियुक्ति होने पर गणेशजी की पूजा पूड़ों से करती है। अब तो पांचों घी में हैं। दीनारें गिनता हुआ उसका पति दो सौ लेख लिखता है। परिपालक को उसकी मनचाही रिश्वत पहुंचाता हुआ वह भी दोनों हाथों से कमाता हुआ मोटा और घमण्डी हो गया है।[३] गञ्जदिविर तो उससे भी तेज़ है। वह परिपालक को बता देता है कि उससे विरोध करने वाले परिपालकों को अपना सामान भी बेचना पड़ा था। उससे सांठ गांठ करके मन्दिर का सभी कुछ धीरे धीरे लूटा जा सकता है। परिपालक भी उसकी कुशलता को सुनता है कि कैसे उसने मन्दिर का बहुत बड़ा ताम्रपात्र अपने घर लाकर उसी के थोड़े से हिस्से से मन्दिर में घण्टा लगवा दिया। फिर घण्टा बेचकर उससे छोटी घंटी लगवाई। फिर वह भी बेच खाई।[४] परिपालक ने भी अखरोट को अन्दर ही अन्दर से खोखला कर देने वाले चूहे की तरह मन्दिर को खाली कर दिया।[५] मार्गपति या सड़कों का इन्सपैक्टर वैसे तो रोज़ घी मांस खाता रहता है पर राजपुरुष के सामने होने पर बिना नमक की मूंग की दाल से ही गुजारा करता है।[६] पटवारी को घूस का ज़रा सा संकेत मिला नहीं कि ग्राहक के घर जाकर कागज़ों का हेर फेर कर देता है। कायस्थ की पत्नी जो कभी टूटे मिट्टी के बर्तन मांगकर चाय पीती थी अब चांदी के पात्रों में कस्तूरिका मधु पीती है। मालाधारिणी पान चबाती है। उसका अभिमान तो राजमहिषी सा हो गया है। अब उसे सोने के गहने भी भारी लगते हैं। बनियों की औरतों के योग्य सोने की जंजीर वह नहीं पसन्द करती, उसे तो एकावली चाहिए।[७]

दूसरे परिहास में नियोगी की युवती पत्नी का वर्णन है जो अपना आंचल नीचे खिसकाये स्तन प्रदर्शन करती हुई तिरछे नयनों से युवकों को देखती है। कुछ मनचले युवक भी उसके घर के इर्द गिर्द अकारण मंडराते रहते हैं और उससे

---

१. नर्ममाला १. ५२-५५

२. वही, १. ६९-७०

३. वही, १. ७१-८२

४. वही, १. ९२-९४

५. इत्युपायशतैस्तैस्तदुक्तैः परिपालकः।
   जरठाखुरिवाक्षोटं शून्यं चक्रे सुरालयम्॥ वही १. ९६,

६. वही १. १२७

७. वही १. १४२-१४७

परिचय प्राप्त करने की योजना में सफल हो जाते हैं। नियोगी की पत्नी को बह-काने में श्रमणिका का भी योगदान है। मठ का एक छात्र उस नियोगी की पत्नी के प्रति आकृष्ट हुआ उसके घर के बालकों को पढ़ाने वाले उपाध्याय की शरण लेता है। सारी लिपि जानता हुआ भी वह धीरे धीरे ओंकार लिखता है। बहाना पढ़ाई का और काम नियोगी की पत्नी को निहारने का। धीरे धीरे नियोगी की पत्नी, भाभी, बहन सभी उसके चंगुल में फंस जाती हैं। इसी परिहास में विद्याविहीन वैद्यादि का वर्णन है। तृतीय परिहास में परिपालक की कैद तथा नारकीय अवस्था को प्राप्त करके नियोगी के मर जाने का वर्णन है।

देशोपदेश

आठ उपदेशों में विभक्त, क्षेमेन्द्र का लघुकाव्य देशोपदेश हास्यव्यंग्य के माध्यम से तत्कालीन कश्मीर की राजनैतिक और सामाजिक बुराइयों पर प्रकाश डालता है। काव्य के आरम्भ में कवि स्वयं कहता है—

"जो लोग दम्भ तथा मायामय दोषों में लिप्त हैं उनके लिए मेरा यह प्रयास नहीं है। मैं तो केवल परिहास के बहाने कुछ उपदेश कर रहा हूं ताकि परिहास से लज्जा अनुभव करने वाले लोग कुकर्मों में प्रवृत्त न हों।"[१]

प्रथम उपदेश में सामान्य रूप से दुर्जननिन्दा की गई है। शत्रु, मित्र, मान, अपमान में समभाव रखता हुआ तथा वृत्ति (दूसरों की आजीविका) छुड़ाने में अभ्यस्त खल को व्यंग्य से निर्वाणदीक्षित कहा गया है। अपनी जिह्वा से सत्पात्र को दूषित करने में वह चुगलखोर कुत्ते के समान है तथा शुभकर्मों का अनिष्ट करने में शनिग्रह के तुल्य है।[२]

दूसरे उपदेश में कंजूस का बड़ा रोचक तथ्यपूर्ण विवरण मिलता है। उस जैसा दाता संसार में कौन हो सकता है? वह जब याचक को बिना कुछ दिये गले से पकड़कर घर से बाहर निकालता है तो स्वयं कुंडा लगाकर भूखा पड़ा रहता है। घर में अकस्मात् सगे सम्बन्धियों के आ जाने पर पत्नी से बनावटी कलह करके अनशन कर लेता है जिससे सम्बन्धी उलटे मुंह लौट जाएं। सायंकाल किसी अतिथि के आ जाने पर उससे कुशलक्षेम भी नहीं पूछता कि कहीं उसको भोजन न कराना पड़ जाए।[३] सर्वहारी काल को भी भूला हुआ वह कंजूस साठ साल पुराने धान की भी (भविष्य में कीमत बढ़ने पर बेचने के लोभ में) बिक्री नहीं करता।[४] दुर्भिक्ष का

---

१. देशोपदेश १.३,

२. वही, १.६-८,

३. वही, २. १८-१९

४. षष्टिवर्षस्य धान्यस्य यः करोति न विक्रयम्। वही, २. ३३

अभिलाषी वह कृपण वर्षा न होने पर तथा अतिवृष्टि होने पर आनन्द से नाच उठता है।[1] उसका अपना रूप देखने योग्य है। पीलिया रोग से पीड़ित होने से मन्दाग्नि है, मुंह से लार टपकती है, आंखें धंसी पड़ी हैं, मुंह से दुर्गन्ध आती है। लगता है उसकी लक्ष्मी उसके मैल भरे दांतों में और धुएं से काले हुए कम्बल में ही निवास करती है।[2]

तृतीय उपदेश में वेश्या का यथार्थ चित्रण है जो बुद्धिमान् को मूर्ख, धनी को कंगाल, पवित्रात्मा को चोर और बड़े को छोटा बना देती है।[3]

चतुर्थ उपदेश में कुट्टनी का वर्णन है जिससे यमराज भी डरता है।

पांचवे उपदेश में विट का वर्णन है। वेश्याओं द्वारा बार बार ठगे जाने पर भी, निकाल दिये जाने पर भी वह फिर उन्हीं के अड्डों पर जा पहुंचता है जैसे लाठी की मार खाकर भी कुत्ता फिर उसी घर में जाता है।[4] छठे उपदेश में गौड़देश से कश्मीर में आए कुछ ढोंगी छात्रों का वर्णन है जो आए तो थे विद्याध्ययन के लिए परन्तु यहां रंगरलियों में मस्त हो गये। एक छात्र जब आया था तो अस्थिपञ्जर था। भूत समझकर लोग उससे बचते थे परन्तु कुछ ही दिनों में मुफ्त का खा खाकर और उबटन मलकर ऐसा नया हो गया है मानो सांप ने पुरानी केंचुल उतार कर नया शरीर धारण कर लिया हो। एक अन्य गौड़ छात्र पवित्रता का ढोंग रचते हुए अपना आंचल कांख में दबाकर चलता है कि कहीं किसी से छू न जाए। पैरों में डाले हुए नये जूतों की आवाज से गर्वित हुआ, कमर में बंधी लाल पेटी में छुरी अटकाए, हाथ मटकाता और भवें चलाता हुआ वह सायंकाल को वेश्याओं की गलियों के चक्कर काटता रहता है। लिपि के अक्षरों की भी पहचान उसे नहीं, परन्तु भाष्य, न्याय और मीमांसा का अध्ययन शुरू कर रखा है। यदि उसने सत्र में भोजन अपने पात्रों में भर लिया तो निश्चय ही उसके घी, खीर और लड्डुओं से वेश्याओं को भोग लगाया जाएगा। मठ रूपी वन में उसके पांच तप हैं—वेश्यागमन, जुआ, गुप्तचरी, भूखहड़ताल और कुक्षिभेद।[5]

सातवें उपदेश में करोड़पति बूढ़े सेठ का और उसकी नई ब्याही युवती पत्नी का हृदयस्पर्शी वर्णन है। अरुचि उत्पन्न करने वाला, ज़ोर से खांसता हुआ, धुंधली

---

१. नृत्यत्यवृष्टिषु पुरा ह्यतिवृष्टिषु नृत्यति।
दुर्भिक्षोपप्लवाकांक्षी कदर्यो धान्यगौरवात्॥ देशोपदेश, २.३४

२. वही, २. २९-३०

३. धीमान् मूढो धनी निःस्वः शुचिश्चौरो लघु गुरुः।
भवितव्यतयैवायं वेश्यया क्रियते जनः॥ वही ३. १५

४. वही ५. ११

५. वही ६.३०-३१

नज़र वाला बुड्ढा कन्यावरण के समय ज्वर की जीती जागती मूर्ति प्रतीत होता है। इस बूढ़े दामाद का परिचय अपनी रोती बिटिया को देते हुए पिता कहता है कि इसकी आयु बड़ी नहीं है, असमय में ही बूढ़ा लग रहा है।[1] बरात में आए नवयुवकों पर दृष्टि टिकाए वह वधू वृद्धपति के पास जाने में ऐसे घबराती है जैसे वध्यशिला हो। पति के जीवनकाल में ही वह परपुरुषों के साथ केलिक्रीड़ा करती है तथा पति से पैर दबवाती रहती है।

अन्तिम उपदेश में गुणरहित गुरु, शराबी भट्ट, ग्राहकों को लूटने वाला बनिया, व्याकरण से नितान्त अपरिचित कवि, ठग, नीम हकीम आदि विविध पात्रों का मनोरञ्जक वर्णन है। इन सब पात्रों का सजीव अंकन करती हुई कवि की लेखनी भ्रष्टाचार का भांडाफोड़ करने में पूर्ण सक्षम सिद्ध हुई है।

समयमातृका

क्षेमेन्द्रकृत समयमातृका आठ समयों में विभक्त छः सौ पैंतीस श्लोकों का वेश्या-विषयक लघुकाव्य है। इस काव्य की रचना का उद्देश्य वेश्याओं, कुट्टनियों तथा विटों से धनिकों की सम्पत्ति की रक्षा करना है। काव्य में एक युवती वेश्या कलावती की कथा है जो अपनी संरक्षिका नानी के मर जाने पर बलशाली निर्धन कामुकों से घिरी रहती है तथा धन नहीं कमा पाती। एक नाई उसका परिचय उल्लू से मुंह वाली, कौए सी गरदन वाली तथा बिल्ली सी आंखों वाली बुढ़िया कुट्टनी कङ्काली से कराता है। द्वितीय तथा तृतीय समय में कङ्काली के शैशव तथा यौवन की घटनाओं का विवरण दिया गया है। रूप से आकृष्ट हुए पूर्णिक नाम के एक वणिक्पुत्र को मदिरामत्त कर वह उसके सब स्वर्णाभूषण छीन लेती है। नन्दिसोम नामक प्रासादपाल उसे गौरीमन्दिर के गर्भगृह में भोगार्थ ले जाता है तो वह वहां से देवताओं के सभी अलंकरण लेकर भाग निकलती है। एक धनी अश्वारोही को अपने जाल में फंसाकर, उसके एक महीने बाद ही मर जाने पर वह सती होने का ढोंग रचाकर सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर लेती है। बुढ़ापा आने पर वह तपस्विनी बनकर तपस्वी भैरवसोम को ठगती है। इस प्रकार बीसियों नाम बदलकर, कहीं योगाभ्यास के बहाने, कहीं पर मासपर्यन्त उपवास करने के बहाने से और कहीं परतीर्थयात्री बनकर वह झूठी, लोगों की श्रद्धा का पात्र बनती है। ऐसी कुट्टनी का शिष्यत्व स्वीकार कर कलावती वेश्यावृत्ति के सब दांव पेंच सीख लेती है। कङ्काली के अनुसार वेश्याओं की पद्धति यही है कि धनवान् कान्त पुरुष के आने पर उसे 'तुम ही मेरे हृदय हो, तुम ही मेरे प्राण हो, तुम ही मेरे सब कुछ हो' ऐसा कहकर धन प्राप्त कर ले और उसके धनरहित हो जाने पर उसे

१. वही ७.४-५,

छोड़कर दूसरे धनी व्यक्ति का सेवन करने लगे जैसे सर्पिणी अपने कञ्चुक को छोड़ देती है। इस प्रकार शिक्षित हुई कलावती एक धनाढ्य व्यापारी शङ्ख के पुत्र पङ्क को फंसा लेती है। उसे तथा उसके पिता को चकमा देकर कङ्काली सारी सम्पत्ति कलावती के नाम लिखवा लेती है। धन रहित पङ्क को फटा कम्बल पहनाकर वेश्यागृह से निकाल देती है। इससे पूर्व वह पङ्क के लोभी पिता को गहनों का लालच देकरतीर्थ यात्रा खर्च के बहाने उससे एक लाख मुद्रा ठग लेती है।

क्षेमेन्द्र का यह काव्य कुट्टनियों और वेश्याओं की चालों से परिचित कराकर धनिकों को उनके चंगुल से बचने को सावधान करता है। इस काव्य की शैली क्षेमेन्द्र के अन्य काव्यों की अपेक्षा कुछ कठिन और अधिक आलङ्कारिक है। बीच बीच में हास्य व्यंग्य का पुट कथा को रोचक बना देता है।

अपनी नानी को मारने वाले वैद्य का वर्णन करते हुए कङ्काली कहती है: 'गर्हणीय विद्या का जानकार, रोगी को मारने को तत्काल तैयार यह जो वैद्य है वह बूढ़ा होता हुआ भी रोगियों से लिये धन के अभिमान से ज़वान सा हो गया है।"[1]

अतिकृपण भाण्ड व्यापारी शंख का सूक्ष्म वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली है तेल की मैल के निशान उसपर दीख रहे हैं। चूहे से कुतरी हुई टोपी पहने वह अजीब सा लग रहा है। फटी ऊनी चद्दर के नीचे लटकता हुआ मोटा फिरन पहन रखा है जिसके हिलने से वह चञ्चल हो रहा है। फटी हुई, धूएं से काली हुई, मोटी और ढीली ढाली धोती पहन रखी है। तेल के अभाव में उसके दाढ़ी के बालों में मोटी मोटी हिलती हुई लटें पड़ी हुई हैं। दिन भर के घर के खर्चे को मांगने आई हुई अपनी ही बेटी को मारने को उग्र हो रहा है। रस्सी में बंधी भूखी पालतू बिल्ली की चिल्लाहट पर भी उसका पत्थर हृदय द्रवित नहीं होता।

कुट्टनीमत

कश्मीर के राजा जयापीड (७७९ ई०—८१३ ई०) के प्रधानमन्त्री कविवर दामोदरगुप्त की रचना कुट्टनीमत[2] वैशिक जीवन का विशद और प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करती है। वेश्याओं की उपयोगिता तथा अनुपयोगिता के विषय में प्राचीन भारतीय विचारकों ने बार बार विचार किया है। यौन सम्बन्धी नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना के साथ साथ मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को ध्यान में रखते हुए यहां एक ऐसा नारी वर्ग भी सामाजिक जीवन का अंग बना रहा जिसका कार्य धनिकों का मनोरञ्जन करना तथा उनकी कामपिपासा को शान्त

---

१. समयमातृका १, २८
२. स दामोदरगुप्ताख्यं कुट्टनीमतकारिणम्।
कविं कविं बलिरिव धुर्यं धीसचिवं व्यधात्॥ कल्हण राजतरंगिणी ४, ४९६.

करना था। कभी यह वर्ग सम्मानित हुआ तो कभी उपेक्षित और निन्दित परन्तु प्रारम्भ से लेकर आज तक इसकी सत्ता बनी हुई है।

जयापीड के समय की कश्मीर की राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थितियां पतनोन्मुख थीं। जयापीड प्रारम्भ में तो शूरवीर और धार्मिक था तथा विद्वानों का सम्मान करता था परन्तु बाद में लम्पट और अत्याचारी हो गया था। कायस्थों के इशारों पर चलने के कारण वह प्रजा को दुःख देने लगा। उसके पूर्ववर्ती दो तीन राजा भी इसी प्रकार अन्यायी और कामुक थे। राजाओं के चारित्रिक ह्रास का प्रभाव जनता पर भी पड़ा जिसका कच्चा चिट्ठा कुट्टनीमत में तथा क्षेमेन्द्र के काव्यों में देखने को मिलता है। दामोदरगुप्त ने तत्कालीन समाज के विलासितापूर्ण जीवन को नज़दीक से देखा था। व्यभिचार, दुराचार में लिप्त उस समाज को सचेत करने को उसने अपनी काव्यप्रतिभा का प्रयोग कर 'कान्तासम्मित उपदेश' देने का निश्चय किया। कुट्टनीमत काव्य के अन्त में कवि कहता है—'जो व्यक्ति इस काव्य को अच्छी तरह सुनता है तथा काव्यार्थ के अनुसार आचरण करता है वह कभी भी विट, वेश्या, धूर्त एवं कुट्टनियों से ठगा नहीं जाता।'

काव्य का आरम्भ विषय के अनुरूप कामदेव की विजयकामना से किया गया है। पाठकों को काव्य के दोषों की ओर ध्यान न देकर गुणलेश की ओर देखने की प्रार्थना करके कवि वाराणसी की गणिका मालती की कथा कहने लगता है। आशा के अनुरूप कामुक ग्राहकों को न पाकर मालती एक बुढ़िया कुट्टनी विकराला के पास जाती है जिसके दरवाजे पर कामुक जनों की भीड़ लगी रहती है। विकराला का वर्णन इतना सजीव है कि पढ़ते ही पूरी आकृति आंखों के सामने आ जाती है। मुख से बाहर को निकलते हुए विरल दाँत, झुकी हुई ठुड्ढी, मोटी चपटी नाक, भीतर को धंसी हुई आंखें, ढीले ढाले सूखे से स्तन, ढलती आयु के कारण कुछ कुछ पके बाल, सफेद धुली चादर और धोती में लिपटी देहयष्टि, नाना औषधियों और मणियों से युक्त गले का सूत्र, यह सारा वर्णन विकराला का स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देता है।

मालती की प्रार्थना पर विकराला उसे प्रेम का ढोंग रचकर भट्टपुत्र से धन बटोरने के उपाय बताती है। सर्वप्रथम उसे सुन्दरसेन के वियोग में प्राण त्याग देने वाली गणिका हारलता की कथा सुनाकर गणिकाओं के राग को प्रमाणित करना चाहिए ताकि वह उसके राग को कृत्रिम न समझे। भट्टपुत्र के कुछ अनुरक्त हो जाने पर माता से मिथ्या कलह करके यह दिखाना चाहिए कि वह उसके लिए सब कुछ छोड़ देने को तैयार है। यदि भट्टपुत्र इससे भी प्रभावित न हो तो चोरी हो जाने का या अग्निदाह में सब कुछ राख हो जाने का बहाना बनाकर उसके धन का अपहरण कर लेना चाहिए। बाद में माता के आदेश के बहाने उसे घर से

निकाल देना चाहिए। सुकराला इसी प्रसङ्ग में राजकुमार समरभट्ट की कथा भी सुनाती है जिसे रत्नावली नाटिका के एक अंक का अभिनय दिखाकर गणिका मञ्जरी के कृत्रिम प्रेमपाश में बांध लिया गया था। उपदेश ग्रहण करके सन्तुष्ट हुई मालती अपने घर चली जाती है।

इस छोटे से कथानक का सहारा लेकर दामोदरगुप्त ने वेश्याओं की जीवन-पद्धति का पूर्ण विवरण काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत कर दिया है। कुट्टनी, कुट्टनी के संरक्षण में रहने वाली वेश्यायें, कुट्टनी के घर पर स्थित कामुकों का जमघट, कामुकों का वैभव विलास, उन्हें प्रसन्न करने के विभिन्न प्रकार, कामुकों के विविध चरित्र, वेश्याओं का परस्पर ईर्ष्याभाव इन सबका बड़ी रोचक शैली में अंकन हुआ है। सम्पूर्ण काव्य १०५८ आर्यायों में निबद्ध है। बलदेव उपाध्याय के मतानुसार दामोदरगुप्त आर्या के आद्य आचार्य हैं। शैली प्रायः प्रसादमयी है। कहीं कहीं श्लेषानुबद्ध अलङ्कार कुछ कठिन हैं। भाषा में लोकोक्तियों के प्रयोग से चुटीलापन आ गया है। जैसे अधिक धन न देने वाले कामुक के विषय में वेश्या कहती है—भेड़ा ऊन का एक सूत तक तो देता नहीं, उलटा कपास के बीज को भी चबा रहा है। वेश्यागृह से न निकलने वाले निर्धन कामुक के बारे में कहती है—जैसे नंगे को तीर्थ मिल गया हो। अधिक धन की मांग करने वाली कुट्टनी के विषय में कहा गया है कि उसने मुंह बहुत फैला रखा है। सस्कृत भाषा के ये मुहावरे आज भी आधुनिक भारतीय भाषाओं में सुरक्षित हैं। इस प्रकार अपने साहित्यिक सौन्दर्य तथा विषय वैचित्र्य के कारण कुट्टनीमत एक विलक्षण लघुकाव्य है।

मुग्धोपदेश

जल्हणकृत लघुकाव्य मुग्धोपदेश युवकों को भ्रष्ट होने से बचाने के उद्देश्य से लिखा गया है। कवि ने भारत के अनेक भागों का भ्रमण किया था और अनेक राजसभाओं को देखा था। जब वह अपने देश में लौटा तो कुछ सज्जनों ने उससे अपने प्रदेश के नवयुवकों को बुराइयों से सावधान करने के लिए कुछ लिखने की प्रार्थना की। कवि ने भी तरुणों के प्रति करुणार्द्र होकर अपने अनुभवों के आधार पर यह कृति रची।[1]

वेश्यागमन से सावधान करते हुए कवि कहता है—जिसका पिता द्रोह है, जिसकी मातायें चौंसठ कलाएं हैं, जिसका प्राण झूठ है, जिसका व्रत धन कमाना

---

१. दृष्ट्वा देशमशेषमाजलनिधेरालोक्य कौतूहलाद्
आस्थानीरवनीभृतां च पुनरप्यागत्य देशं निजम्।
कारुण्यात्तरुणं जनं प्रति सतामभ्यर्थनाभिस्तथा
सोऽयं सम्प्रति जल्हणेन कविना मुग्धोपदेशः कृतः॥ मुग्धो. पद्य ६६

मात्र है जिसका प्रत्येक अङ्ग बिक्री की वस्तु है और जिसका साथी अनङ्ग है सैंकड़ों अनर्थों से युक्त उस गणिका रूपी व्याधि की कोई दवा नहीं है।[1]

एक अन्य पद्य में वेश्या की तुलना रात्रि में जलती हुई ऐसी दीपशिखा से की गई है जिसका स्नेह समाप्त हो गया है, जो मलिनता को उत्पन्न कर रही है तथा पात्र को भी दूषित बना रही है। रात में चमकती हुई उस दीपशिखा पर रूप से अन्धे हुए युवक पतङ्गों की तरह गिरकर मर रहे हैं।[2]

विभिन्न धोखों से सावधान करते हुए कवि कहता है—वेश्या उसी प्रकार प्रेम करने वाली नहीं होती जैसे मूर्ख व्यसनों से रहित नहीं होता, व्यापारी छल से रहित नहीं होता, राजकर्मचारी ईमानदार नहीं होता, सेवक स्वतन्त्र नहीं होता, अज्ञानी पुण्यात्मा नहीं होता, चोर लोभ रहित नहीं होता तथा भयभीत मनुष्य शान्त नहीं होता।

मुग्धोपदेश में कुल ६६ पद्य हैं जिनमें व्यंग्योक्तियों द्वारा इसी प्रकार का उपदेश दिया गया है।

---

१. द्रोहो यस्य पिता कलाः किल चतुःषष्टिस्तथा मातरः
प्राणाः सर्वमलीकमर्थहरणं नाम प्रधानं व्रतम्।
विक्रेयं निजमङ्गमङ्गमपि चानङ्गसहायः स्वयं
तस्यानर्थशतात्मकस्य गणिकाव्याधेः किमस्त्यौषधम्॥ वही पद्य २८

२. मालिन्यं प्रकटीकरोति निबिडं नैर्गुण्यमातन्वते
जीर्णस्नेहपरम्परा विदधते पात्रेऽप्यहो दूषणम्।
वेश्या दीपशिखेव भाति रजनौ रूपभ्रमान्धीकृतो
यत्रायं कुरुते पतङ्गपतनं हा हा भुजङ्गव्रजः॥ वही पद्य ३६

स्तुतिकाव्य

काव्य का हृदय से गहरा सम्बन्ध होता है और स्तुति में हृदय पक्ष की ही प्रधानता होती है। यही कारण है कि काव्यसाहित्य में स्तुतिकाव्यों का विशिष्ट स्थान होता है। वैदिक साहित्य में ऋषियों के भक्तिभावपूर्ण उद्‌गार इन्द्र वरुणादि देवों की स्तुतियों में प्रकट हुए हैं। रामायण, महाभारत और पुराणसाहित्य में अनेक भक्तिस्तोत्र मिलते हैं। इसी परम्परा में संस्कृत के भक्त कवियों ने भावुकतापूर्ण नाना स्तोत्रों की रचना की है। वे भक्त कवि कहीं भगवान् की अलौकिक विभूतियों को देखकर आश्चर्यचकित हो उठते हैं, कहीं अपनी क्षुद्रता और प्रभु की महत्ता और उदारता की अनुभूति करते हुए प्रार्थनामग्न हो जाते हैं, कहीं ये अपने इष्टदेव के सम्मुख अपनी दीनता और दयनीयता को प्रकट करते दिखाई देते हैं तो कहीं उसके साथ स्नेहसम्बन्ध जोड़ते हुए उसे उपालम्भ देने लगते हैं। चित्त को द्रवित कर देने वाली सच्ची भावुकता और कोमलता से परिपूरित, आध्यात्मिकता और भक्तिरस से आप्लावित ये संस्कृतस्तोत्र संस्कृतसाहित्य की अमूल्य निधि हैं। भारत के अन्य भागों की तरह कश्मीर में भी स्तुतिकाव्य प्रचुर मात्रा में लिखे गये हैं। शैवदर्शन की इस पीठस्थली में जहां प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं वहां भक्त कवियों की लेखनी से प्रसूत शिव तथा शक्ति की श्लाघनीय स्तुतियां भी मिलती हैं। उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली, अभिनवगुप्त का ईश्वर-स्तोत्र या भैरवस्तोत्र, कल्हण का अर्धनारीश्वरस्तोत्र, लोष्टक का दीनाक्रन्दन स्तोत्र, जगद्धरभट्ट की स्तुतिकुसुमाञ्जलि, आनन्दवर्धन का देवीशतक, तथा अवतार का ईश्वरशतक उल्लेखनीय हैं। बौद्धदेवी तारा की स्तुति में रचा गया सर्वज्ञमित्र का स्रग्धरास्तोत्र या आर्यतारास्रग्धरास्तोत्र साहित्यिक तथा धार्मिक दृष्टि से बहुमूल्य कृति है।

स्तुतिकुसुमांजलि

शैव स्तोत्रों में जगद्धरभट्ट की स्तुतिकुसुमाञ्जलि का विशिष्ट स्थान है। सुल्तानों

के युग में सम्भवतः सिकन्दर के राज्यकाल (१३८९-१४१३ ई०) में लिखी गई यह कृति विभिन्न अवस्थाओं में भक्त की विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करती हुई पाठकों के चित्त को भक्तिभाव से आर्द्र कर देती है। कवि ने ऐसे हृदयद्रावक ढंग से अपने इष्टदेव शंकर को आत्मनिवेदन किया है कि पाठक प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। ग्रन्थ में कुल अड़तीस स्तोत्र हैं तथा १४१५ श्लोक हैं।

प्रथम स्तुतिप्रस्तावना स्तोत्र के प्रथम पांच पद्यों में कवि ने सरस्वती की वन्दना करते हुए अपनी वाणी को सदाशिव के मन को रिझाने को प्रेरित किया है। श्लेष के माध्यम से अपनी कृति में भावपक्ष तथा कलापक्ष के सामंजस्य को प्रकट करते हुए कवि कहता है—

रम्यरीतिरनघा गुणोज्ज्वला चारुवृत्तरुचिरा रसान्विता।
रञ्जयत्वियमलंकृता मनः स्वामिनः प्रणयिनी सरस्वती॥ १. ३.

जैसे अति रमणीय व्यवहार करने वाली, निर्दोष, दया, दाक्षिण्य आदि गुणों से उज्ज्वल, सच्चरित्रवती, सुन्दर आभूषणों से सुसज्जित, अनुरागवती प्रिया अपने प्रियतम के मन को अपने पर अनुरक्त कर लेती है वैसे ही रमणीय वैदर्भी रीति से सम्पन्न, पददोष, अर्थदोष आदि से रहित, माधुर्य, ओज, प्रसाद आदि गुणों से उज्ज्वल, वसन्ततिलका आदि मनोहर छन्दों से युक्त, शान्त आदि रसों से आपूरित, उपमादि अलङ्कारों से अलंकृत और अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए प्रभु से साग्रह प्रार्थना करने वाली यह मेरी वाणी भगवान् महेश्वर के मन को अपने ऊपर अनुरक्त करने में समर्थ हो। चेतन अचेतन सभी में देदीप्यमान होते हुए शिव के स्वरूप का वर्णन भी किया गया है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि विषयों से विवर्जित, विशुद्ध निर्विशेष, माया के द्वारा नानारूपात्मक सा प्रतीत होता है। दूसरे नमस्कारस्तोत्र में कवि ने अनेक विशेषणों के माध्यम से शिव के गुणों का कीर्तन करते हुए उन्हें नमस्कार किया है। वे शिव भवबन्धन का भेदन करने वाले, अविद्या रूप अज्ञान से घिरे दीन प्राणियों पर अनुकम्पा करने वाले तथा यमराज से भयभीत हुए प्राणियों को अभयदान देने वाले हैं। वे ही जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार कार्य के लिए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र का रूप धारण करते हैं। तृतीय आशीर्वादस्तोत्र में आनन्द के परम धाम, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न सकल शुभाशुभ कर्मों की फलप्राप्ति के स्थान शंकरजी से आशीर्वाद की इच्छा प्रकट की गई है। शिवभक्ति को मुक्ति से भी बढ़कर मानता हुआ कवि भक्ति पाने की कामना करता है। चतुर्थ मंगलाष्टकस्तोत्र में आठ पद्यों द्वारा शिव तथा विष्णु के समन्वित रूप हरिहर की स्तुति की गई है।

पंचम कविकाव्यप्रशंसास्तोत्र में कवि ने उन कवियों की प्रशंसा की है जिनकी वाणी भगवान् शंकर की स्तुति करती है। राजाओं की प्रशंसा में रचे

गये काव्य उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितने प्रभुस्तुतिकाव्य।

छठे हराष्टकस्तोत्र के आठ पद्यों में हर के अलौकिक स्वरूप का वर्णन करते हुए उन्हें कृपासागर, त्रिपुरदाहक और कर्णधार बताया गया है। सातवें सेवाभिनन्दन-स्तोत्र में धन की हीनता तथा भक्ति की महिमा पर प्रकाश डाला गया है। शिव की भक्ति ही भक्त कवि की वाणी को सरस बनाती है। भक्ति को मुक्ति से भी उत्कृष्ट माना गया है।[1]

आठवें शरणाश्रयणस्तोत्र में शिव की शरणागतवत्सलता का वर्णन है। राजा श्वेत, बालक उपमन्यु, अर्जुन, नन्दीश्वर सभी ने शिव की शरण में आकर कष्टों से मुक्ति पाई है।

नवम कृपणाक्रन्दनस्तोत्र में कवि ने अपनी हीनता प्रकट की है तथा दशम करुणाक्रन्दन स्तोत्र में भी इष्टदेव के समक्ष अपना क्रन्दन प्रस्तुत किया है। भावुकता पूर्ण पद्यों में कवि प्रार्थना करता है—

'हे भव, संसाररूपी अति घोर मरुस्थल में भटक भटक कर अत्यन्त खिन्न और विषयरूपी प्रचण्ड ताप से प्यासे मेरे हृदय को आपके चरणों का स्मरणरूपी अमृत ही आनन्दित कर पाता है। हे समस्त दुःखहारी! विषय रूपी नागपाशों से बंधे हुए, संसार रूपी महासमुद्र में डूबे हुए और मोह रूपी महाशिला से मारे हुए मुझ अनाथ शरणागत का उद्धार करो।'[2]

ग्यारहवें दीनाक्रन्दनस्तोत्र में कवि की व्याकुलता चरमसीमा तक जा पहुंची है। कवि की प्रार्थना है कि पापाग्नि से दग्ध हुए, प्रतिभा से हीन हुए तथा भय से व्याकुल हुए व्यक्ति के मुख से वाणी भी निकल नहीं पाती, अतः जैसे तैसे विलाप को ही सदाशिव सुनें।[3] अपनी आतुरता को प्रकट करने का कारण बताते हुए कवि कहता है—'अपनी विपत्ति जब तक किसी सहृदय को बताई न जाए तब तक वह शल्य के समान दुःख देती है। यदि किसी खल के आगे दुःख रो दिया जाये तो कहने वाले की लघुता ही प्रकट होती है। इसलिए हे नाथ! मैंने आप सर्वज्ञ करुणा के सागर सर्वसमर्थ से यह दुःख निवेदन किया है। आगे आप जानें।'[4]

---

१. क्व चापवर्गोऽयममार्ग एव यः
   स्मरारिसेवासुखसर्वसम्पदाम्॥ स्तुति कु० ७.२८

२. भव मरुभ्रमखेदकदर्थितं सुविषमैस्तृषितं विषयोष्मभिः।
   मदयते हृदयं मम निर्भरं भव भवच्चरणस्मरणामृतम्॥
   विषयपन्नगपाशवशीकृतं भवमहार्णवमग्नमनीश्वरम्।
   बहलमोहमहोपलपीडितं हर समुद्धर मां शरणागतम्॥ वही १०, ५८-५९

३. स्तुतिकुसुमाञ्जलि ११.८-९

४. वही, ११.१३९

बारहवें तपःशमनस्तोत्र में कवि ने काश्मीरशैवदर्शन के अनुरूप सदाशिव को ही स्तुत्य, स्तुति तथा स्तोता कहा है जो अविद्या के कारण भिन्न भिन्न दिखाई देता है।[1] वह सदाशिव स्वतन्त्र है और सब कुछ करने में समर्थ है।

तेरहवें प्रभुप्रसादन स्तोत्र में कवि भौतिक उपलब्धियों से हटकर प्रभु को प्रसन्न करने की चाह करता है क्योंकि भगवत्कृपा ही मृत्युभय से छुटकारा दिला सकती है। शिव को प्रसन्न करने वाले विजयशील शिवभक्त के रूप की समता चन्द्र और कामदेव भी नहीं कर सकते। उसकी तीव्र बुद्धि की समता कवि और बृहस्पति भी नहीं कर पाते और सूर्य और अग्नि भी उसके संग्राम और तेज का मुकाबला नहीं कर सकते।[2]

हित नामक चतुर्दश स्तोत्र में कवि ने यह धारणा प्रकट की है कि सदाशिव ही भक्त का अज्ञान दूर करते हैं।[3]

पन्द्रहवें करुणाराधनस्तोत्र में शिव की करुणामयता का वर्णन है तथा सोलहवें स्तोत्र में इस बात का उपदेश दिया गया है कि चंचल सम्पत्तियां मनुष्य को कुमार्ग पर ले जाती हैं[4] जबकि जितेन्द्रियता से मानव जन्म, मरण, जरा आदि से छुटकारा पा सकता है।[5]

सत्रहवें भक्तिस्तोत्र में भक्ति की उपादेयता का वर्णन है। अठारहवें सिद्धि-स्तोत्र में कहा गया है कि इस संसार में हीरक, पद्मराग, मरकत आदि मणियों की प्राप्ति से कुछ लाभ नहीं। औषधियों से कुछ लाभ नहीं। उत्तम रसायनों से कुछ लाभ नहीं। अमृत भी पापों से उत्पन्न ताप को शान्त नहीं कर सकता। इसलिए शंकर की शरण में ही जाना चाहिए।[6] स्तोत्र के अन्त में कवि इस रहस्य को प्रकट करता है कि शिव के समक्ष करुण विलाप करके उसने सब कुछ पा लिया है तथा सभी सिद्धियां मुट्ठी में कर ली हैं।[7]

उन्नीसवें भगवद्वर्णनस्तोत्र में शिव के निराकार तथा साकार रूप का वर्णन है तथा बीसवें हसितवर्णनस्तोत्र में शंकर के क्रीडाहास्य का वर्णन है जो उन्होंने समुद्रमन्थन, ताण्डवनृत्य, गजाननंनृत्य, कार्तिकेयनृत्य आदि के समय

---

१. स्तुत्यस्त्वमेव स्तुतिकृत्त्वमेव स्तुतिस्त्वमेव त्वदृतेऽस्ति नान्यत्।
इयं त्वविद्या यदहं स्तुवे त्वां स्तुत्येति मिथ्या पृथगर्थबुद्धिः॥ वही १२.२

२. वही, १३.३२

३. स्तुतिकुसुमाञ्जलि १४

४. स्तुति कु० १६.२०

५. वही १६.२२

६. वही १८.२२

७. किमन्यदखिलं जितं करतले कृताः सिद्धयः। वही १८.२५

किया था। इसी प्रसंग में भगीरथ, उपमन्यु, श्वेतकेतु तथा रावण की भक्ति का उल्लेख भी हुआ है।[1]

इक्कीसवें अर्धनारीश्वर स्तोत्र में शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप का वर्णन है जिसमें कठोरता तथा कोमलता आदि परस्पर विरोधी वस्तुएं सामरस्य प्राप्त करती हैं।

बाइसवें से तीसवें स्तोत्र तक कवि ने चित्रकाव्य के माध्यम से स्तुति करते हुए अपनी कला का परिचय दिया है। बाइसवें स्तोत्र के सभी पद्य क वर्ण से प्रारम्भ होते हैं तथा अनुप्रास से अलंकृत हैं। तेइसवें स्तोत्र में शृंखलाबन्ध अलंकार है तथा आगे के सात स्तोत्रों में विभिन्न प्रकार के यमकों का प्रयोग किया गया है। शब्दालंकारों के होते हुए भी भावाभिव्यक्ति की सरलता को ठेस नहीं पहुंची है। उदाहरणतः निम्न पद्य में कवि अपनी करुणाविज्ञप्ति करता है—

मरुतायतेव मलयाचलतः क्षपिता धृतिः कमलयाचलतः।
तदिमां प्रसादनपरां करुणां शृणु मे गिरं कुरु परां करुणाम्॥[2]

इकतीसवें नतोपदेशस्तोत्र में कवि विनीत भक्तों को उपदेश देता है कि वे विषपायी, त्रिपुरारि, अशरणशरण, अतिमृदुहृदय गिरिजापति की आराधना में मग्न हों। बत्तीसवें शरणागतोद्धरण स्तोत्र में प्रभु के प्रति निवेदन किया गया है कि वे अनाथ कातर शरणागत कवि को अभयदान दें। तेतीसवें कर्णपूरस्तोत्र में कवि की यह गर्वोक्ति है कि सरस्वती ने उसके मुख को अपना विहारस्थल बना लिया है। इसी कारण उसकी कविता में प्रतिदिन उज्ज्वल वर्णों से युक्त सुमनोहर पदन्यास दिखाई देता है। शिव के सगुण तथा निर्गुण स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् अन्त में कवि की प्रार्थना है कि उसकी रसपूर्ण गुणों से युक्त सूक्तियां भगवान् शंकर के कर्णों का आभूषण बन जाएं।

चौंतीसवें अग्रयवर्णस्तोत्र में शिव की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है कि वही शिव ब्रह्मा का रूप होकर जगत् की सृष्टि करता है, विष्णुरूप होकर उसका पालन करता है तथा रुद्र रूप होकर उसका संहार करता है[3] पैंतीसवें ईश्वरप्रशंसा-स्तोत्र में ईश्वर, जगत् और संसार के स्वरूप का वर्णन करते हुए शिव की आठ मूर्तियों पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, सूर्य, चन्द्र तथा यजमान का उल्लेख किया गया है।[4] छत्तीसवें तथा सैंतीसवें स्तोत्रों में स्तुति की प्रशंसा तथा फल का वर्णन है। यह शिवस्तुति ही पवित्र क्षेत्र, तीर्थ, पवित्र घर तथा पवित्र तपोवन का

---

१. वही २०.३;४;५
२. वही २५, ८
३. स्तुतिकुसुमाञ्जलि ३४.१२
४. वही ३५.८-९

रूप ग्रहण करती है। स्तुतिश्रवण से मुक्ति मिलती है।[1]

अन्तिम अड़तीसवें पुण्यपरिणामस्तोत्र में शिव का वर्णन विराट् पुरुष के रूप में किया गया है। कुछ पद्यों में कवि यह कामना प्रकट करता है कि उसका यह भक्तिरसपूर्ण काव्य परवर्ती कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने, नास्तिकों का पाप नष्ट करके उनकी ज्ञानवृद्धि में सहायक हो तथा संसार को सुखी कर सके।

भुवि भुवि कुविकल्पः स्वल्पतामेतु जेतुं
धुरि धुरि दुरितौघं वर्द्धतां शुद्धबोधः।
पथि पथि मथितोग्रव्यापदापन्नतापा
नरि नरि परिपूर्णा जृम्भतां शम्भुभक्तिः ॥[2]

ग्रन्थ के अन्त में कवि ने अपने वंश का परिचय दिया है। कवि के पितामह गौरधर भट्ट भी सकलशास्त्रपारंगत विद्वान् थे जिन्होंने यजुर्वेद पर वेदविलास नामक भाष्य रचा था। कवि के पिता रत्नधर एक कुशल कवि थे जिनकी सूक्तियां सहृदयों को मुग्ध कर देती थीं। अपने विषय में कवि की गर्वोक्ति है कि उसने शास्त्रार्थों में वादियों को अनेकों बार चुप कराया है। बाल्यावस्था से ही शिव की भक्ति में मग्न होकर स्तुतियाँ की हैं। अपनी स्तुतियों का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए उसने कहा है—

हे विद्वज्जनो! अब आप लोग मणिमय कर्णभूषणों से प्रेम न करें, सुमनोहर मुक्ताहारों की चाह न करें, सुगन्धित ताम्बूल को चबाना भी छोड़ दें क्योंकि मेरी बनाई हुई श्रीशिव की स्तोत्रावली की यह सूक्तियां आपके कर्णकण्ठ एवं मुख-कमल को सुशोभित करने में समर्थ हैं।[3]

जगद्धर की यह कृति प्रमुख रूप से भक्तिरस से आप्लावित है तथापि कश्मीर शैवदर्शन का ज्ञान भी इसमें पर्याप्त है। सदाशिव की क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति करणनिरपेक्ष हैं।[4] यह सम्पूर्ण जगत् उसकी क्रीड़ा है। जीवात्मा परमशिव से अभिन्न है। माया के कारण जीव अपनी व्यापकता को भूल जाता है।[5] परन्तु जब वह मानसिक व्यथा से व्याकुल होकर मन वचन कर्म द्वारा शिव की उपासना करता है तो अपने में शिव भाव की साक्षात् अनुभूति करने लगता है। शिवस्तुति में मग्न जीव अखण्ड तेज से पूर्ण, बाह्य विषयों की आसक्ति से मुक्त, सत्त्वगुण से

१. वही ३७.८-२०
२. वही ३८.२९
३. वही ३९, १३
४. वही ३, ५
५. वही ६, ४७

युक्त तथा परमार्थतत्त्व को जानने वाला हो जाता है।[1] उसके तीनों प्रकार के मल नष्ट हो जाते हैं।[2]

स्तुतिकुसुमाञ्जलि का कलापक्ष भावपक्ष से कम बलवान् नहीं है। उस युग में कविता प्रायः पण्डितजनों को लक्ष्य करके लिखी जाती थी। जगद्धर ने सामान्य जनों के साथ साथ पण्डितजनों की रुचि का भी ध्यान रखा है। उन्होंने यमक तथा श्लेष की छटा से कई स्तोत्रों को अलंकृत किया है। निम्न पद्य में नीलकण्ठ शब्द पर आधारित श्लेष के माध्यम से कवि ने शिव की तुलना मयूर से करते हुए उनकी स्तुति की है तथा उन्हें लौकिक मयूर से विलक्षण बताया है।

चारुचन्द्रकलयोपशोभितं भोगिभिः सह गृहीतसौहृदम्।
अभ्युपेतघनकालशात्रवं नीलकण्ठमतिकौतुकं स्तुमः॥[3]

मनोहर चन्द्रमा की कला से सुशोभित, वासुकि आदि सर्पों के साथ मित्रता रखने वाले और कठोर काल के साथ शत्रुभाव रखने वाले अति अद्भुत नीलकण्ठ (शिव) की हम स्तुति करते हैं। लौकिक नीलकण्ठ (मयूर) तो चारुचन्द्रक (मनोहर पंख) के नष्ट हो जाने पर शोभित नहीं होता, सर्पों से मित्रता नहीं करता, घनकाल (वर्षा) के साथ शत्रुता नहीं रखता अतः इस लौकिक नीलकण्ठ से यह सदाशिव नीलकण्ठ विलक्षण है।

---

१. वही ३४, ७
२. वही २४, २७
३. वही १, १४

ईश्वरशतक

अवतार कवि द्वारा विरचित ईश्वरशतक अलंकृत शैली का स्तुतिकाव्य है। अवतार स्तुतिकुसुमाञ्जलि के टीकाकार राजानक रत्नकण्ठ के पितामह थे। रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि पर टीका १६८१ ई० में लिखी थी अतः उनके पितामह का समय सत्रहवीं शती का प्रारम्भ माना जा सकता है। सम्भवतः आनन्दवर्धन के देवीशतक के अनुकरण पर अवतार कवि ने इस चित्रकाव्य की रचना की है क्योंकि देवीशतक की भांति ही यह काव्य भी शब्दालङ्कारों से लदा हुआ है। श्लेष, यमक आदि के प्रयोग के साथ पद्मबन्ध, डमरुबन्ध, दलबन्ध, चक्रबन्ध, तूणबन्ध आदि अनेक बन्धों का प्रयोग भी किया गया है। कवि का भक्ति-भाव प्रायः अलङ्कारों के बोझ तले दब सा गया है। उदाहरणार्थ निम्न पद्य को देखें—

> भवोत्सुकानामसमाधिभिन्नः
> कश्चिद् यदन्यो न समाधिभिन्नः।
> ये त्वांप्रशंसन्ति सदा सभार्या
> स्त एव जीवन्ति सदासभार्या ॥ पद्य ६

हे ईश्वर ! तुम; हम उत्सुकों की अद्वितीय पीड़ाओं को दूर करो क्योंकि कोई अन्य हमारी तरह समाधिभिन्न या चंचलचित्त नहीं है। जो श्रेष्ठ लोग सभा में तुम्हारी प्रशंसा करते हैं वही दासों और पत्नियों सहित जीते हैं।

पद्य के प्रथम दो पादों में करुण भावना का पुट है परन्तु अन्तिम दो पादों का उस भाव से विशेष सम्बन्ध नहीं दीखता। कवि की दृष्टि समाधिभिद् तथा सदास-भार्याः के यमक पर केन्द्रित है। कुछ पद्यों के तीन तीन अर्थ निकलते हैं, जैसे निम्न पद्य में गिरीश के अर्थ महादेव, मेरू पर्वत तथा बृहस्पति हैं—

> सुखदो नवमत्वेन सुवर्णाकृतिविग्रहः।
> नागरागप्रथात्यक्तो गिरीशो जयतादसौ ॥ पद्य ३९

४६वें पद में संस्कृत तथा कश्मीरी भाषा का प्रयोग किया गया है। २५वें पद्य में केवल दो व्यञ्जनों म् र् का प्रयोग है। काव्य को बोधगम्य बनाने को कवि ने स्वयं

इस काव्य पर टीका भी लिखी है।

दीनाक्रन्दनस्तोत्र

मङ्खक ने श्रीकण्ठचरित के पच्चीसवें सर्ग में जिन साहित्यकारों की चर्चा की है उनमें लोष्ठक कवि भी हैं। मङ्खक के अनुसार छः भाषाओं के ज्ञाता इस कवि की विद्वतापूर्ण रचनाओं के सामने प्रतिवादी कवियों की उक्तियां उसी प्रकार कुण्ठित हो जाती थीं जैसे वाण दृढ़ कवचों से टकरा कर टूट जाते हैं। इनकी दो रचनायें ही अभी तक प्राप्त हुई हैं। कालिदास के रघुवंश पर टीका जो अभी तक अप्रकाशित है तथा दीनाक्रन्दनस्तोत्र जो काव्यमाला षष्ठ गुच्छक में प्रकाशित है।

शिवस्तुति में निर्मित इस स्तोत्र में चौवन पद्य हैं जिनमें कवि का आत्मनिवेदन प्रमुख है। अपनी दीनता तथा दुःखमयी स्थिति को प्रकट करता हुआ कवि कभी अपने इष्टदेव के गुणों का वर्णन करता हुआ मुग्ध हो जाता है तो कभी उन्हें उलाहना देने लगता है, कभी अपने अशुभ कर्मों का स्मरण उसे लज्जित और सन्त्रस्त कर देता है और कभी वृद्धावस्था की शक्तिहीनता उसे व्याकुल बना देती है। सांसारिक विषयों के उपभोग से मनुष्य की तृष्णा बढ़ती ही जाती है और अन्त में उसे दुःख प्राप्त होता है, इस भाव को कवि ने प्रथम पद्य में इस प्रकार प्रकट किया है:—

'छोटी सी तलैया के जलों के समान शुरु में सुखकर प्रतीत होने वाले परन्तु अन्त में दुःख देने वाले इन विषयों के आस्वादन से ज़रा सी तृष्णा भी शान्त नहीं हुई। इस संसार मरूस्थल में चिरकाल तक भटक-भटककर थक गया हूं। हे शिव! मुझे अपने चरणों की छाया दो।' यहां उपमा, रूपक तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कारों के सुगम्य प्रयोग से भक्त के दीनभाव की अभिव्यक्ति हुई है।[1]

अपने इष्टदेव के सामने अपनी भूलों को स्वीकारता हुआ कवि कहता है:—

'हे भगवन, लौकिक विषयों में गिरकर मैंने रागद्वेष में ही अपना मन जमाए रखा। सब को नष्ट करने वाले यमराज के भय से बचने का कोई उपाय न सोचा, न किया।'

'पाप करके मैंने अपनी काया का पोषण किया, दीनजनों का नहीं। विवश होकर चिरकाल तक स्त्रियों के चरणों में गिरता रहा, गुरुजनों के चरणों में नहीं, लोभ धन के विषय में किया, शुभ कार्यों में नहीं, अब पछता रहा हूं पर करूं क्या? तुम ही एक शरण हो।'[2]

शिव को उलाहना देते हुए कवि कहता है, 'मेंने पहले कभी आप की सेवा नहीं

---

१. दीनाक्रन्दनस्तोत्र पद्य १

२. वही, पद्य ४८

की तो क्या इसी कारण शरण में आए हुए मुझ पर दया नहीं करोगे ? क्या पूर्व अपरिचित समझ कर वृक्ष अपने नीचे छाया में आए मनुष्य को थकान रहित नहीं कर देता ?'[१]

'मैं पापी हूं परन्तु आप तो पापों के नाश करने में निपुण हो, मैं भयभीत हूं परन्तु आप तो भयभीतों को अभयदान देने का शौक रखते हो, मैं हीन हूं परन्तु आप तो दीनों का उद्धार करने को तैयार रहते हो। मुझे और कुछ मालूम नहीं, मुझ शोचनीय पर दया करो।'[२]

'न मुझे मृत्यु से डर है न सुवर्ण प्राप्त करने की लालसा है। न ही बालपन के के कारण दूध पीने का इच्छुक हूं। मैं तो केवल तुम्हारे दर्शनों की चाह कर रहा हूं। क्या इस में भी तुम्हें सरलता प्रतीत नहीं होती ?'[३] यहां तीन पौराणिक आख्यानों की ओर संकेत करते हुए कवि का उपालम्भ है कि वह श्वेतराज की तरह यमराज से छुटकारे की मांग नहीं कर रहा, मरुत् राजा की तरह सुवर्ण की चाह नहीं करता, मुनिकुमार उपमन्यु की तरह दूध के लिए भी नहीं तड़प रहा। उसे तो केवल दर्शनों की अभिलाषा है, फिर भला दर्शन देने में भी शिव को क्या कठिनाई हो रही है ?

अलंकारों में अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति, तथा परिकर का प्रयोग किया गया है। वसन्ततिलका छन्द कवि को विशेष प्रिय है जिस का प्रयोग ४७ पद्यों में हुआ है। शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता तथा स्रग्धरा का भी प्रयोग किया गया है।

शिवस्तोत्रावली[४]

आचार्य सोमानन्द के शिष्य आचार्य उत्पलदेव द्वारा रचित शिवस्तोत्रावली कश्मीर के शैवस्तोत्रसाहित्य की प्रथम पुस्तक है। नवमशताब्दी के उत्तरार्ध में हुए उत्पलदेव जहां शैवशास्त्र के सिद्धान्तों के पूर्ण ज्ञाता थे वहां भक्तिरस में मग्न भावुक कवि भी थे। उनकी अद्यावधि उपलब्ध सात कृतियों—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ईश्वरप्रत्याभिज्ञावृत्ति, सम्बन्धसिद्धि, अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, शिवदृष्टि-वृत्ति, तथा शिवस्तोत्रावली में से प्रथम छः तो शैवदर्शन के ग्रन्थ हैं तथा अन्तिम भगवान् शंकर की स्तुति में लिखे गये भावपूर्ण पद्यों का संग्रह है।

शिवस्तोत्रावली के टीकाकार आचार्य क्षेमराज के अनुसार श्री उत्पलदेव ने इन

---

१. वही, पद्य ३५
२. वही, पद्य ४९
३. वही, पद्य २३
४. चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी से प्रकाशित १९६४

स्तुत्यात्मक पद्यों की रचना मुक्तकों के रूप में की थी। बाद में उन के शिष्यों श्री राम तथा श्री आदित्यराज ने उन्हें विषयानुसार स्तोत्रों में संकलित कर दिया तथा श्री विश्वावर्त्त ने बीस स्तोत्रों में व्यवस्थित कर उन्हें पृथक् पृथक् नाम भी दे दिये। ये बीस स्तोत्र हैं—भक्ति विलास (२६ पद्य), सर्वात्मपरिभावना (२६ पद्य), प्रणय-प्रसाद (२१ पद्य), सुरसोद्बल (२५ पद्य), स्वबलनिदेशन (२६ पद्य), अध्वविस्फुरण (११ पद्य), विधुरविजय (६ पद्य), अलौकिकोद्बलन (१३ पद्य) स्वातन्त्र्यविजय (२० पद्य), रहस्यनिर्देश (२६ पद्य), संग्रहस्तोत्र (२० पद्य), जयस्तोत्र (२४ पद्य), भक्तिस्तोत्र (१६ पद्य), पाशानुद्भेद (३० पद्य), दिव्यक्रीडाबहुमान (४८ पद्य), आविष्कार (२१ पद्य) उद्योतन (१६ पद्य) तथा चर्वणा (२१ पद्य)।

भक्ति को ज्ञान से बढ़ कर मानते हुए उत्पलदेव कहते हैं:—'जिन भक्तजनों ने भक्ति के तेज से रागद्वेषरूपी अन्धकार को भी जीत लिया है, उन महापुरुषों के सामने ज्ञानीजनों की क्या गिनती ?'[1] भक्त निरन्तर प्रभुपूजा के उत्सव में ही मग्न रहना चाहता है क्यों कि उस के लिए ईश्वर का सहवास ही सुख है और उस से वियुक्त होना ही दुःख है।[2] वह इन्द्रियरूपी मुखों से सभी भावरूपी प्यालों में निरन्तर ईश्वरार्चन रूपी अमृत को पीता हुआ मस्त रहना चाहता है।[3] भगवदर्चना ही उसकी प्रिया है जिसे वह अपना हृदय सौंपना चाहता है। भक्ति मणिलता है परन्तु मलिन हृदय में अपनी अलौकिक झलक नहीं दिखा पाती[4]। वे भक्त ही धन्य हैं जो भक्ति सुधा के पान से मस्त हुए हर स्थिति में मुस्कराते हैं। जीतने पर भी और हारने पर भी![5] भक्त व्याकुल होकर भगवान् से प्रार्थना करता है—संसार का मार्ग बहुत लम्बा है, शरीर अनेक प्रकार के भयंकर रोगों से दग्ध है। भोगों को भोगने में जो थोड़ा सा सुख मिला वह टिका नहीं। इस प्रकार मेरा जीवन व्यर्थ ही रहा है। हां! चन्द्रकलाधारी शंकर के चरणों में रखा यह मस्तक सुन्दर हो गया है। मैं भक्त हूं इसलिए मुझे सदा रहने वाली आनन्द संपदा प्रदान करो।'[6]

गूढ़ दार्शनिक रहस्यों का वर्णन कवि ने अति सरल शब्दावली में किया है।

---

१. रागद्वेषान्धकारोऽपि येषां भक्तित्विषा जितः।
तेषां महीयसामग्रे कतमे ज्ञानशालिनः ।। शिवस्तोत्रावली १६. १६.

२. वही, १३.१.; १३.६.

३. तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः ।।

४. वही, १३. १८.

५. वही, १६. ३.

६. वही, १५, १६.

परमशिवरूपा ईश्वरता तथा सदाशिवरूपा ईश्वरता का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—'हे विश्वेश, तुम्हारी परमेश्वरता अनूठी तथा जय जयकार करने के योग्य हैं क्योंकि यह किसी के अधीन न रहने वाली है। उसी प्रकार तुम्हारी दूसरी ईश्वरता की भी जय हो जिस के प्रभाव से यह जगत् जैसा दिखाई देता है, वैसा नहीं होता।[1] त्रिक दर्शन में स्वीकृत छत्तीस तत्वों का उल्लेख करते हुए कवि कहता है—'हे विभो, मैं आप के चिन्मयधाम, में बैठ कर शरीर, वाणी, चित्त की चेष्टाओं आदि छत्तीस तत्वों के कर्मों से सदा आपको पूजता रहूं।[2]

स्तोत्रों की शैली प्रायः सरल और समासरहित है। कहीं कहीं कठिन शैली का प्रयोग भी हुआ है। निम्न पद्य में भावों की गम्भीरता के साथ साथ कितनी सरलता है तथा अनुप्रास के माध्यम से उत्पन्न कैसा नाद सौन्दर्य है?

भावा भावतया सन्तु भवद्भावेन मे भव।
तथा न किञ्चिदप्यस्तु न किञ्चिद् भवतोऽन्यथा ॥ १२.२८

विरोधाभास का उदाहरण है—

सहस्रसूर्यकिरणाधिकशुद्धप्रकाशवान्
अपि त्वं सर्वभुवनव्यापकोऽपि न दृश्यसे ३.१९.

'हे प्रभु, तुम हजारों सूर्यों की किरणों से अधिक उज्ज्वल प्रकाश वाले होते हुए भी तथा सभी लोकों में व्यापक होने पर भी दिखाई नहीं देते।'

संसार की उपमा समुद्र से देते हुए उसे भक्तों का क्रीडासरोवर कहा गया है—हे जगत्स्वामिन्! जगत् में आप के वे दास धन्य हैं जिन के लिए यह संसार-समुद्र एक महाक्रीड़ासरोवर है।[3]

अर्थान्तरन्यास का यह उदाहरण कितना मनोहर है! मेरी यह अतितुच्छ करुण पुकारें तुम्हारे कानों के पास पहुंचकर बहुमूल्य हो जाती हैं। जैसे छोटे छोटे जलबिन्दु बांस के अन्तराल में पड़कर वंशलोचन मणियां बन जाते हैं।[4]

देवीशतक

काव्यमाला गुच्छक ९ में प्रकाशित आनन्दवर्धनकृत देवीशतक भगवती दुर्गा की स्तुति में लिखा गया स्तुतिकाव्य है। इसमें कुल १०४ पद्य हैं। अन्तिम पद्य में कहा गया है कि आनन्दकथा तथा त्रिदशानन्द में अपनी वाणी को लालित करने वाले कवि ने यह सुदुष्कर स्तोत्र देवी की भक्ति से रचा है। १०१वें पद्य में यह कहा गया है

१. शिवस्तोत्रावली १६. ३०.
२. वही, १७. ११.
३. वही, ३. १५.
४. शिवस्तोत्रावली ११. ९.

कि देवी ने स्वप्न में प्रकट होकर कवि को यह शतक रचने की आज्ञा दी थी। काव्य में भक्तिरस की धारा अलंकारों की भारी भरकम शिलाओं से रुक रुककर बहती दिखाई देती है। आनन्दवर्धन ध्वनि के आचार्य माने जाते है और उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि शब्दालंकार रस में विघ्न उत्पन्न करते हैं। फिर भी इस स्तुतिकाव्य में उन्होंने शब्दालंकारों का अत्यधिक प्रयोग किया है। इसी कारण व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने उनके विषय में यह कहा है कि जो अपनी ही कृतियों में संयम नहीं रख सका वह दूसरों को उपदेश कैसे दे सकता है? प्रतीत ऐसा होता है कि आनन्दवर्धन ने देवीशतक की रचना अपने कविजीवन के प्रारंभिक दिनों में की होगी जब वह अपनी चित्रकाव्यचातुरी की धाक जमाना चाहते होंगे। यमक, श्लेष तथा चित्रालंकारों में कवि की निपुणता स्पष्ट है। केवल दो दो व्यञ्जनों की सहायता से श्लोक रच दिये हैं। जैसे निम्न पद्य में सकार तथा तकार का ही प्रयोग हुआ है—

सिता संसत्सु सत्तास्ते स्तुतेस्ते सततं सतः।
ततास्ति तैति तस्तेति सूतिस्ततोऽसि सा॥ पद्य ९३

'तुम्हारी स्तुति के कारण सज्जन की सर्वदा सभाओं में प्रशंसा तथा विद्यमानता होती है जिसमें व्याधियों का नाश होता है।'

निम्न पद्य में विरोधाभास का मनोहर प्रयोग है—

दुर्गापि मातः सुलभासि भक्त्या भवानुकूलापि भवं क्षिणोषि।
अध्येयतां यासि सदैव देवि ध्येयासि चित्रं चरितं तवैतत्॥ पद्य ७५

एक अन्य पद्य में कवि दुर्गा की उपमा प्रभातसन्ध्या से देता है जो सूर्य के आलोक को लाती है तथा रात्रि के अन्धकार को दूर करती है। देवी भी विद्वानों को ज्ञान का प्रकाश देती है तथा अज्ञान के अन्धकार को दूर करती है।[1]

एक अन्य पद्य में श्लेष के माध्यम से कवि पार्वती की तुलना वाणी तथा पृथ्वी से करता है। 'वह गौरी आपका भला करे जिसकी सभी लोग उपासना करते हैं, जिसकी आराधना की चाह करते हैं, जो शंभु के शरीर को धारण करती है तथा जो विद्वानों की उन्नति करती है। वह वाणी आप का अभीष्ट सिद्ध करे जो ब्रह्मा में स्थित है, जिसकी उपासना लोग सज्जनों का मन प्रसन्न करने को करते हैं। वह भूमि आपका अभीष्ट सिद्ध करे जिस की उन्नति कृषि से होती है, जो शिव का एक रूप है तथा जिससे सपत्नीक लोग धन की चाह करते हैं।'[2]

---

१. वन्द्या प्रभातसंध्येव सूर्यालोकप्रवर्तिनी।
निवर्तयसि देवि त्वं महामोहमयीं निशाम्॥ देवीशतक, पद्य ७७

२. उपासते कृष्टिकृतोदयां यां जना सदाराधनमीहमानाः।
शंभोः प्रसिद्धा तनुतां वहन्ती गौरी हितं सा भवतां विधेयात्॥ वही, पद्य २९

एक पद्य में छः भाषाओं, संस्कृत, महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी, शौरसेनी तथा अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है।[1] एक पद्य में सर्वतोभद्र चित्रालंकार का प्रयोग है जिसमें वर्णों की योजना इस प्रकार से की गई है कि किसी भी ओर से पढ़ने पर वही पाद प्राप्त होते हैं।[2]

स्रग्धरास्तोत्र[3]

आठवीं शती के पूर्वार्ध में हुए बौद्ध कवि सर्वज्ञमित्र द्वारा रचित स्रग्धरास्तोत्र में बौद्धदेवी तारा की स्तुति ३७ स्रग्धराछन्दबद्ध पद्यों में की गई है। तारा को अवलोकितेश्वर बुद्ध की स्त्रीप्रतिमूर्ति माना गया है। वह स्रग्धरा नाम से भी पुकारी जाती है। वह धन तथा मुक्ति को देने वाली देवी है। कल्हण ने सर्वज्ञमित्र का उल्लेख किया है।[4] सर्वज्ञमित्र के बारे में एक कथा प्रचलित है कि वह कश्मीर के महाराजा का जामाता था परन्तु उसने अपना सब राजकोष दान में दे दिया था। एक निर्धन ब्राह्मण की कन्या के विवाह के लिए धन जुटाने के लिए उसने स्वयं को भी एक ऐसे राजा के हाथ बेच दिया जो एक यज्ञ में सौ व्यक्तियों की बलि देना चाहता था। बलिदान के लिए प्रस्तुत हुए व्यक्तियों का करुण क्रन्दन सुनकर कवि ने तारा देवी की स्तुति की। देवी ने प्रकट होकर सभी व्यक्तियों को अभयदान दिया। सुन्दर काव्यशैली में रचित यह स्तोत्र बुद्धस्तोत्रसंग्रह भाग प्रथम में प्रकाशित हुआ है। महायान बौद्धधर्म की भक्ति भावना जो सम्भवतः भागवत धर्म की भक्ति भावना के प्रभाव से जन्मी थी, स्रग्धरास्तोत्र में भी स्पष्ट दिखाई देती है। अपने प्रारम्भिक काल में बौद्धधर्म अनीश्वरवादी था परन्तु कालान्तर में ईश्वरवादी हो गया। बुद्ध को ईश्वर का अवतार स्वीकार कर लिया गया तथा उनके साथ अनेक देवी देवताओं की कल्पना ने भी जन्म लिया। बुद्ध तथा इन देवी देवताओं की स्तुतियां मुक्ति प्रदान करने वाली मानी गईं। परिणामस्वरूप अनेक स्तुतिकाव्य रचे गये। ये स्तोत्रकाव्य भावुकतापूर्ण शैली में देवी देवताओं के प्रति भक्तिभाव को प्रकट करते हैं। स्रग्धरास्तोत्र भी इन विशेषताओं से युक्त है।

---

१. अलोलकमले चित्तललामकमलालये।
पाहि चण्डि महामोहभङ्गभीमबलामले।। वही, पद्य ७४
२. जितानया या नताजितारसाततसारता।
न सावना नवसान यातनारिरिनातया।। वही, पद्य २५
३. बिब्लियोथेका इण्डिका (१९०८ ई०), में प्रकाशित
४. कल्हण राजतरंगिणी ४,२१०

काव्यशास्त्र

संस्कृत काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरत से लेकर सत्रहवीं शती में हुए पण्डितराज जगन्नाथ तक लगभग दो सहस्र वर्षों में काव्यशास्त्रीय चिन्तन का जो विकास भारत में हुआ उसमें भारत के कई प्रदेशों का योगदान रहा है। परन्तु कश्मीर की शस्यश्यामला धरती में उत्पन्न काव्यशास्त्रियों ने इस क्षेत्र में इतना विपुलकाय और महत्त्वपूर्ण साहित्य रचा है कि उसके विना भारतीय काव्यशास्त्र की कल्पना करना ही कठिन है। भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तनधारा में छः प्रमुख सिद्धान्त माने जाते हैं—अलङ्कारसिद्धान्त, रीतिसिद्धान्त, रससिद्धान्त, ध्वनिसिद्धान्त, वक्रोक्तिसिद्धान्त तथा औचित्यसिद्धान्त। यह आश्चर्य की बात है कि इन सब सिद्धान्तों का प्रवर्तन कश्मीर में हुआ। रससिद्धान्त के प्रवर्तक भरत के स्थान और काल के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता परन्तु उनके नाट्यशास्त्र पर प्रख्यात टीका अभिनवभारती कश्मीर के आचार्य अभिनवगुप्त ने ही लिखी। उनके रससूत्र के अन्य प्रमुख व्याख्याता भट्टनायक, भट्टलोल्लट, शंकुक आदि भी कश्मीर की भूमि के पुत्र थे। कश्मीर में उत्पन्न काव्यशास्त्रियों में कुछ आचार्य मूल सिद्धान्तों के स्थापक या प्रवर्तक हैं। भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, महिमभट्ट तथा क्षेमेन्द्र इस श्रेणी में आते हैं। भामह अलङ्कारसिद्धान्त के, वामन रीतिसिद्धान्त के, आनन्दवर्धन ध्वनिसिद्धान्त के, कुन्तक वक्रोक्तिसिद्धांत के तथा क्षेमेन्द्र औचित्यसिद्धान्त के प्रवर्तक हैं। महिमभट्ट ने अभिधावृत्ति की सर्वोत्कृष्टता की स्थापना का प्रयास किया है।

दूसरी श्रेणी में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तग्रन्थों के टीकाकार जैसे अभिनवगुप्त, उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टतौत, राजानक तिलक, प्रतिहारेन्दुराज, राजानक आनन्द, रत्नकण्ठ, जयरथ आदि आते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ आचार्य ऐसे हैं जिन्होंने पूर्वाचार्यों की चिन्तनपरम्परा में उपलब्ध सामग्री को संकलित करके उसे नये रूप में अपने ग्रन्थों में संजोया है तथा आवश्यकतानुसार उसमें यत्किंचित् परिवर्तन तथा परिवर्धन भी किया है। ऐसे आचार्यों में मम्मट सर्वप्रमुख हैं जिन के काव्यप्रकाश में पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों

का अनूठा समन्वय दिखाई देता है। रुद्रट, रुय्यक, शोभाकरमित्र इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में प्रमुख रूप से नाट्यसम्बन्धी सिद्धान्तों का निरूपण है। नाट्यनियमों को बताने के साथ ही उन्होंने काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को भी कुछ अध्यायों में बता दिया है। नाट्यशास्त्र का समय ईसा की द्वितीय शती पूर्व से लेकर ईसा की तृतीय शती के बीच में माना जाता है। इसके अनन्तर पाँचवी और छठी शताब्दी के मध्य में लिखे गये भामहरचित काव्यालङ्कार से पहले की कोई काव्यशास्त्रीय रचना नहीं उपलब्ध होती है। भरत मुनि के बाद और भामह से पूर्व विष्णुधर्मोत्तरपुराण की रचना हुई थी। प्रोफेसर बूहलर का मत है कि इतिहासकार अलबेरुनि (लगभग १०३० ई०) ने विष्णुधर्म तथा विष्णुधर्मोत्तर के नाम से जिन पुराणों को उद्धृत किया है वे उस समय कश्मीर में आगमिक साहित्य के रूप में विद्यमान थे तथा उसने विष्णुधर्म से जितने उद्धरण दिये हैं उनमें से अधिकांश विष्णुधर्मोत्तर में मिलते हैं।[1] अनेक विद्वानों की धारणा है कि विष्णुधर्मोत्तर पुराण की रचना जम्मू कश्मीर में हुई है। अतएव कश्मीर में हुए अन्य भामह आदि काव्यशास्त्री आचार्यों की रचनाओं से पहले विष्णुधर्मोत्तरपुराण के संबंध में विचार किया जा रहा है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण की अठारह महापुराणों में गणना नहीं की जाती है। इसको विष्णुपुराण नामक महापुराण का उत्तर भाग माना जाता है इसीलिए इसका नाम विष्णुधर्मोत्तरपुराण प्रचलित है। इस पुराण में ३५५ अध्याय हैं और वे तीन खण्डों में विभाजित हैं। विष्णुपुराण का यह उत्तरार्ध नाम मात्र को माना जाता है, वस्तुतः यह पुराण एक स्वतन्त्र पुराण ही है। अन्य पुराणों की भांति इसमें विद्यमान कुछ अंशों की सामग्री प्राचीन है तथा कुछ अंशों की अर्वाचीन। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तीसरे खण्ड के ३५ अध्यायों में काव्य-शास्त्रसम्बन्धी उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है। अग्निपुराण की काव्य-शास्त्रीय सामग्री की ओर तो अधिकांश विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है किन्तु इस पुराण के भीतर आलोचित सिद्धान्तों की ओर कुछ ही विद्वानों की दृष्टि गई है। अग्निपुराण की भांति ही यह पुराण भी अनेकविध विद्याओं का विश्वकोश है।

इस पुराण में तृतीय खण्ड के १४वें अध्याय में २ शब्दालङ्कारों तथा १५ अर्थालङ्कारों के नाम और लक्षण दिये हैं। इन अलङ्कारों के नाम इस प्रकार हैं—

---

१. इण्डियन एन्टिक्वैरी, भाग १९, पृ० ४०२-४०७

अनुप्रास, यमक, रूपक, व्यतिरेक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, उपन्यास, विभावना, अतिशयोक्ति, वार्ता (अथवा स्वभावोक्ति) यथासङ्ख्य, विशेषोक्ति, विरोध, निन्दास्तुति, निदर्शन और अनन्वय।

अनन्वय का लक्षण देते हुए विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा गया है—

विना तया स्यादुपमा तु यत्र
तेनैव तस्यैव भवेन्नृवीर।
अनन्वयाख्यं कथितं पुराणै-
रेतावदुक्तं तव लेशमात्रम् ॥[1]

इस अनन्वय के लक्षण में उपमा शब्द का प्रयोग तो मिलता है परन्तु उपमा को पृथक् रूप में स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं स्वीकार किया गया है। उपन्यास अलङ्कार को उत्तरवर्ती मम्मट आदि आचार्यों ने व्याजोक्ति के रूप में उपस्थित किया है। इन अलङ्कारों के लक्षणों में उत्तरवर्ती मम्मट आदि आचार्यों के लक्षणों की तुलना में कम स्पष्टता और अतिव्याप्ति जैसे दोष भी परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के रूप में रूपक के लक्षण को लिया जा सकता है—

उपमानेन तुल्यत्वमुपमेयस्य रूपकम्।[2]

यह लक्षण उपमा के लक्षण में भी अतिव्याप्त हो सकता है क्योंकि वहाँ भी तुल्यत्व अर्थात् सादृश्य पाया जाता है। वस्तुतः इन अलङ्कारलक्षणों के साथ यदि इनके उदाहरण भी दिये जाते तो अधिक स्पष्टता आ सकती थी।

१५वें अध्याय में काव्य का प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति बताया है। महाकाव्य में नायक और प्रतिनायक वर्णनीय होते हैं। नायक धर्मविजयी और प्रतिनायक लोकविजयी होता है। काव्य में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत और शान्त नामक नवरसों का समावेश होना चाहिए। काव्य धर्म, अर्थ तथा कलाकौशल से समन्वित होना चाहिए।

१७वें अध्याय में १२ रूपकों का निरूपण है। रूपक के प्रथम भेद नाटक में सारी वृत्तियों और सारे रसों का समावेश होना चाहिए। मरण, राज्य के विध्वंसादि का नाटक में साक्षात् प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। नाटक के संवाद छोटे छोटे होने चाहिए। नाटक के लक्षण के बाद नाटिका, प्रकरणी, समवतार आदि का लक्षण किया गया है। राजा को देव कहकर भृत्यों द्वारा सम्बोधित किया जाना चाहिए। राजा विदूषक को वयस्य कहकर पुकारे। वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता आदि आठ प्रकार की नायिकाओं का वर्णन करके काव्य के नौ रस बताये हैं। रस

---

१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३, १४, १५
२. वही, ३, १४, ४

समन्वित काव्यरचना करने का परामर्श देकर नाटक को रसप्रधान बताया है।[१] रूपकों में धर्म, अर्थ और कामादि का उपदेश तथा लोकहित का सन्देश होना चाहिए।

३०वें अध्याय में नाट्य में पाये जाने वाले नौ रसों पर विचार किया गया है। शान्त रस को स्वतन्त्र रस माना है। श्रृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत तथा बीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति बताई है। श्रृङ्गार का श्याम तथा रौद्र रस का रक्तवर्ण बताया है। इसी प्रकार अन्य रसों के भी रंग बताये हैं। उत्तम, मध्यम और अधम जनों के हंसने के ढंग बताये हैं। संयोग और विरह से उत्पन्न होने वाला श्रृङ्गार दो प्रकार का है। विप्रलम्भश्रृङ्गार की चक्षुः प्रीति आदि दस प्रकार की कामावस्था बताई है। अन्त में नाट्य का मूल रस को बताया है तथा वृत्त में भी रसोपस्थिति की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया है।[२]

३१वें अध्याय में ४९ प्रकार के भावों को बताया गया है। पहले रति, शोक, विस्मयादि स्थायिभावों के भेद दिखाये हैं तदनन्तर असूया, श्रम, गर्व स्मृति आदि सञ्चारिभावों को दिखाया है। अन्त में रोमाञ्च, स्वरभेद आदि सात्त्विक भावों का रसों में समावेश करने का विधान है तथा श्रृङ्गारादि रसों के भेद बताये हैं।

इस प्रकार विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी काव्यशास्त्र विषयक उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है।

काव्यालङ्कार (भामह)

भामह ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कार में अपने पिता का नाम रक्रिल गोमी लिखा है परन्तु अपने जन्मस्थान तथा काल के विषय में कुछ नहीं लिखा। परम्परा से यही विश्वास किया जाता है भामह कश्मीर के निवासी थे। काश्मीरी आचार्यों उद्भट वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त; मम्मट आदि ने भामह का उल्लेख किया है तथा काश्मीरी आचार्य उद्भट ने ही उनके ग्रन्थ पर भामहविवरण नामक टीका लिखी थी। भामह के जीवनकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है। नरसिंह आयंगार तथा काणे दण्डी को भामह से पूर्ववर्ती मानते हैं परन्तु डॉ० त्रिवेदी, गणपति शास्त्री, डॉ० बलदेव उपाध्याय आदि विद्वान् दण्डी को

---

१. बन्धो रसानुगः कार्यः सर्वेष्वेतेषु यत्नतः।
रसप्रधानमेवैतत् सर्वं नाट्यं नराधिप॥

२. नाट्यस्य मूलं तु रसः प्रदिष्टो रसेन हीनं नहि वृत्तमस्ति।
वि० धर्मो० ३, १७, ६२
तस्मात्प्रयत्नेन रसाश्रयस्य वृत्तस्य यत्नं पुरुषेण कार्यम्॥ वही, ३, ३०, २८

भामह से परवर्ती स्वीकार करते हैं। डॉ०याकोबी के अनुसार भामह ने काव्यालङ्कार के पांचवें परिच्छेद में न्यायसम्बन्धी सिद्धान्तों का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उस पर धर्मकीर्ति का प्रभाव है। परन्तु बलदेव उपाध्याय और बटुकनाथ ने विस्तृत विवेचन करके सिद्ध किया है कि भामह पर दिङ्नाग तथा उनके गुरु वसुबन्धु का प्रभाव है, धर्मकीर्ति का नहीं।[1] 'त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानम्' यह परिभाषा भामह और धर्मकीर्ति की समान है परन्तु दिङ्नाग की अनुमान की परिभाषा भी यही है।

दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के लक्षण को भामह ने वैसा का वैसा ग्रहण कर लिया है जबकि धर्मकीर्ति ने उसमें अभ्रान्तम् शब्द जोड़कर 'प्रत्यक्षं कल्पनाप्रोढमभ्रान्तम्' दिया है। दिङ्नाग का समय ४०० ई० के लगभग तथा धर्मकीर्ति का समय ६२० ई० के लगभग माना गया है अतः भामह को ४०० ई० के पश्चात् और ६२० ई० से पूर्व रखना उचित है। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत की एक कारिका में भामह के एक वाक्य को तथा बाण के एक वाक्य को उद्धृत करते हुए पहले को प्राचीन तथा दूसरे को नवीन कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि भामह को वे बाण से पूर्ववर्ती मानते थे। बाण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है अतः भामह को पांचवीं शताब्दी से सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के बीच रखा जा सकता है।

अभी तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर भामह ही भरत पश्चात् युग के सर्वप्रथम काव्यशास्त्राचार्य हैं। इनसे कई सौ वर्ष पूर्व आचार्य भरतमुनि ने जो नाट्यशास्त्र लिखा उसमें प्रधान रूप से नाट्यसम्बन्धी सामग्री की चर्चा है। वहां केवल छठे अध्याय में रस विवेचन तथा सत्रहवें अध्याय में दीपक, रूपक, उपमा और यमक अलङ्कारों का स्वरूप बताया गया है। इस प्रकार भरतमुनि जहां नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं, भामह काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं। इन के ग्रन्थ काव्यालङ्कार में काव्यशास्त्रीय विषयों का वैज्ञानिक रीति से विवेचन किया है तथा अलङ्कार और रस का सम्बन्ध श्रव्यकाव्य के साथ स्थापित किया गया है। डॉ० सुशील कुमार डे ने ठीक ही कहा है कि "भामह के ग्रंथ से काव्यशास्त्र के इतिहास में अनुमानमूलक तथा अनिश्चयमूलक अंधकार युग की समाप्ति हो जाती है तथा काव्यसिद्धान्त को एक व्यवस्थित तथा शास्त्रीय रूप उपलब्ध होता है।"[2]

भामह के काव्यालङ्कार में छः परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण तथा काव्य के भेद बताये गये हैं। काव्य का प्रयोजन धर्म,

---

१. भामह एण्ड हिज़ काव्यालङ्कार, पृ० ४०-५५

२. सुशील कुमार डे : संस्कृत साहित्य का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, पृ० ३७

अर्थ, काम और मोक्ष तथा विभिन्न कलाओं में चतुरता और यश एवं कीर्ति प्राप्त करना बताया गया है।[१] भामह के अनुसार काव्य का हेतु कविप्रतिभा है। मूर्ख व्यक्ति भी गुरु के उपदेश से शास्त्र पढ़ लेने में समर्थ हो जाता है किन्तु कविता का निर्माण कभी कभी ही किसी प्रतिभाशाली कवि के द्वारा ही सम्पन्न होता है।[२] परवर्ती आचार्यों ने प्रतिभा को परमावश्यक काव्यहेतु मानते हुए इसे जन्मान्तरगत संस्कार विशेष (वामन), अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमप्रज्ञा (अभिनवगुप्त) या शक्ति (रुद्रट, मम्मट) कहा है। काव्य का लक्षण बताते हुए भामह ने शब्द और अर्थ के साहित्य अर्थात् सहभाव को काव्य कहा है।[३] उत्तरवर्ती आचार्य मम्मट ने भी इसी लक्षण को स्वीकारा है तथा शब्दार्थों के कुछ विशेषण देकर इस लक्षण का विस्तार किया है। काव्य के पांच भेद भामह ने बताये हैं। सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा तथा अनिबद्ध। सर्गबन्ध महाकाव्य का नाम है तथा अभिनेयार्थ नाटक तथा रासक को कहते हैं। भामह ने कथा तथा आख्यायिका के परस्पर भेद का निरूपण किया है तथा अनिबद्ध अथवा मुक्तक काव्य की चर्चा भी की है। वैदर्भी तथा गौडी रीति की चर्चा करते हुए भामह कहते हैं कि समुचित गुणों से युक्त होने पर ही कोई मार्ग प्रशंसायोग्य होता है। आंख मूंद कर वैदर्भी की प्रशंसा या गौडी की निन्दा करना ठीक नहीं। गौडीय मार्ग भी यदि अर्थवत्ता, अग्राम्यता, सालंकारता, न्यायता (लोक तथा शास्त्र की मान्यताओं के अनुरूप होना) तथा अनाकुलता (शब्दाडम्बर से रहित होना) से युक्त हो तो प्रशंसनीय है क्योंकि यही गुण काव्य में अपेक्षित हैं। यदि वैदर्भी भी इन विशेषताओं से रहित हो तो वह प्रशंसनीय नहीं।[४] वस्तुतः भामह के विचार में गौडी और वैदर्भी का भेद निरर्थक है। भामह ने भरत द्वारा प्रतिपादित दस गुणों के स्थान में केवल तीन गुणों माधुर्य, ओज और प्रसाद का उल्लेख किया है। उत्तरवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने भी इन तीन गुणों को स्वीकारा है। भामह के अनुसार इन गुणों का रीति से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं जबकि दण्डी आदि आचार्य गुणों को रीतियों से सम्बद्ध मानते हैं। दूसरे परिच्छेद में गुणों के उल्लेख के पश्चात् अलंकारों का वर्णन है तीसरे परिच्छेद में भी अलंकारों का विवरण दिया गया है। कुल मिलाकर

---

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्त्तिं च साधु काव्यनिबन्धनम्॥ काव्यालङ्कार १.१.

२. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रजडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥ वही, १.५.

३. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् वही, १, १६

४. अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयः वैदर्भमपि नान्यथा॥ वही, १. ३५.

भामह ने निम्न उनतालीस अलंकारों (उपभेदों को छोड़कर) की परिभाषा दी है—अनुप्रास (दो भेद), यमक (पांच भेद), रूपक (दो भेद), दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा, आक्षेप (दो भेद), अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त (दो भेद), श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा-रूपक, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति, ससंदेह, समन्वय, उत्प्रेक्षावयव, संसृष्टि, भाविक तथा आशीः। भामह काव्य में अलंकारों को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। उनके मतानुसार सरस काव्य भी अलंकारों के बिना वैसे ही शोभित नहीं होता जैसे किसी रमणी का मुख सुन्दर होते हुए भी भूषणों के बिना शोभायुक्त नहीं होता। चौथे परिच्छेद में काव्यदोषों का विवेचन किया गया है। प्रथम परिच्छेद के ३७-५६ श्लोकों में भी दोषनिरूपण है। नेयार्थ, क्लिष्टार्थ, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढ-शब्दाभिधान ये छः सामान्य दोष तथा श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट ये चार वाग्दोष गिनाये हैं। चौथे परिच्छेद में अपार्थ, व्यर्थ आदि ग्यारह दोष गिना कर प्रथम दस के लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं। पञ्चम परिच्छेद में ग्यारहवें दोष प्रतिज्ञाहेत्वादिहीन का वर्णन है जिसके विवेचन के प्रसंग में न्याय-वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों की चर्चा की गई है। छठे परिच्छेद में सौशब्द (व्याकरणशुद्धि) की प्राप्ति के लिए कवियों को निर्देश दिये गये हैं। भामह ने 'श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयम्' कहकर पाणिनि व्याकरण को पर्याप्त आदर दिया है।

भामह ने अपने से पूर्व के कई आचार्यों तथा उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया है। ये आचार्य तथा ग्रन्थ निम्न हैं—रामशर्मा का अच्युतोत्तर, कणभक्ष, अश्मक-वंश, राजमित्र, शाखवर्धन, मेधावी, रत्नहरण, न्यास तथा सालातुरीय पाणिनि। भामह से पहले भी अलङ्कारवादी आचार्यों की परम्परा थी। भामह का यह कथन कि मेधाविप्रोक्त सात उपमादोष हैं, यह सिद्ध करता है कि भामह से पूर्व मेधावी ने भी उपमागत दोषों का विवेचन किया था। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार इन दोनों के महत्त्व को भामह ने स्वीकारा है तथा इस प्रसंग में दूसरों के मत की चर्चा करते हुए कहा है कि कुछ लोग रूपकादि (अर्थालंकार) को काव्य का अलंकार कहते हैं तथा अन्य लेखक रूपकादि को बाह्य अलंकार कहते हैं। उनके अनुसार शुद्ध व्याकरण प्रयोग से भाषा की शोभा बढ़ती है।[1] भामह ने शब्दालंकार

---

१. रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछन्त्यलंकृतिम्
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।।

तथा अर्थालंकार दोनों का महत्त्व स्वीकार किया है। सभी अर्थालंकारों का मूल आधार उन्होंने वक्रोक्ति को माना है और वक्रोक्ति का समीकरण अतिशयोक्ति के साथ किया है। वक्रोक्ति से ही अर्थ की शोभा होती है अतः कवि को वक्रोक्ति के सम्पादन में यत्न करना चाहिये। वक्रोक्ति के बिना भला कौन सा अलंकार हो सकता है? अर्थात् अलंकार का अस्तित्व ही वक्रोक्ति के बिना सम्भव नहीं होता।[१] भामह हेतु, सूक्ष्म और लेश को इसी कारण अलंकार नहीं मानते क्योंकि उनके अर्थ में वक्रोक्ति नहीं। वक्रोक्ति से रहित साधारण वाक्य वार्ता कहलाते हैं, काव्य नहीं।[२] भामह के ग्रन्थ में रस का विवेचन नहीं है। रसवत् अलंकार में रसों का अन्तर्भाव स्वीकार किया गया है।

परवर्ती आनन्दवर्धन, मम्मट आदि आचार्यों तथा माघ, भट्टि आदि महाकवियों पर भामह के काव्यालंकार का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। आनन्दवर्धन ने भामह के वक्रोक्ति के लक्षण को ध्वन्यालोक में स्थान दिया है। आचार्य मम्मट ने उनके शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों भेदों को स्वीकार किया है। भामह के द्वारा बताये हुए काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' ने उत्तरवर्ती आचार्यों को काव्य के स्वरूप को समझने में दिशा प्रदान की है। परम्परा से यह स्वीकार किया जाता है कि भामह के काव्यालंकार के अलंकारों के उदाहरण देने के लिए ही भट्टि ने रावणवध महाकाव्य के दशम से त्रयोदश तक चार सर्गों की रचना की थी। भट्टिकाव्य का एक पद्य तो काव्यालंकार के एक पद्य का रूपान्तर ही है।[३]

आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, केशव मिश्र, मल्लिनाथ, नमिसाधु, प्रतिहारेन्दुराज, भोज, मम्मट, रुय्यक, वामन आदि प्रमुख आचार्यों ने भामह को उद्धृत किया है। उद्भट ने काव्यालंकार पर भामहविवरण नामक टीका लिखी थी। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका लोचन में तथा प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट के ग्रन्थ काव्यालंकारसंग्रह की टीका में इस भामहविवरण टीका का उल्लेख किया है।

भामह ने काव्यालंकार के अतिरिक्त कुछ और ग्रन्थों की रचना भी की थी

---

१. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥ २. ८५

२. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं? वार्तामिनां प्रचक्षते॥ २. ८७

३. काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥ काव्यालंकार २. २०
तुलनीय-व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतया मया॥ भट्टिकाव्य २२. ३४

जिनमें एक ग्रन्थ छन्दशास्त्र विषयक था। वृत्तरत्नाकर की टीका में नारायण-भट्ट ने भामह को उद्धृत किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल की टीका में राघवभट्ट ने भी कुछ ऐसे उद्धरण भामह के नाम से दिये हैं जो काव्यालंकार में नहीं मिलते।

अलंकारसारसङ्ग्रह

भारतीय काव्य शास्त्र में आचार्य उद्भट का आचार्य और टीकाकार के रूप में विशिष्ट स्थान है। उत्तरवर्ती आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मटादि आचार्यों ने इनके ग्रन्थों की सामग्री का उपयोग किया है। इनके मतों का भी सम्मान के साथ उल्लेख किया है। इनके समय की पूर्व सीमा काव्यालंकार के रचयिता भामह के पश्चात् मानी जा सकती है। क्योंकि इन्होंने काव्यालंकार पर भामहविवरण नाम की एक टीका लिखी थी। भामह का समय ५०० ई० से ७वीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है। उत्तर सीमा ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन (९वीं शती का उत्तरार्ध) तक मानी जा सकती है। आनन्दवर्धन ने बताया है कि उद्भट भट्ट ने रूपकादि अलंकारों की प्रतीयमानता भी स्वीकार की है।[1] राजतरंगिणी के रचयिता कल्हण ने उद्भट को राजा जयापीड की सभा का सभापति बताया है[2] कश्मीर के इस राजा का राज्यकाल ७७९-८१३ ई० रहा था। इस आधार पर उद्भट का समय ८०० ई० के लगभग माना जा सकता है तथा इनकी जन्मभूमि भी कश्मीर प्रदेश सिद्ध होती है। जयापीड के मन्त्री काव्यालंकारसूत्र के रचयिता वामन इनके समकालीन थे।

आचार्य उद्भट की ये चार रचनायें प्रसिद्ध हैं—१. अलंकारसारसङ्ग्रह २. भामहविवरण ३. कुमारसम्भव ४. भरतनाट्यशास्त्र की टीका। इनमें से केवल अलंकारसारसंग्रह ही उपलब्ध होता है। शेष तीनों की कारिकाओं तथा श्लोकों का उल्लेख उत्तरवर्ती आचार्यों की कृतियों में मिलता है।

अलंकारसारसंग्रह में छः वर्ग हैं जिनमें ४१ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं। इन अलंकारों के नाम इस प्रकार हैं—

१. प्रथम वर्ग—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, परुषा, उपनागरिका, कोमला

---

१. रूपकादिरलंकारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
स: सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः॥
अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र
प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भि भट्टोद्भटादिभिः।
ध्वन्यालोक २.२६ वृत्तिभाग

२. विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥ कल्हण राजत० ४.४९५

अथवा ग्राम्या नामक तीन प्रकार का अनुप्रास, लाटानुप्रास, रूपक, उपमा, दीपक तथा प्रतिवस्तूपमा।

२. द्वितीय वर्ग—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति।

३. तृतीय वर्ग—यथासङ्ख्य, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

४. चतुर्थ वर्ग—प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त तथा दो प्रकार का श्लिष्ट

५. पञ्चम वर्ग—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सङ्कर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति

६. षष्ठ वर्ग—ससन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टान्त

भामह का उद्भट पर बहुत अधिक प्रभाव है। उद्भट ने अपने इस अलंकार विवेचन में अलंकारों का वही क्रम रखा है जो काव्यालंकार में है। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि कतिपय अलंकारों के लक्षणों में भी परस्पर समानता है। आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासङ्ख्य, पर्यायोक्त आदि के लक्षण ज्यों के त्यों काव्यालंकार से लिये हुए हैं। इन्होंने पांच नये अलंकारों पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, संकर, काव्यलिंग तथा दृष्टान्त की उद्भावना की है। प्रतिवस्तूपमा अलंकार को उपमा का भेद मात्र न कहकर स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार किया है। भामह ने रूपक के दो भेद बताये हैं परन्तु उद्भट ने चार भेद कहे हैं। भामह के बताये कुछ अलंकारों को छोड़ दिया है।

उत्तरवर्ती आनन्दवर्धन जैसे ध्वनिवादी आचार्य को अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए उद्भट के सिद्धान्तों से बहुत सहायता मिली है।[1] भामह के काव्या-लंकार के समान ही अलंकारसारसंग्रह की सामग्री का प्रयोग उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी रचनाओं में किया है। भामह के द्वारा प्रवर्तित अलंकारसम्प्रदाय की ही इन्होंने पुष्टि की है। इनका कहना है कि श्लेषालंकार दो प्रकार का है शब्दश्लेष और अर्थश्लेष। ये दोनों ही अर्थालंकार हैं किन्तु मम्मट ने इनके इस मत का खण्डन किया है।[2]

उद्भट ने रसवत् अलंकार में ही रसाभिव्यक्ति को स्वीकार किया है। इस अभिव्यक्ति के पांच साधनों स्वशब्द, स्थायिभाव, सञ्चारिभाव, विभाव तथा अभिनय का उल्लेख किया है।[3] मम्मट आदि आचार्यों ने स्वशब्दवाच्यता को

१. देखिए पूर्वपृष्ठ ध्वन्यालोक २.२६ वृत्तिभाग

२. शब्दश्लेष इति चोच्यते अर्थालंकारमध्ये च लक्ष्यते इति कोऽयं नयः। काव्य प्रकाश ९, वृत्तिभाग

३. रसवत्···स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्

रसाभिव्यक्ति का उपाय न कहकर रसदोष माना है।

आनन्दवर्धन के अनुसार गुणों को उद्भट ने संघटना का धर्म माना है जब कि ध्वनिवादी आचार्य उन्हें रस का धर्म मानते हैं।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति

वामन ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में अपने विषय में कुछ नहीं लिखा अतः अन्य प्रमाणों के आधार पर ही उन के जीवनकाल के विषय में पता चलता है। कामन्दकनीति, कामशास्त्र, छन्दोविचिति, नाममाला, विशखिल, शूद्रक तथा हरिप्रबोध[1] का उल्लेख किया है। रूपक अलंकार के उदाहरण के लिए भवभूति के उत्तररामचरित के पद्य को उद्धृत किया है।[2] भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रित थे जिस का समय आठवीं शती का प्रारम्भ है। अतः वामन का समय ७५० ई० के बाद रखा जा सकता है। कल्हण ने राजतरंगिणी में वामन को राजा जयापीड का मन्त्री बताया है।[3] बूहलर के अनुसार कश्मीर की यह परम्परा विश्वसनीय है कि काव्यालंकार का रचयिता जयापीड का मन्त्री वामन ही था। जयापीड का शासनकाल ७७९-८१३ ई० था अतः वामन का समय आठवीं शती का उत्तरार्ध माना जा सकता है। पी० वी० काणे के मतानुसार काव्यालंकार के रचयिता वामन, काशिका के रचयिता वामन से भिन्न हैं। काशिका की रचना ६६० ई० में हुई थी।[4]

वामन का ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति पांच अधिकरणों में विभक्त है। पहले तथा चौथे अधिकरण में तीन तीन अध्याय हैं तथा दूसरे, तीसरे और पांचवें अधिकरण में दो दो अध्याय हैं।

शारीर शीर्षक प्रथम अधिकरण में काव्यप्रयोजन, काव्य के अधिकारी, रीति तथा उसके भेदोपभेद तथा काव्य के अंगों की चर्चा है।

दोषदर्शन नामक द्वितीय अध्याय में पद, वाक्य तथा अर्थ के दोषों का विवरण है।

गुणविवेचन नामक तृतीय अधिकरण में गुण तथा अलंकारों में भेद स्पष्ट किया गया है तथा दस गुणों के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं।

आलंकारिक नामक चतुर्थ अधिकरण में अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों तथा

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ४.१.१०; ४.१.२; १.३.५., १.३.७; ३.२.४.; ४.१.२

२. इयंगेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिनयर्नयोर् वही, ४.३.६.

३. मनोरथः शंखदन्तश्चटकः संधिमांस्तथा
   बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः कल्हणराजत० ४. ४९७.

४. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), पृ० १८५

उपमादि अर्थालंकारों की चर्चा है।

प्रायोगिक नामक पंचम अधिकरण में कविपरम्पराओं की चर्चा है तथा कवियों द्वारा प्रयुक्त अशुद्ध शब्दों की समीक्षा की गई है।

इस प्रकार वामन ने काव्य के सभी अंगों पर सामान्य रूप से विचार किया है परन्तु उनकी विशेष प्रसिद्धि रीति को काव्य की आत्मा प्रतिपादित करके रीति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने के कारण है।

वैसे तो रीतिसिद्धान्त का बीज भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है जहां भरत विभिन्न प्रदेशों की वेषभूषा पर आधारित चार प्रवृत्तियों आवन्ती, दाक्षिणात्या, औड्रमागधी और पांचाली का उल्लेख करते हैं। ये वेषविन्यासात्मक प्रवृत्तियां अक्षरविन्यासात्मक रीतियों से नितान्त भिन्न होने पर भी उन के भौगोलिक विभाजन का आधार कही जा सकती हैं। इसी प्रकार भरत द्वारा उल्लिखित भारती, कैशिकी, सात्वती और आरभटी नामक चार रसनियत वृत्तियों का प्रभाव रीतिसिद्धान्त के इस पहलू पर दिखाई देता है कि विभिन्न रीतियों का प्रयोग विभिन्न रसों में होता है।

वामन से पूर्व भामह और दण्डी ने रीति के लिए मार्ग शब्द का प्रयोग किया है तथा दो मार्गों वैदर्भ तथा गौड का विवेचन किया है। दण्डी के अनुसार श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं तथा गौड मार्ग में इन गुणों का प्रायः विपर्यय रहता है।[1] इस प्रकार उनके मतानुसार वैदर्भी काव्य की उत्तम शैली है तथा गौडी निकृष्ट शैली है। वैदर्भी दश गुणों के विधेयात्मक रूप को धारण करती है जबकि गौडी में गुणों का निषेधात्मक रूप दिखाई देता है। मधुरं रसवद् कहते हुए दण्डी रसों को भी गुणों के भीतर ले आते हैं। दो मार्गों को भौगोलिक भाषा-शैली के रूप में प्रस्तुत करके दण्डी यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक कवि की अपनी अपनी शैली होती है और प्रतिकविस्थित ये मार्ग-भेद असंख्य हो सकते हैं।[2]

दण्डी से पूर्व भामह ने भी दो मार्गों वैदर्भ और गौड की चर्चा की है। उन्होंने इस प्रचलित धारणा का विरोध किया है कि वैदर्भ मार्ग श्रेष्ठ है और गौड निकृष्ट। कोई भी मार्ग जिसमें काव्य के वास्तविक गुण अलंकारवत्ता (अलंकारों से युक्त होना) अग्राम्यत्व (अशिष्ट शब्दार्थ प्रयोग से रहित होना) अर्थ्यत्व (चमत्कारपूर्ण

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इतिवैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥ काव्यादर्श १. ४१-४२

२. तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः। वही १. १०१

अर्थ से युक्त होना) न्याय्यत्व (लोक तथा शास्त्र के सिद्धान्तानुकूल होना) अमनाकुलत्व (शब्दाडम्बर से रहित होना) हों वही प्रशंसनीय है। जिस काव्य में ये गुण न हों वह चाहे गौड मार्ग का हो चाहे वैदर्भ मार्ग का, स्तुत्य नहीं होता।[1] वैदर्भी रीति में रचित रचना में भी यदि पुष्टार्थता नहीं है, वक्रोक्ति नहीं है, केवल प्रसादगुण युक्त कोमल पदावली ही है तो वह गान की तरह श्रुतिमधुर मात्र हो सकती है पर हृदयस्पर्शी नहीं[2]। इस प्रकार अलंकारवादी भामह अलंकारादि के बिना रीतियों का महत्त्व स्वीकार नहीं करते।

वामन भी अलंकारवादी हैं तथा काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की प्रथम कारिका में ही कह देते हैं कि काव्य की ग्राह्यता अलंकार से है।[3] दूसरी ओर उनकी यह भी मान्यता है कि रीति ही काव्य की आत्मा है। अतः यह जानना आवश्यक है कि वामन की दृष्टि में अलंकार और रीति का परस्पर क्या सम्बन्ध है? वामन अलंकार शब्द का प्रयोग केवल उपमादि अलंकारों के लिए नहीं करते। उनके अनुसार सौन्दर्यप्रतीति ही अलंकार है और यह सौन्दर्यप्रतीति दोषों के त्याग तथा श्लेषादि गुणों और उपमादि अलंकारों के ग्रहण से होती है।[4] विशिष्टपद-रचना रीति है। पदरचना का यह वैशिष्ट्य श्लेषादि गुणों में तथा उपमादि अलंकारों में है। अन्तर केवल यह है कि श्लेषादि गुण रीत्यात्मक काव्य के सामान्य और नित्य अलंकार हैं जिनके बिना रीति की सत्ता नहीं और उपमादि अलंकार विशेष और अनित्य अलंकार हैं जिनके बिना भी रीति की सत्ता है परन्तु जिनकी उपस्थिति रीत्यात्मक काव्य की शोभा में अतिशयता लाती है।[5] रीति अलङ्कार्य है और उपमादि अलङ्कार उसे अलंकृत करते हैं।

गुणों के दो प्रकार शब्दगुण तथा अर्थगुण वामन ने स्वीकार किये हैं। वे शब्द-गुणों की अपेक्षा अर्थगुणों की महत्ता बताते हुए कहते हैं कि वैदर्भी रीति अर्थगुणों की सम्पत् के कारण आस्वाद्य होती है।

वामन गुणों का रीतियों के साथ सम्बन्ध मानते हैं परन्तु यह सम्बन्ध दण्डी

---

१. अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयः, वैदर्भमपि नान्यथा ।। भामह १.३५

२. अपुष्टार्थमवक्रोक्तिप्रसन्नमृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ।। वही, १,३४

३. काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। वामन, १.१.१

४. सौन्दर्यमलङ्कारः।
स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम् ।। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १. १. २-३

५. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। पूर्वे नित्याः। वही ३. १. १-३

द्वारा बताये गये सम्बन्ध से भिन्न प्रकार का है। जहां दण्डी वैदर्भ मार्ग में कतिपय गुणों की उपस्थिति और गौड मार्ग में उन गुणों का विपर्यय मानते हैं, वहां वामन के अनुसार रीतियों का भेदक तत्त्व उनमें गुणों की अधिक अथवा कम संख्या का होना है। वामन के अनुसार तीन रीतियां हैं। वैदर्भी रीति में सभी गुणों की विद्यमानता होती है।[1] गौडी रीति में ओज और कान्ति गुणों की उपस्थिति रहती है, माधुर्य और सौकुमार्य का अभाव होता है।[2] पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य गुण रहते हैं ओज और कांति का अभाव होता है।[3] गुणों की समग्रता के कारण कवियों को वैदर्भी का ही प्रयोग करना चाहिए। इस प्रकार वामन ने गुणों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए उनको रीतियों के निर्धारण में सहायक माना है। उन्होंने ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति ये दस पदरचना तथा अर्थ के गुण कहे हैं। अर्थगुण कान्ति में उन्होंने रसों का समावेश कर दिया है।[4] कई गुणों की व्याख्या में वामन का दृष्टिकोण दण्डि से भिन्न है। दण्डि के अनुसार ओजगुण समासबहुलता में होता है तथा गौडमार्ग का गुण है परन्तु वामन ने ओज की व्याख्या गाढबन्धत्वम् तथा अर्थस्य प्रौढिः की है तथा इस गुण को वैदर्भी तथा गौडी दोनों रीतियों में स्वीकारा है।

वामन ने गुणों तथा अलंकारों के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि काव्य की शोभा के आधायक धर्म गुण हैं जबकि उस शोभा में वृद्धि करने वाले अलंकार हैं।

अलंकारों का विवेचन करते हुए वामन ने उपमा को प्रधान अलंकार बताकर अन्य सब अलंकारों को उपमा अलंकार का प्रपञ्च माना है। अलंकारों के लक्षणों में भी वामन ने अपनी मौलिकता दिखाई है।

काव्यालंकार[5] (रुद्रट)

आचार्य रुद्रट की गणना अलंकारवादी आचार्यों में की जाती है। यद्यपि इन्होंने

---

१. समग्रगुणोपेता वैदर्भी ॥ काव्या: सू० वृ० २. ११

२. ओजः कान्तिमयी गौडीया ॥ वही २. १२

३. माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली ॥ वही २. १३

४. दीप्तरसत्वं कान्तिः। दीप्ताः रसाः शृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः तस्य भावो दीप्तरसत्वम् ॥ वही ३. १. १४

५. पण्डित दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव शास्त्री पणशीकर द्वारा काव्यालंकार का एक प्रामाणिक संस्करण निर्णय सागर प्रेस बम्बई से सन् १९२८ में प्रकाशित किया गया है। इस ग्रन्थ में नमिसाधु कृत संस्कृत टीका भी समाविष्ट है। यह टीका, सरल, संक्षिप्त एवं विषयानुकूल है।

अपने ग्रंथ काव्यालंकार में काव्य में विभिन्न रसों का समावेश करने के लिए कहा है[1] तथापि इन्होंने रस की अपेक्षा अलंकारों की सूक्ष्म आलोचना करने में अपनी अधिक शक्ति लगाई है। रुद्रट ने अपनी रचना में ऐसे अनेक नवीन अलंकारों का समावेश किया है जिनका भामह तथा उद्भट की रचनाओं में उल्लेख नहीं है। इन्होंने अलंकारों और रसों को लक्षण और उदाहरण देते हुए समझाया है। इस कारण इन्हें अलंकारवादी, रसवादी और ध्वनिवादी आचार्यों को जोड़ने वाली कड़ी समझा जाता है।

रुद्रट ने अपने जीवन के सम्बन्ध में स्वयं कुछ नहीं लिखा है। काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इनके पिता का नाम वामुक तथा रुद्रट का दूसरा नाम शतानन्द बताया है।[2] उद्भट, कैयट, उव्वट और मम्मट जैसे कश्मीरी नामों से रुद्रट नाम भी मिलता है। इस कारण इन्हें कश्मीरदेशवासी माना जा सकता है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कहा है कि आचार्य रुद्रट ने काकु को वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार माना है।[3] राजशेखर का समय ९२० ई० के लगभग निर्धारित किया जाता है। अतः रुद्रट का समय इनसे पूर्व ८५० ई० के आसपास माना जा सकता है।

रुद्रट की एकमात्र रचना काव्यालंकार है। इसमें केवल शब्दशक्ति और गुणों का विवेचन नहीं है परन्तु काव्य के अलंकार, रीति, रस आदि अन्य आवश्यक तत्त्वों का विस्तृत विवेचन भी किया गया है। इसमें १६ अध्याय हैं जिनमें अलंकारादि के लक्षणों तथा भेदों को आर्या छन्द के माध्यम से बताया गया है।

प्रथम अध्याय—श्री गणेश तथा गौरी की स्तुति, काव्यालंकार नामक ग्रन्थ रचना का प्रयोजन, काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास, शक्ति के सहजा तथा उत्पाद्या दो भेद, काव्य से स्थायियशः प्राप्ति।

द्वितीय अध्याय—काव्यलक्षण, पांच शब्दभेद—नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग तथा कर्मप्रवचनीय, चार रीतियां—पाञ्चाली, लाटी, गौडीया तथा वैदर्भी, वाक्यलक्षण, वाक्यगुण, द्विधा वाक्यभेद—गद्य तथा पद्य, भाषाओं पर आधारित छः वाक्य प्रकार, श्लेषवक्रोक्ति तथा काकुवक्रोक्ति के लक्षण और उदाहरण, अनुप्रास लक्षण, मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा वृत्ति के लक्षण तथा उदाहरण।

---

१. तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसै र्युक्तम्। काव्यालंकार १२, २

२. शतानन्दपराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम्॥ वही ५, १४ वृत्तिभाग

३. काकुवक्रोक्ति र्नाम शब्दालंकारोऽयमिति रुद्रटः॥
काव्य मीमांसा, अध्याय ७, काकुप्रकरण

तृतीय अध्याय—यमकलक्षण, यमक के अनेक भेद तथा उनके उदाहरण।

चतुर्थ अध्याय—श्लेषलक्षण, अष्टविध श्लेष के लक्षण तथा उदाहरण, संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, शौरसेनी आदि में प्राप्त कतिपय समान शब्द।

पञ्चम अध्याय—चित्रकाव्यलक्षण, चक्र, खड्ग, मुसल, धनुः, शक्ति, शूल तथा हलादिबन्ध के उदाहरण, मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक, प्रहेलिका, कारकगूढ, क्रियागूढ, प्रश्नोत्तरादि के लक्षण तथा उदाहरण।

षष्ठ अध्याय—असमर्थ, अप्रतीत, विसन्धि आदि पददोषों के लक्षण तथा उदाहरण; संकीर्ण, गर्भित आदि वाक्य दोषों के लक्षण तथा उदाहरण।

सप्तम अध्याय—अर्थलक्षण, द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति रूप चार अर्थभेद, वास्तव, औपम्य, अतिशय तथा श्लेष—चार अर्थालंकार, वास्तवलक्षण तथा वास्तव पर आधारित २३ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण।

अष्टम अध्याय—औपम्यलक्षण, औपम्य पर आधारित २१ अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरण।

नवम अध्याय—अतिशयलक्षण, अतिशय पर आधारित १२ अलंकारों के लक्षण तथा भेद।

दशम अध्याय—अर्थश्लेषलक्षण, शुद्धश्लेष के दस भेदों के लक्षण और उदाहरण, संकर के दोनों भेदों के उदाहरण।

एकादश अध्याय—नौ अर्थदोषों तथा चार उपमादोषों के लक्षण तथा उदाहरण।

द्वादश अध्याय—काव्यप्रयोजन, दस रसों का नाम परिगणन, शृंगारलक्षण, चार प्रकार के नायकों के लक्षण, नायक के सहायक, आत्मीया, परकीया, वेश्या नामक तीन नायिका भेद; अभिसारिका, खण्डिता, स्वाधीनपतिका तथा प्रोषितपतिका नामक चार नायिकाओं के लक्षण।

त्रयोदश अध्याय—सम्भोगशृंगार लक्षण, स्त्रियों की विविध लीलाओं तथा चेष्टाओं का वर्णन, नारी के प्रति नायक का कर्त्तव्य।

चतुर्दश अध्याय—चतुर्विध विप्रलम्भशृंगार के लक्षण, विप्रलम्भ की दस दशायें, खण्डिता नायिका को प्रसन्न करने के साम, दानादि छः उपायों का वर्णन, शृङ्गाराभास, विप्रलम्भशृंगारोचित रीतियां।

पञ्चदश अध्याय—शृंगार को छोड़कर शेष वीरादि रसों का विभावानुभावव्यभिचारिभावों सहित विवेचन, रसानुकूल रीतियां।

षोडश अध्याय—उत्पाद्य और अनुत्पाद्य नामक प्रबन्ध भेदों के लक्षण, महाकाव्य तथा लघुकाव्यों के लक्षण, उत्पाद्य प्रबन्ध की सामग्री, कथा तथा आख्यायिका के लक्षण, काव्य में कतिपय वर्जित तत्त्वों का उल्लेख, विघ्ननाशार्थ भवानी, मुरारि और गणेश का वन्दन।

आचार्य रुद्रट ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया हुआ है। यों तो वे अलंकारसम्प्रदाय के पृष्ठपोषक हैं किन्तु वे अन्य अलंकारवादी आचार्यों की तरह रसविमुख नहीं हैं। काव्यालंकार की कुछ विशेषतायें इस प्रकार हैं—

(१) यद्यपि इस ग्रन्थ को काव्यालंकार नाम प्रदान करके रुद्रट ने अलंकारों को महत्त्व दिया है और कवि को अपने ग्रन्थ में अलंकारों के समावेश करने के लिए प्रेरित किया है परन्तु आकल्पान्त यशःप्राप्ति के लिए अलंकारों से देदीप्यमान काव्य में रस की उपस्थिति को भी उपयोगी माना है।[1] इस प्रकार प्रथम दो कारिकाओं में वह जहां एक ओर काव्य में अलंकारों की स्थिति पर ज़ोर देते हुए दिखाई दे रहे हैं वहां दूसरी ओर काव्य के लिए सरस विशेषण का प्रयोग करके वह रस के महत्त्व को भी स्वीकार कर रहे हैं। जहां अलंकारों के योग से कवि की कृति में दीप्ति और निर्मलता आती है वहां रस के समावेश से वह कृति युगान्तस्थायिनी हो जाती है। ऐसी रचना न केवल कवि को अमर बनाती है अपितु कविनिबद्ध नायक नायिकाओं को भी चिर जीवन प्रदान करती है।

(२) वैज्ञानिक दृष्टि से किया गया अलंकारों का वर्गीकरण प्रथम वार इसी ग्रन्थ में देखने को मिलता है। वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र की पांच शब्दालंकारों में गणना की है। अर्थालंकारों को भी वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार वर्गों में विभक्त किया हुआ है। यद्यपि उत्तर और समुच्चय जैसे अलंकार वास्तव और औपम्य दोनों वर्गों मे आ गये हैं पर उनकी परिभाषायें पृथक् पृथक् होने से यह कोई अतिव्याप्ति जैसा दोष नहीं है। वास्तव वर्ग में सहोक्ति, समुच्चय और जाति आदि २३ अलंकार हैं, औपम्य में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि २१ अलंकार हैं, अतिशय में पूर्व, विशेष, आदि २१ अलंकार हैं और श्लेष वर्ग में केवल एक श्लेष अलंकार है। इससे पूर्ववर्ती उद्भट के अलंकारसार-संग्रह में अलंकारों का वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं है।

(३) रुद्रट ने ३१ ऐसे अलंकारों के लक्षण और उदाहरण उपस्थित किये हैं जिनका उल्लेख उससे पहले के आचार्यों ने नहीं किया है। ये समुच्चय, भाव, पर्याय आदि अलंकार रुद्रट ने ही आविष्कृत किये हैं ऐसा तो नही कहा जा सकता। इनका सम्बन्ध किसी प्राचीन परम्परा से हो सकता है किन्तु इनको लिखित रूप में लक्षण और उदाहरण देकर स्पष्ट करने का श्रेय रुद्रट को ही जाता है।

---

१. काव्यालंकारो ऽयं ग्रन्थः क्रियते यथायुक्ति ॥
अस्य हि पौर्वापर्यं पर्यालोच्याचिरेण निपुणस्य ।
काव्यमलंकर्तुमलं कर्तुरुदारा मति र्भवति ॥
ज्वलदुज्ज्वलवाक्प्रसरः सरसं कुर्वन्महाकविः काव्यम् ।
स्फुटमाकल्पमनल्पं प्रतनोति यशः परस्यापि ॥ काव्या० १, २-४.

(४) शब्दश्लेष के वर्ण, पद, लिङ्ग और भाषा आदि के आधार पर आठ भेद किये हुए हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने काव्यालङ्कार के श्लेष विषयक लक्षण और उदाहरणों को अपनी कृतियों में स्थान दिया है। इसी प्रकार चक्रबन्ध, खड्ग-बन्ध आदि चित्रालङ्कारों की परम्परा का प्रवर्तन भी रुद्रट ने किया है।

(५) भामह ने काव्यालङ्कार में सभी रसों को रसवद् अलङ्कार के अन्तर्गत करके एक विकृत परम्परा का सूत्रपात कर दिया था। रुद्रट ने अपनी इस कृति में रस को जो स्वतन्त्र स्थान और गौरव प्रदान किया उसे उत्तरवर्ती ध्वनिवादी और रसवादी आचार्यों ने भी स्वीकार किया। उन्होंने काव्य के लिए रस को भी अनि-वार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया। रसिकों के लिए काव्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को तुरन्त प्रदान करता है। सरस सहृदय नीरस शास्त्रों से भयभीत होते हैं। इसलिए काव्य में रसों का समावेश अवश्य किया जाना चाहिए अन्यथा जैसे रसिक जन नीरस शास्त्रों से डरते हैं वैसे ही वे नीरस काव्यों के श्रवण, पठन और प्रेक्षण से डरेंगे।[1] इतने सशक्त शब्दों से रस की वकालत करने वाले रुद्रट की गणना रस-वादी आचार्यों में की जा सकती है। उनको अलङ्कारवादी केवल इसीलिए माना जाता है क्योंकि उन्होंने अलङ्कारों के विवेचन को विस्तार और सूक्ष्मता से किया है। वस्तुतः उन्होंने रस को भी बड़ा व्यापक और महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। केवल इन्होंने दस ही रस नहीं माने अपितु निर्वेद, ग्लानि आदि तेतीस व्याभिचारिभावों को भी परिपुष्ट दशा में रस संज्ञा प्रदान करने की सयुक्तिक सम्मति दी है।[2]

(६) भाव अलङ्कार के लक्षण में 'अप्रतिबद्ध (अनैकान्तिक) हेतु द्वारा जहाँ अभिप्राय रूप हेतुमान् (कार्य) की प्रतीति होती है वहाँ भाव अलङ्कार होता है'— ऐसा कहकर अप्रत्यक्ष रूप से व्यङ्ग्यार्थ की ओर संकेत किया है। भाव के ही दूसरे लक्षण में 'अभिधेय का कथन करने वाला वाक्य जब दूसरे अर्थ को बताता है तो वह भाव कहलाता है, प्रत्यक्ष रूप से व्यङ्ग्यार्थ की ओर इङ्गित है। उत्तरवर्ती व्यञ्जनावादी आचार्यों के लिए व्यञ्जनासिद्धान्त की स्थापना करने का यह

---

१. ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः
तस्मात् कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषां शास्त्रवदेवान्यथा। न्यक्ष हि स्यात्॥ काव्यालङ्कार १२, १-२

२. रसनाद्रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥ वही, १२, ४

मूलाधार है।[1] भाव के निम्नलिखित दोनों उदहारणों में ध्वनि की सत्ता उत्तरवर्ती मम्मट और अभिनवगुप्त ने अङ्गीकार की है—

(१) ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहु र्नितरां मलिना मुखच्छाया।।

(२) एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह—
अस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रू र्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ।।[2]

(७) काव्यालङ्कार के छठे और ग्यारहवें अध्याय में असमर्थादि पददोष, सङ्कीर्णादि वाक्यदोष तथा अपहेतु आदि अर्थदोष बताये हैं। कुछ उन दोषों की भी विवेचना की है जिन्हें प्राचीन आचार्यों ने नहीं बताया है। असमर्थ, देश्य और सङ्कीर्ण जैसे दोषों के लक्षण और उदाहरण नये ढंग से उपस्थित किये हैं।

(८) चतुर्दश और पञ्चदश अध्याय में प्रदर्शित नायिका भेदों का वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रभाव दशरूपक और साहित्यदर्पण पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। काव्यालङ्कार में गुणों की थोड़ी सी भी चर्चा नहीं की गई जबकि प्रमुख काव्यशास्त्रियों ने गुणों की न केवल काव्य में सत्ता स्वीकार की है अपितु गुणों का अङ्गी रस के साथ शाश्वत सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसी प्रकार पाञ्चाली आदि रीतियों का केवल लक्षण भर संक्षेप से दे दिया है इनके विधिवत् लक्षण और उदाहरण नहीं दिये हैं। काव्य के इन दो प्रमुख तत्त्वों की उपेक्षा अखरने वाली बात है। तथापि इस ग्रन्थ में अलङ्कार और रस सम्बन्धी महत्त्व-पूर्ण सामग्री का प्रचुर मात्रा में समावेश है। नायक नायिका से सम्बद्ध सामग्री नाट्योपयोगी है। इस कारण सर्वाङ्गीणता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का पर्याप्त महत्त्व है।

ध्वन्यालोक

भारतीय काव्यशास्त्रियों में आनन्दवर्धन एक युगान्तरकारी आचार्य हैं। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में उन्हें वही स्थान प्राप्त है जो संस्कृतव्याकरण के क्षेत्र में आचार्य पाणिनि को प्राप्त हुआ है। उनके द्वारा प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त भारतीय काव्य-

---

१. यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ।।
अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद् वाक्यं सोऽपरो भावः।।

२. (१) काव्यालङ्कार ७, ३९; काव्यप्रकाश १,
(२) काव्यालङ्कार ७, ४१; ध्वन्यालोकलोचन

शास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण केन्द्रबिन्दु है जिसकी प्रमुखता को ध्यान में रखकर काव्यशास्त्रीय आचार्यों को ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य और ध्वनिपरवर्ती आचार्य इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। आनन्दवर्धन ने अपने से प्राचीन समय की साहित्यिक मान्यताओं रस, अलङ्कार, रीति आदि का विवेचन करते हुए उन्हें अपने ध्वनिसिद्धान्त में समुचित स्थान दिया है। आनन्दवर्धन से पूर्व भी ध्वनि शब्द का उल्लेख आचार्य करते रहे थे[1] परन्तु एक सिद्धान्त रूप में ध्वनि की प्रतिष्ठापना आनन्दवर्धन ने ही की। परवर्ती आचार्यों अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचंद्र विश्वनाथ आदि ने आनन्दवर्धन के मार्ग का प्रतिपादन कर इस सिद्धान्त का अन्तिम रूप से प्रतिष्ठित किया।

आनन्दवर्धन के काल के विषय में निश्चित प्रमाण उपलब्ध हैं। कल्हण की राजतरङ्गिणी में अवन्तिवर्मा के साम्राज्य में रहने वाले चार प्रमुख कवियों मुक्ताकण, शिवस्वामी, रत्नाकर और आनन्दवर्धन का उल्लेख मिलता है।[2] कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा का शासनकाल ८५५ ई० से ८८३ ई० निर्धारित किया गया है। आनन्दवर्धन का समय भी यही माना जा सकता है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट का उल्लेख किया है। उद्भट का समय ८०० ई० के लगभग है अतः आनन्दवर्धन ८०० ई० के बाद ही हो सकते हैं। राजशेखर ने आनन्दवर्धन की प्रशंसा की है। राजशेखर का समय ८८० ई० से ९२० ई० का है अतः आनन्दवर्धन इस समय से पूर्व रहे होंगे। न्यायमंजरी के लेखक जयन्तभट्ट ने आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की आलोचना की है। जयन्तभट्ट कश्मीर के राजा शङ्करवर्मा (८८३ ई० से ९०२ ई०) का समकालीन था अतः आनन्दवर्धन उससे कुछ समय पूर्व हुए होंगे।

आनन्दवर्धन की कृतियां

ध्वनिसिद्धान्त के प्रमुख ग्रन्थ ध्वन्यालोक के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने तीन काव्य देवीशतक, विषमबाणलीला तथा अर्जुनचरित लिखे थे। इनमें से केवल एक काव्य देवीशतक ही उपलब्ध होता है। भगवती दुर्गा की स्तुति में रचित इस काव्य में शब्दालङ्कारों की भरमार है। स्वयं यमकादि अलङ्कारों को रस में विघ्न उत्पन्न करने वाले मानते हुए भी उन्होंने अपने इस काव्य में उनका निबन्धन किया, यह बात उनकी आलोचना का कारण बनी। महिमभट्ट ने उन पर यह आक्षेप लगाया कि जो स्वयं अपनी कृतियों में संयम नहीं रख सका उसे दूसरों को उपदेश देने का

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः. ध्वन्यालोक १. १.

२. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ राजत. ५. ३४

क्या अधिकार हो सकता है ?[१] प्रतीत होता है कि देवीशतक आनन्दवर्धन की प्रारम्भिक रचना रही होगी जब उन्होंने ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठापना नहीं की थी। विषमबाणलीला तथा अर्जुनचरित का उल्लेख ध्वन्यालोक में मिलता है। काव्यों के अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने दो दर्शनग्रन्थ तत्त्वालोक तथा बौद्धग्रन्थ प्रमाणविनिश्चय की धर्मोत्तरकृत धर्मोत्तमाटीका पर टीका भी लिखी थी। ये दोनों ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। आनन्दवर्धन की कीर्ति का मुख्य आधार उनकी विद्वत्तापूर्ण अमूल्य कृति ध्वन्यालोक है। ध्वन्यालोक के तीन प्रमुख भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। वृत्ति और उदाहरण तो स्पष्टतया एक ही लेखक की रचना प्रतीत होते हैं परन्तु अभिनवगुप्त की ध्वन्यालोक पर लिखी लोचन टीका के कुछ अंशों के आधार पर डॉ० पी० वी० काणे[२] तथा डॉ० एस० के० डे० ने यह प्रतिपादित किया है कि लोचनकार अभिनवगुप्त वृत्ति के रचयिता तो आनन्दवर्धन को मानते हैं परन्तु उनके अनुसार कारिकाकार भिन्न व्यक्ति हैं। अभिधावृत्तमातृका के रचयिता मुकुलभट्ट के अनुसार ध्वनि के सिद्धान्त का प्रवर्तन सहृदय ने किया था। हो सकता है कि यही सहृदय कारिकाओं के रचयिता हों। डॉ० शंकरन्, श्री सातकड़ी मुखर्जी तथा डॉ० कृष्णमूर्ति कारिकाकार तथा वृत्तिकार दोनों को अभिन्न मानते हैं। दोनों पक्षों की युक्तियां सबल हैं और उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर अभी अन्तिम निर्णय पर पहुंचना कठिन है। यदि यह मान भी लिया जाये कि कारिकाकार आनन्दवर्धन से पूर्व कोई अन्य आचार्य थे तो भी ध्वनिसिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय आनन्दवर्धन को ही जाता है।

ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। काव्यमाला के प्रथम संस्करण में १२६ कारिकायें हैं परन्तु डॉ० नगेन्द्र सम्पादित ज्ञानमण्डल के संस्करण में ११७ कारिकायें हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनिकार ने तीन प्रकार के ध्वनिविरोधियों—अभाववादी, लक्षणावादी और अलक्षणीयतावादी—के मतों का खण्डन करके ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट किया है। अभाववादियों का तर्क यह है कि अलंकार, रीति, गुण आदि काव्यतत्त्वों की स्वीकृति होते हुए ध्वनिनामक तत्त्व की आवश्यकता ही नहीं है। आनन्दवर्धन ने शब्दार्थ पर आश्रित अलंकार का व्यंग्यव्यञ्जक भाव पर आश्रित ध्वनि से भेद बताते हुए यह सिद्ध किया है कि ध्वनि का अलंकारों में अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता। समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदि अलंकारों में व्यंग्यार्थ

१. स्वकृतिष्वनियन्त्रितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम् वारयति भिषगपथ्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत्। व्यक्तिवि.
२. संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास (इन्द्रचन्द्रशास्त्री का हिन्दी अनुवाद) पृ० २०६-२४६

की प्रतीति होने पर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होने से वे अलंकार ही कहे जायेंगे, ध्वनि नहीं। यदि ध्वनि का प्राधान्य विवक्षित हो तो वहां अलंकार का अन्तर्भाव ध्वनि में किया जायेगा। ध्वनि अंगी है, उसका अन्तर्भाव अंगभूत अलंकार में नहीं हो सकता। अलंकार, गुण, वृत्तियां ध्वनि के अंग हैं।[1] अभाववादियों की—ध्वनि अभिधा के अन्तर्गत ही आ जाती है, इस युक्ति का यह उत्तर दिया गया है कि ध्वनि के दोनों प्रमुख भेदों का अभिधा में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अविवक्षितवाच्यध्वनि तो अभिधा के विफल हो जाने पर लक्षणा के सामर्थ्य से उपस्थित होती है तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में लक्षणा बीच में आती ही नहीं। दोनों भेद अभिधा से बहिर्गत हैं। रसादि कहीं भी वाच्य नहीं होते अतः उनकी प्रतीति अभिधा की सामर्थ्य से बाहर है।

लक्षणावादियों का कहना है कि व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ का ही एक रूप है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि को लक्षणागम्य न मानकर एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। लक्षणा वहां होती है जहां मुख्यार्थबाध हो, मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति हो या रूढ़ि या प्रयोजन हो। गङ्गायां घोषः 'गंगा पर घर' इस वाक्य में गङ्गा का प्रवाह रूप अर्थ तट को ही लक्षित कर सकता है, सड़क को नहीं क्योंकि प्रवाह का तट के साथ ही नियत सम्बन्ध है। व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ के साथ नियत सम्बन्ध आवश्यक नहीं। प्रयोजनवती लक्षणा में लक्षणा का प्रयोग किसी प्रयोजन से यथा 'गङ्गा पर घर' में शीतलता तथा पवित्रता जतलाने को किया जाता है। यह प्रयोजन व्यंग्य है। यदि शीतलता तथा पवित्रता प्रयोजन को व्यंग्यार्थ के स्थान पर लक्ष्यार्थ मानें तो गंगातट को वाच्यार्थ मानना होगा जो गंगा का वाच्यार्थ नहीं है। यदि गंगातट को वाच्यार्थ मान भी लें तो फिर मुख्यार्थबाध नहीं होगा क्योंकि गंगातट पर घर बनाया जा सकता है। इस प्रकार गंगा शब्द का शीतलता तथा पवित्रता अर्थ न तो अभिधा का विषय हो सकता है और न लक्षणा का।

अलक्षणीयतावादी ध्वनि को अनिर्वचनीय मानते हैं परन्तु आनन्दवर्धन का उत्तर है कि जब मैंने इस ग्रन्थ में इस तत्त्व का विवेचन कर दिया है तो अब इसे अनिर्वचनीय कहना समुचित नहीं।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार दी है—

'जहां (वाच्य) अर्थ और (वाचक) शब्द अपने अपने अस्तित्व को गौण बनाकर

---

१. यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः। तस्य पुनरङ्गानि अलंकाराः गुणा वृत्तयश्च। ध्वन्यालोक १,१३ वृत्ति

जिस (विशिष्ट) अर्थ को प्रकट करते हैं वह (अर्थ) ध्वनि है।'[1] दो उदाहरणों द्वारा ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं—'प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध अवयवों (मुखनेत्रादि) से भिन्न उनके लावण्य के समान महाकवियों की सूक्तियों में अलग ही भासित होता है।'[2]

"जिस प्रकार प्रकाश की इच्छा करने वाले को दीपशिखा की अपेक्षा रहती है उसी प्रकार ध्वनि के लिए शब्दार्थ की अपेक्षा होती है।"[3]

इस प्रकार आनन्दवर्धन ध्वनि को शब्दार्थ से भिन्न तत्त्व मानते हैं। शब्दार्थ साधन है तथा ध्वनि साध्य है। यही काव्य की आत्मा है। ध्वनि के तीन भेद हैं—वस्तु, अलङ्कार तथा रस और इन तीनों के भी अनेक उपभेद हैं। ध्वनि में वाच्यार्थ भी अभिप्रेत है या नहीं, इस दृष्टि से ध्वनि दो प्रकार की होती है—अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूला) जहां वाच्यार्थ का बोध विवक्षित नहीं होता, तथा विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूला) जहां वाच्यार्थ प्रतीत होने पर भी स्वयं गौण होकर किसी अन्य अर्थ का बोध कराता है।

द्वितीय उद्योत में व्यंग्यार्थ की दृष्टि से अविवक्षितवाच्य के दो भेद किये हैं—

१. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य—इसमें मुख्यार्थबाध कुछ अंशों में ही होता है अतः अर्थ मिलते जुलते विशिष्ट अर्थ में संक्रमित हो जाता है—रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि में दूसरे कमलानि शब्द का अर्थ 'अतिशय सुन्दर' इस अर्थ में संक्रमित हुआ है।

२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य—इसमें मुख्यार्थबाध पूरे अंशों में होने से, नवीन अर्थ लाया जाता है। 'निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' में अन्ध शब्द का वाच्यार्थ 'नेत्रहीन' चेतन के साथ प्रयुक्त हो सकता है जड़ शीशे के साथ नहीं, अतः यह पूर्णतया बाधित होकर तिरस्कृत हुआ है तथा मालिन्यातिशय व्यंग्यार्थ को प्रकट कर रहा है।

विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो भेद हैं—

१. असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य—जहां व्यंग्य का क्रम लक्षित नहीं होता जैसे रस भावादि में। इसके अनन्त भेद हो सकते हैं।

२. संलक्ष्यक्रमव्यंग्य—जिसमें व्यंग्य का क्रम लक्षित होता है जैसे वस्तुध्वनि

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥ ध्वन्यालोक, १.१३

२. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ वही, १.४

३. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः॥ वही, १.९

तथा अलंकारध्वनि में। वस्तुध्वनि या अलंकारध्वनि शब्द की शक्ति से उत्पन्न है या अर्थ की शक्ति से या शब्द और अर्थ दोनों की शक्ति से, इस आधार पर संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के तीन भेद हैं—शब्दोत्थ, अर्थोत्थ तथा उभयोत्थ।

रसवदादि अलंकार और रसध्वनि का भेद स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि जहां शब्द, अर्थ, अलंकारादि रसादि के अङ्ग होते है वहां तो ध्वनि का ही विषय है परन्तु जहां वाच्यार्थ मुख्य होता है और रस भावादि उसके अंगरूप होते हैं वहां रसादि (रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित) अलंकार होते हैं। इसी उद्योत में गुण और अलंकारों में परस्पर भेद बताया गया है। अङ्गी रस के आश्रित रहने वाले माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण हैं तथा अंग रूप शब्द और अर्थ के आश्रित रहने वाले अलंकार हैं। आनन्दवर्धन का मत है कि शृंगार रस में अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों का प्रयोग उचित नहीं होता। वस्तुतः अनायाससाध्य अलंकार ही रस के अंग होते हैं। जबर्दस्ती भरे हुए अलंकार तो रसाभिव्यक्ति में बाधा उपस्थित करते हैं। शब्दशक्तिमूलध्वनि तथा श्लेष अलंकार का अन्तर बताते हुए कहा है कि शब्दशक्तिमूल ध्वनि में शब्दों के द्वारा अलंकार व्यंग्य होता है वाच्य नहीं होता जब कि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य होते हैं।

तृतीय उद्योत में व्यंजक की दृष्टि से ध्वनि के भेदों उपभेदों की चर्चा की गई है। अविवक्षितवाच्य (लक्षणा मूल) के दो भेद हैं—पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य। विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) के संलक्ष्यक्रमव्यंग्य भेद के भी पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य यही दोनों प्रकार हैं। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के चार प्रकार हैं—

१. वर्णपदादि आश्रित, २. वाक्याश्रित, ३. संघटनाश्रित तथा ४. प्रबन्धाश्रित। ध्वनिकार ने रीति को संघटना नाम देते हुए कहा है कि यह गुणों पर आश्रित रह कर रसों को अभिव्यक्त करती है। उनकी दृष्टि में यह एक बाह्य तत्त्व मात्र है जिसका प्रयोजन रसों की अभिव्यक्ति में अप्रत्यक्ष रूप से गुणों के माध्यम से सहयोग देना है। यह तीन प्रकार की होती है—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। रीति को काव्य की आत्मा स्वीकारने वाले आचार्य (वामन) का खण्डन करते हुए कहा है कि जो लोग अस्फुट रूप से प्रतीत होने वाले इस काव्य तत्त्व (ध्वनि) की व्याख्या नहीं कर सके उन्होंने रीतियों का प्रवर्तन किया है। संघटना के विभिन्न प्रकारों का प्रयोग वक्ता, वाच्य, विषय तथा रस को ध्यान में रखकर तदनुरूप करना चाहिए।

ध्वनि के तारतम्य के अनुरूप ध्वनिकार ने काव्य के तीन भेद माने हैं—ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्यकाव्य तथा चित्रकाव्य। यदि व्यंग्य प्रधान होता है तो ध्वनि

१. गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्— ध्वन्यालोक ३.६

नामक उत्तम काव्य माना जाता है। यदि व्यंग्य प्रधान न रहकर गौण हो जाता है तो गुणीभूतव्यंग्य नामक मध्यम काव्य स्वीकार किया जाता है। यदि व्यंग्य का संस्पर्श न हो तो उसे चित्रकाव्य कहते हैं। इस तृतीय कोटि के काव्य में रसभावादि की विवक्षा के अभाव में केवल अलंकारों का निबन्धन होता है। अलंकारों के शब्द-गत तथा अर्थगत दो प्रकार होने से चित्रकाव्य भी दो प्रकार का शब्दचित्र तथा अर्थचित्र स्वीकार किया गया है।[1] ध्वनिकार ने दो प्रकार की वृत्तियों का विवेचन भी किया है जिनका नियोजन रस के अनुरूप करना चाहिए।

चतुर्थ उद्योत में आनन्दवर्धन ने प्रतिभा के आनन्त्य का वर्णन किया है। साधारण वस्तु भी कवि की प्रतिभा से अपूर्व नवीन रूप धारण कर लेती है। अक्षर, पद तो वही हैं। वाचस्पति भी नवीन अक्षरों अथवा पदों की रचना नहीं कर सकते। वे ही अक्षर नवीन कविता में नवीनता का आधान करते हैं। उसी प्रकार पदार्थरूप या श्लेषादिमय अर्थ तत्त्व भी नये नहीं बनाये जाते, कवि की नयी कल्पना ही उन्हें नया रूप दे देती है।[2] कवियों के काव्यों में साम्य तीन प्रकार का हो सकता है—बिम्ब प्रतिबिम्ब के समान, वस्तु तथा उसके चित्र के समान, तथा परस्पर दो मनुष्यों के समान। इनमें तृतीय प्रकार का साम्य ही आकर्षक होता है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मा ध्वनि का तथा सभी काव्याङ्गों का विशद विवेचन ध्वन्यालोक में प्रस्तुत किया है। उन्होंने रस को ध्वनि का एक भेद मानते हुए भी रसध्वनि को ध्वनि का सर्वोत्कृष्ट रूप बताया है। उनकी धारणा है कि व्यंग्यव्यञ्जक भाव के अनेक भेदों के होने पर भी कवि को केवल रसा-दिमय ध्वनिकाव्य में ही अवधानवान् होना चाहिए। उनसे पूर्व के आचार्य अलंकार या रीति सम्प्रदाय में आस्था रखते थे और रससम्प्रदाय के अनुयायी भरतनाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का आंख मींचकर अनुकरण करते थे परन्तु आनन्दवर्धन ने रूढ़ियों को तोड़कर बड़े निर्भीक शब्दों में ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध किया है। ध्वनि तत्त्व रस तत्त्व की अपेक्षा अधिक व्यापक है तथा असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक अपने भेद के माध्यम से रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भाव-सन्धि, भावशबलता और भावशान्ति को अपने भीतर समेट लेता है। गुण और रीतियां भी रसध्वनि से सम्बद्ध हैं। अलंकारों में भी ध्वनितत्त्व अस्फुट रूप में

---

१. गुणप्रधानभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्
तत्र किंचिच्छब्दचित्रमर्थचित्रमतः परम् ॥ ध्वन्यालोक, ३. ४२-४३

२. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥ वही, ४. ४.

रहता है। इसीलिए ध्वनिकार ने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना है। उनका ध्वनिसिद्धान्त भारतीय साहित्यशास्त्र के चिन्तन का चरमोत्कर्ष है। काव्यशास्त्र रूपी पर्वतशृंखला का यह ऐसा अन्तिम सर्वोच्च शिखर है जिसकी तुलना में अन्य सिद्धान्तशिखर बहुत छोटे दिखाई देते हैं।

भरतनाट्यशास्त्र की टीकायें

शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या करने वाले पांच टीकाकारों लोल्लट, उद्भट, शङ्कुक, अभिनवगुप्त तथा कीर्तिधर का उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती टीका में मातृगुप्त, भट्टनायक, भट्टतौत, भट्टयन्त्र, भट्टवृद्धि, भट्टसुमनास, भट्टगोपाल, भट्टशंकर, घंटक, राहुल आदि आचार्यों का उल्लेख किया है जिन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र के कई भागों पर टीकायें लिखी होंगी। यद्यपि निश्चित रूप से कहना कठिन है कि ये आचार्य कश्मीरी थे या नहीं परन्तु नामों से ये कश्मीरी ही प्रतीत होते हैं। भट्टतौत को अभिनवगुप्त ने अपना गुरु कहा है।

भट्टलोल्लट की टीका

अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने कई प्रसङ्गों में लोल्लट के मत का उल्लेख किया है। छठे अध्याय में रसविवेचन प्रसङ्ग में यह कहा गया है कि लोल्लट ने उद्भट के मत को स्वीकार नहीं किया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लोल्लट उद्भट के समकालीन थे या उनके परवर्ती थे। उद्भट की तिथि लगभग ८०० ई० है अतः लोल्लट को भी नवम शताब्दी के प्रारम्भ में रखा जा सकता है। रससिद्धान्त के विषय में लोल्लट का मत शङ्कुक के मत के विरुद्ध है। परम्परागत धारणा यही है कि वे शङ्कुक से पूर्ववर्ती हैं। माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाशसंकेत नामक टीका में कहा है कि पर्वत के समान उच्च लोल्लट भी जिसकी गहराई को नहीं जान सका उस रस समुद्र की गहराई को शङ्कुक कैसे जान सकता है?

अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के अनेक अध्यायों यथा छठे, बारहवें, तेरहवें, अठारहवें तथा इक्कीसवें अध्याय में लोल्लट के मत का उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि लोल्लट ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी।

भरत के रससूत्र पर लोल्लट की व्याख्या अभिनवगुप्त तथा मम्मट द्वारा अपने अपने शब्दों में उल्लिखित है। उससे लोल्लट का रसविषयक दृष्टिकोण इस प्रकार दिखाई देता है—

१. रस अनुकार्य (रामादि) में उत्पन्न होता है। यह विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारिभावों के द्वारा उद्बुद्ध तथा पुष्ट हुए आश्रय के स्थायिभावों की एक विशेष स्थिति है। स्थायिभाव और रस में कोई भेद नहीं है। अनुपचित

अवस्था में जो स्थायिभाव है वही उपचित अवस्था में रस है।

२. नट नटी आदि में भी अपने में राम सीता आदि का अनुसन्धान कर लेने से रस उत्पन्न हो जाता है।

३. सामाजिकों में रस उत्पन्न नहीं होता। वे भी तद्रूपतानुसंधान से नटगत रूप में रस की प्रतीति कर आनन्द अनुभव करते हैं। वे नाट्यभावों का ग्रहण बाहर से ही करते हैं।

रसों की संख्या के बारे में लोल्लट का मत है कि रसों की संख्या सीमित नहीं है।

शङ्कुक के मत के विरुद्ध लोल्लट नाटिका को षट्पदा मानते हैं अष्टपदा नहीं। ध्रुवताल (अ० भा० १२. १४) कक्ष्या (१३. १) तथा अनुसन्धि (२१. २९) के विषय में भी अभिनवगुप्त ने लोल्लट का मत दिया है। लोल्लट अपने तर्कों को पूर्वमीमांसा के आधार पर देते हैं। पूना में आनन्दाश्रम संग्रहालय में लोल्लटाचार्यकृत श्राद्धप्रकरण नामक एक ग्रन्थ है परन्तु यह निश्चित नहीं कि यह लोल्लट रसमीमांसक लोल्लट हैं या कोई अन्य हैं।

श्रीशङ्कुक की टीका

श्रीशङ्कुक लोल्लट के समकालीन या उनके कुछ समय बाद हुए होंगे क्योंकि उन्होंने लोल्लटकृत रसविवेचन पर कई आपत्तियां उठाई हैं। कल्हण ने राजतरंगिणी में शङ्कुक नामक एक कवि का तथा उनके काव्य भुवनाभ्युदय का उल्लेख किया है। यह शङ्कुक कवि कश्मीर के राजा अजितापीड़ के समय में हुए जिनका समय ८१६ ई० है। यदि कवि तथा टीकाकार शङ्कुक एक ही व्यक्ति हों तो उनका काल नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में भरत के नाट्यशास्त्र के कई अध्यायों की सामग्री पर शंकुक के विचारों का उल्लेख किया है जिससे प्रतीत होता है कि कि शंकुक ने सम्भवतः पूरे नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी होगी। रंगपीठ (अध्याय तीसरा), रससूत्र (छठा अध्याय), नाटक नाटिका (अठारहवां अध्याय), प्रति-मुखसन्धि, विमर्शसन्धि (इक्कीसवां अध्याय), आदि अनेक विषयों पर शंकुक के विचार अभिनवभारती में उपलब्ध होते हैं। परन्तु शङ्कुक की प्रसिद्धि रससूत्र के व्याख्याता के रूप में है। लोल्लट की व्याख्या का खण्डन करते हुए उनके मत को अभिनवभारती में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

(भट्टलोल्लट का) यह मत ठीक नहीं है। भट्टलोल्लट ने जो विभावादि के योग के अभाव में अनुपचित स्थायिभाव और उनके योग में उपचित स्थायी भाव की बात रखी है उस पर ये कई आक्षेप हो सकते हैं—

१. जब विभावादि का योग ही नहीं है तो प्रमाणाभाव में स्थायी का बोध भी

असम्भव है। क्योंकि जब तक स्थायिभाव विभावादियों से संयुक्त नहीं होगा तब तक उसका कोई ज्ञापक नहीं होगा। ज्ञापक के अभाव में उसका ज्ञान नहीं हो सकता। विभावादियों से संयुक्त होने की अवस्था में ज्ञान होगा तो उपचित रस का होगा, अनुपचित स्थायिभाव का नहीं।

२. यदि मान लिया जाये कि स्थायिभाव आप ही उत्पन्न होते हैं तो नाट्यशास्त्र में स्थायिभावों का उद्देश्य, लक्षणादि का विधान पहले होना चाहिए था जो नहीं हैं।

३. यदि विभावादि के बिना स्थायिभाव की स्थिति मान ली जाये तो भरतकृत विभावानुभाव० रसलक्षण पर व्यर्थत्व दोष आ जाता है।

४. एक ही भाव अनुपचित अवस्था में स्थायी और उपचित अवस्था में रस होता है यह मानने पर रसों को भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम या उत्तम, मध्यम, अधम आदि मानना पड़ेगा जो अखण्ड और पूर्ण रस के लिए अनुचित है।

५. उपचित स्थायिभाव को ही रस मानने पर हास नामक स्थायी भाव के हास्यरूप रस के स्मित आदि छः प्रकार सिद्ध नहीं होंगे। इसी प्रकार रति स्थायी भाव के भीतर काम की दश अवस्थाओं के आधार पर श्रृंगार रस में अनेक अनुचित भेद स्वीकार करने होंगे।

६. स्थायिभाव का उपचय ही रस होता है इस कथन का उलट भी देखने में आता है: शोक जैसे भाव में तीव्रता ही नहीं बाद में मन्दता भी रसपरिणामी होती है। इसी प्रकार क्रोध, उत्साह आदि भावों के विषय में उपचय के स्थान में ह्रास भी होता है।

इस प्रकार लोल्लट के मत का खण्डन करके शङ्कुक ने जो अपना मत प्रस्तुत किया है, उसे भी अभिनवभारती में इस प्रकार दिया गया है—

विभावरूप हेतु, अनुभावादि कार्य तथा सहचारिरूप व्यभिचारिभाव जो अभिनेता द्वारा प्रयत्नरूप से सम्पादित किए जाने के कारण कृत्रिम होते हुए भी अकृत्रिम प्रतीत होते हैं, प्रमाण (लिङ्ग) रूप से अभिनेता के भीतर स्थायी भाव की अनुमिति (प्रतीति) दर्शकों को कराते हैं। यह स्थायी भाव मुख्य रामादिगत स्थायी भाव का (अभिनेता के द्वारा) अनुकृत रूप होता है और अभिनेता में वस्तुतः न

---

१. एतन्नेतिशंकुकः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गभावेनावगत्यनुपपत्तेर्भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसङ्गात्, स्थितिदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभावप्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसंख्यरसभावादिप्रसङ्गात् शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तनुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च।—नाट्यशास्त्र, ६.३१ (रससूत्र पर अभिनवभारती),

रहते हुए भी विभावादि के कारण वहां अनुमित किया जाता है तथा काव्यरस कहलाता है।

भट्टशंकुक ने भट्टलोल्लट के मत की आलोचना में जो तर्क दिये हैं वे अकाट्य नहीं हैं। इसी प्रकार शंकुक के मत की आलोचना करने वाले परवर्ती रसवादी और व्यंजनावादी आचार्यों ने भी शंकुक के साथ न्याय नहीं किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोल्लट और शंकुक दोनों का रससिद्धान्त के विकास में पर्याप्त योगदान है। भरत के रससूत्र की व्याख्या के भिन्न चार महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को ध्यान में रखकर इन दोनों आचार्यों के विचारभेद को समझा जा सकता है—

१. स्थायिभाव और रस की स्थिति कहां है? ऐतिहासिक पात्र रामादि में या अनुकर्ता नट में या सामाजिक में?

२. निष्पत्ति का अर्थ क्या है?

३. संयोगात् का अर्थ क्या है?

४. रस का रूप क्या है?

भट्टलोल्लट तथा भट्टशंकुक दोनों स्थायिभाव की मुख्य स्थिति अनुकार्य रामादि में मानते हैं। दोनों ही विभावादि का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी अनुकार्य में मानते हैं। उसके बाद की रसप्रक्रिया में थोड़ा अन्तर यह है कि जहां लोल्लट के अनुसार रस आदि से अन्त तक अनुकार्य में ही रहता है परन्तु अभिनेता के नाट्य-नैपुण्य से सामाजिक अभिनेता में रसप्रतीति का आरोप कर लेता है वहां शंकुक के मतानुसार अनुकार्य के भीतर रहने वाले स्थायी भाव की अनुमिति अभिनेता में सामाजिक द्वारा की जाती है। मूलतः अनुकार्य से सम्बद्ध विभावादि चित्रतुरग-न्याय से अनुकर्ता से सम्बद्ध मान लिए जाते हैं। इस प्रकार अभिनेता अनुमिति का विषय और अनुमाता सामाजिक अनुमिति का आश्रय होता है। भट्टलोल्लट की रसप्रक्रिया में सामाजिक तटस्थ भाव से लौकिक रस की प्रतीति अभिनेता में करता है परन्तु शंकुक की रसप्रक्रिया में रसानुमिति के रूप में रसनिष्पत्ति की स्थिति अनुमाता सामाजिक में होती है।

भट्टलोल्लट की दृष्टि में रसनिष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति, अभिव्यक्ति तथा पुष्टि का मिश्रण है जो उत्पत्ति रूप अर्थ में समेट लिया जाता है। शंकुक के यहां रस-निष्पत्ति का अर्थ रसानुमिति है।

---

१. तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।
नाट्यशास्त्र ६, ३१ (अभि० भा०)

संयोगात् का अर्थ लोल्लट के अनुसार विभाव और स्थायिभाव के मध्य उत्पाद्योत्पादकभाव सम्बन्ध, अनुभाव और स्थायिभाव के मध्य गम्यगमक-भाव सम्बन्ध तथा संचारिभाव और स्थायिभाव के मध्य पोष्यपोषकभाव सम्बन्ध है जबकि शंकुक के अनुसार संयोगात् का अर्थ अनुमाप्यानुमापकभाव सम्बन्ध है। भट्टलोल्लट के अनुसार रस अनुकार्य के भीतर निष्पन्न लौकिक रस की आरोपित प्रतीति है जो सामाजिक आत्मभाव से नहीं अपितु तटस्थ भाव से करता है परन्तु शंकुक के अनुसार रस अनुमिति ज्ञान है जो सामाजिक अपनी वासना से अपने ही भीतर चर्वित करता है।

भट्टनायक की टीका

भरत के रससूत्र के चार प्रसिद्ध व्याख्याताओं में भट्टनायक का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया है तथा अभिनवगुप्त ने इनके रसविषयक मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय आनन्दवर्धन (८५५ ई० ८८३ ई०) के पश्चात् तथा अभिनवगुप्त (दसवी शती ई० का उत्तरार्ध) से पूर्व होना चाहिए। कल्हण की राजतरंगिणी में किन्हीं भट्टनायक का उल्लेख है जो शंकरवर्मन् (८८३ ई० ९०२ ई०) के समय में हुए।[1] यदि वह भट्टनायक यही काव्यशास्त्री हैं तो उनका समय आनन्दवर्धन के कुछ समय बाद ही रखना होगा। पी० वी० काणे के अनुसार वे दोनों भिन्न रहे होंगे परन्तु मेरे विचार में उनकी भिन्नता के विषय में कोई प्रमाण न होने से उन्हें अभिन्न मानना ही समुचित है।

भट्टनायक ने हृदयदर्पण अथवा सहृदयदर्पण नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी। यह भी संभव है कि हृदयदर्पण भरत के नाट्यशास्त्र पर लिखित उनकी टीका का ही नाम हो। हृदयदर्पण के उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ पद्यमय था। टीकाग्रन्थ प्रायः गद्य में होते हैं। महिमभट्ट के एक अज्ञात टीकाकार ने यह कहा है कि व्यक्तिविवेक के समान ही हृदयदर्पण भी आनन्द-वर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करने को रचा गया था।[2] जब तक यह ग्रन्थ हृदयदर्पण उपलब्ध नहीं होता तब तक भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से जानना कठिन है परन्तु फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर उनकी निम्नलिखित मान्यतायें स्पष्ट हैं—

१. ध्वन्यालोक की लोचन टीका में उद्धृत पद्यों के आधार पर पता चलता

---

१. द्विजस्तयोर्नायकाख्यो गौरीशसुरसद्मनि
चातुर्विद्यकृतस्तेन वाग्देवीकुलमन्दिरम् ॥ कल्हण राजत० ५.५९

२. दर्पणः हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंस ग्रन्थोऽपि । व्यक्तिवि० टीका

है कि भट्टनायक ने शास्त्र तथा आख्यान का पारस्परिक अन्तर तथा काव्य का इन दोनों से अन्तर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार शास्त्र शब्दप्रधान होते हैं तथा उपदेश देते हैं। आख्यान अर्थप्रधान होते हैं तथा सूचनायें देते हैं। काव्य का आश्रय कविव्यापार है। इसमें शब्द तथा अर्थ दोनों प्रधान होते हैं।[1]

२. भट्टनायक के अनुसार ध्वनि काव्य की आत्मा नहीं। ध्वनि नाम का जो व्यंजनात्मक व्यापार कहा है, उसके सिद्ध हो जाने पर भी वह काव्य का अङ्ग हो सकता है काव्य की आत्मा नहीं।[2]

भट्टनायक रसध्वनि को स्वीकार करते हैं परन्तु वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि को नहीं। भम धम्मिअ उदाहरण पर लोचनकार ने भट्टनायक की कटु आलोचना करते हुए कहा है—'किञ्च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्'।

४. ध्वनिकार ने प्रथम उद्योत की तेरहवीं कारिका में व्यङ्क्तः द्विवचन का प्रयोग किया है। उस द्विवचन प्रयोग पर भट्टनायक के आक्षेप की आलोचना अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की है—

भट्टनायकेन यद् द्विवचनं दूषितं तद् गजनिमीलिकयैव

५. भरत के रससूत्र की व्याख्या भट्टनायक ने अपने ढंग से की है। भट्ट-लोल्लट, शंकुक तथा व्यंजनावादियों के मत का खण्डन करके उन्होंने रसभुक्ति की प्रतिष्ठापना की है। खण्डनपक्ष में वह कहते हैं—

रसकी न तो प्रतीति होती है, न उत्पत्ति होती है और न ही अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि रस की स्वगत प्रतीति मानने पर सामाजिकों के भीतर करुणरस की प्रतीति दुःखदायिनी सिद्ध होगी। स्वगतप्रतीति मानने में अनेक कठिनाइयां हैं। प्रथम तो ऐतिहासिक सीतादि विभाव अनुपस्थित हैं अतः विभाव के अभाव में रसप्रतीति कैसे होगी? फिर सीतादि को देखकर सामाजिक को अपनी प्रेयसी का स्मरण हो आए यह भी आवश्यक नहीं है। तीसरी कठिनाई है कि सीतादि में पूज्यत्वभाव होने से कान्ता का साधारणीकरण नहीं हो सकता। वीररस की स्वगतप्रतीति मान लेने पर हनुमान् के समुद्रलंघनादि कार्यों के साथ सामाजिक अपना तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता। उन उन भावों से युक्त रामादि की

---

१. शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यगीर्भवेत्।
ध्वन्यालोक लोचन

२. ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यंजनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्यांगत्वं न रूपिता॥

स्मृति भी संभव नहीं क्योंकि स्मृति तो पूर्वदृष्ट पदार्थ की होती है। शब्द या अनुमान से प्रत्यक्ष दर्शन वाली सरसता नहीं आ सकती। इसी प्रकार की कठिनाइयां रसकी उत्पत्ति मानने में हैं। रसाभिव्यक्ति मानने में यह कठिनाई है कि विषयार्जित वासना के रूप में पहले से स्थित गुप्त रसकी स्थिति माननी होगी और विषयार्जन कम अधिक मात्रा में होने से रस के भीतर भी कम अधिक का मात्रा भेद होगा जो समूहात्मक तथा अखण्डात्मक रस की धारणा के प्रतिकूल है। यह भी प्रश्न उठेगा कि रसाभिव्यक्ति स्वगत होती है या परगत।

भट्टनायक का यह खण्डनपक्ष विशेष प्रभावशाली नहीं है परन्तु उनके मण्डन पक्ष में रससिद्धान्त के विकास के महत्त्वपूर्ण तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। वे नाट्य और काव्य में शब्द के अभिधा व्यापार के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व व्यापारों को भी मानते हैं। वाच्यार्थ की दृष्टि से शब्द में अभिधाव्यापार की स्थिति है, रस की दृष्टि से शब्द में भावकत्व अर्थात् भावनाव्यापार रहता है तथा सामाजिक की दृष्टि से भोजकत्व व्यापार रहता है। उनके मत में अभिधाव्यापार से वाच्यार्थ-बोध होने के पश्चात् भावकत्व व्यापार से विभावरूप सीतारामादि सम्बद्ध रत्यादि व्यक्तिविशेषांश के परिहार के साथ स्त्रीपुरुषसाधारण्य तथा भावसाधारण्य के रूप में उपस्थित होते हैं। इस साधारणीकृत रत्यादि को सामाजिक भोजकत्व व्यापार से भोगता है। भोगीकरण की अवस्था में सत्त्वगुण का उद्रेक होता है, सामाजिक का आत्मचैतन्यरूप लोकोत्तर आनन्द प्रकाशित होता है तथा इसी आनन्द में सामाजिक विश्रान्त अर्थात् पूर्ण ध्यानमग्न हो जाता है।[1] भट्टनायक की रससूत्र-व्याख्या में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु साधारणीकरण है। दूसरा महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु रसास्वाद व्यापार में सामाजिक की विशेष भूमिका है।

भट्टलोल्लट तथा भट्टशंकुक रस की स्थिति अनुकार्य रामादि में मानते हैं परन्तु भट्टनायक के अनुसार रस की स्थिति सामाजिक में है। स्थायिभाव की स्थिति वे सामाजिक में नहीं मानते, यही उनका अभिनवगुप्त से प्रमुख मतभेद है।[2]

---

१. तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते, इति। भरतना० ६,३१ अभिनवभारती

२. पूर्वमते (भट्टनायकमते) असत्या अपि रतेरास्वादः। अत्र (अभिनवगुप्ते) तु वासनया (सामाजिकस्य) स्थिताया एवेत्यप्यनयोर्भेद इति विवरणे स्पष्टम् काव्यप्रकाश ४,२७-२८ (बालबोधिनी टीका)

स्थायिभाव के अनुकार्यस्थित होने पर भी साधारणीकृत स्थायिभाव के अलौकिक हो जाने के कारण उसका आस्वाद प्रत्येक सामाजिक के लिए सम्भव हो जाता है।

भरतसूत्र के निष्पत्ति शब्द का अर्थ भट्टनायक 'भुक्ति' मानते हैं तथा संयोगात् का अर्थ भोज्यभोजकत्व सम्बन्ध है।

जहां तक रस के स्वरूप का प्रश्न है भावकत्व व्यापार से भाव्यमान रत्यादि तो रस का निष्पद्यमान रूप है और भोजकत्व व्यापार से भुज्यमान रत्यादि रस का निष्पन्न रूप है। रसास्वाद या रसभोग सामाजिक की आवरणमुक्त (व्यक्तिराग-द्वेष से रहित) आत्मचैतन्य के रूप में स्वात्मविश्रान्ति का आनन्द है। यह आस्वाद्य (भोग्य) और आस्वाद (भोग) का अविभाज्य सम्मिश्रण है।

भट्टनायक के दार्शनिक व्यक्तित्व के बारे में विद्वानों में मतभेद है। काव्य-प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर उन्हें सांख्यवादी कहते हैं तो कान्तिचन्द्र पाण्डेय अभिनव-भारती में उद्धृत एक पद्य के आधार पर उन्हें अद्वैत वेदान्ती मानते हैं। परन्तु अधिकतर विद्वान् उन्हें मीमांसक सिद्ध करते हैं। लोचन टीका में अभिनव-गुप्त एक स्थल पर भट्टनायक द्वारा की गई वाल्मीकि के पद्य की व्याख्या की हंसी उड़ाते हुए कहते हैं, "ऐसी अर्थकल्पना जैमिनिसूत्र में ही होती है, काव्य में नहीं।" भट्टनायक ने भावना शब्द भी मीमांसाशास्त्र से लिया है तथा रसप्रक्रिया में भावना के तीनों अंशों साध्य (रस), साधन (भावना) तथा इतिकर्तव्यता (गुणालंकारादि) का प्रयोग किया है।

अभिनवगुप्त की टीका

भरतमुनि द्वारा रचित नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में आचार्य अभिनवगुप्त का नाम सर्वप्रसिद्ध है। सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर इनकी टीका ही उपलब्ध होती है जिसे नाट्यवेदविवृत्ति तथा अभिनवभारती इन दो नामों से जाना जाता है। रस-निष्पत्तिविषयक चारों मतों में इनका मत निभ्रान्त और अन्तिम माना जाता है। इनके मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा इनकी भरतनाट्शास्त्र पर की गई अभिनवभारती टीका तथा ध्वन्यालोक पर लिखी गई लोचन टीका अधिक प्रसिद्ध हैं। कश्मीर के राजा ललितापीड के आश्रय में रहने वाले अत्रिगुप्त इनके पूर्वज थे। उसी कुल में वराहगुप्त उत्पन्न हुए। उनके पुत्र का नाम नृसिंहगुप्त था तथा नृसिंहगुप्त के पुत्र अभिनवगुप्त थे। इनकी माता का नाम विमला या विमलाकला था। इनके गुरुओं में भट्टेन्दुराज, सिद्धिचेल, भट्टतौत, शम्भुनाथ तथा लक्ष्मणगुप्त की गणना की जाती है। ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी नामक अपनी रचना का समय इन्होंने ४११५ कलि-वर्ष तथा १० लौकिक वर्ष बताया है। गणना के आधार पर यह समय १०१४ ई० है। भैरवस्तव नामक दूसरी रचना में बताये हुए रचनाकाल के अनुसार यह कृति ९९२-९९३ ई० में लिखी गई है। इस प्रकार इनका जीवनकाल दसवीं शती का

उत्तरार्ध तथा ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है। जीवन के अन्तिम काल में उन्होंने एक गुफा में प्रविष्ट होकर समाधि ले ली थी। इससे यह अनुमान होता है कि वे आजन्म ब्रह्मचारी थे। यद्यपि इन्होंने स्वतन्त्र काव्यशास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है किन्तु भरतनाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक की टीका के कारण इनका नाम न केवल कश्मीरी आचार्यों में अपितु सम्पूर्ण भारतीय आचार्यों की परम्परा में अग्रगण्य है। इनके टीका ग्रन्थों में नाट्यसिद्धांतों और ध्वनिसिद्धान्त का मर्म भलीभांति समझाया गया है। इन्होंने भैरवस्तव, कर्म-स्तोत्र और बोधपञ्चाशिका नाम के स्तोत्र लिखे हैं। ३७ आह्निकों से समन्वित तन्त्रा-लोक नामक विपुलकाय ग्रन्थ में तन्त्रविद्या बताई है। अपने गुरु लक्ष्मणगुप्त द्वारा बनाई गई ईश्वरप्रत्यभिज्ञा तथा ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति पर इन्होंने ईश्वरप्रत्य-भिज्ञाविवृतिविमर्शिनी टीका लिखी है।

भरतमुनि ने नाट्यरस अथवा काव्यरस की अनुभवप्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित सूत्र का निर्माण किया था—

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ।[1]

स्थायिभाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का संयोग होने से रस की अनुभूति होती है।

भरत मुनि के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने अपने समय में प्रचलित भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक तथा भट्टनायक के मतों को उद्धृत किया है। इन आचार्यों के लिखे हुए रसनिष्पत्ति विषयक ग्रंथ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। वे या तो अभिनवगुप्त की अभिनवभारती टीका में मिलते हैं या इनके उत्तरवर्ती आचार्य मम्मट की रचना काव्यप्रकाश में मिलते हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में पहले इन मतों को पूर्वपक्ष में रखा है और उसके बाद इनका खण्डन भी प्रस्तुत किया है किन्तु काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने अभिनवभारती टीका का आधार लेकर पहले भट्टलोल्लट तथा श्रीशंकुक का रसनिष्पत्तिविषयक मत प्रस्तुत किया है इसके बाद भट्टनायक के मत में इन दोनों मतों के खण्डन को प्रदर्शित किया है। तदनन्तर विस्तार से अभिनवगुप्त के मत को रखा है और उसको आदर पूर्वक स्वीकार किया है। इन दोनों स्थलों पर विस्तृत रूप से उपलब्ध अभिनवगुप्त की रससूत्र की व्याख्या अत्यन्त प्रामाणिक और सर्वमान्य समझी जाती है। इनके मतानुसार सामाजिक के हृदय में वासना रूप से स्थित स्थायिभाव के साथ जब शकुन्तलादि आलम्बन विभाव, उद्यानादि उद्दीपन विभाव, कटाक्ष, भुजाक्षेपादि अनुभाव और चापल्यादि व्यभिचारिभावों का व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध होता है तो सामाजिक के हृदय में शृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति होती है। अभिनवभारती

---

१. नाट्यशास्त्र ६, ३२ वृत्तिभाग

टीका की भाँति ही लोचनटीका में इन्होंने ध्वनि और रससम्बन्धी अनेक विवादास्पद विचारों को टीका द्वारा स्पष्ट किया है। कहीं कहीं यह टीका क्लिष्ट हो गई है परन्तु अधिकांश स्थलों पर इसकी शैली सरल एवं स्पष्ट है।

आचार्य अभिनवगुप्त शैव दार्शनिक थे इस कारण इस रससूत्र की व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शैव दर्शन से सहायता ली है। भरतनाट्यशास्त्र नाट्य और काव्यशास्त्र का आदि ग्रंथ है इसी प्रकार ध्वन्यालोक ध्वनिसम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इन दोनों अप्रतिमकृतियों को भारतीय नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र में अतिविशिष्ट स्थान प्राप्त कराने का प्रमुख श्रेय आचार्य अभिनवगुप्त को है। ये दोनों टीकायें इतनी सुविशद, विस्तृत एवं युक्तियुक्त हैं जिनके कारण आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र तथा आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक भारतीय आलोचना क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुए हैं। ये दोनों टीकायें मौलिक कृति सी प्रतीत होने लगती हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त का रससम्प्रदाय और ध्वनिसम्प्रदाय को महत्त्वपूर्ण योगदान है। रसनिष्पत्तिप्रक्रिया में जिस साधारणीकरण सिद्धान्त की परम्परा का प्रवर्तन इनके पूर्ववर्ती भट्टनायक ने किया था उसकी स्पष्ट रूप में व्याख्या आचार्य अभिनवगुप्त ने की है। इनके मतानुसार रसनिष्पत्तिप्रक्रिया में विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण व्यापार से कारण, कार्य और सहकारिकारण क्रमशः विभावादि बन जाते हैं। पहले इन तीनों का साधारणीकरण होता है उसके बाद स्थायिभावों का। सहृदयों में स्थायिभाव वासना या संस्कार रूप में रहते हैं और अज्ञान के आवरण से आवृत्त रहते हैं। अभिनय होने से वह आवरण हट जाता है और वह भाव व्यक्त हो जाता है। यह अभिव्यक्त स्थायिभाव रस रूप में परिणत हो जाता है। इन्होंने इस रस को अलौकिक बताने के साथ इसकी अभिव्यक्ति व्यञ्जना से मानी है और भरतसूत्र में प्रयुक्त संयोग का अर्थ व्यंग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति किया है। इस प्रकार रस और ध्वनिविषयक इनके मतों को उत्तरवर्ती आचार्यों ने मान्यता दी है।

ध्वन्यालोक की स्वलिखित लोचन टीका में इन्होंने ध्वनि के ५ अर्थ बताये हैं—१. शब्द, २. अर्थ, ३. व्यंग्यार्थ, ४. व्यञ्जनाव्यापार, ५. काव्य।[1] इस प्रकार

---

१. तेन वाच्योऽपि ध्वनिः वाचकोऽपि शब्दो ध्वनिः, द्वयोरपि व्यञ्जकत्वं ध्वनतीति कृत्वा। सम्मिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति व्यंग्योऽपि ध्वनिः, ध्वन्यते इति कृत्वा। शब्दनं शब्दः शब्दव्यापारः, न चासावभिधादिरूपः। अपित्वात्मभूतः, सोऽपि ध्वनिः। काव्यमिति व्यपदेश्यश्च योऽर्थः सोऽपि ध्वनिः उक्तप्रकारध्वनिचतुष्टयमयत्वात्। पञ्चधापि ध्वनिशब्दार्थे येन यत्र यतो यस्य यस्मै इति। ध्वन्यालोकलोचन पृ० १४१-४२

इन्होंने ध्वन्यालोक में स्थान स्थान पर आनन्दवर्धन के ध्वनि और रस सम्बन्धी विचारों को अत्यन्त स्पष्टता, सूक्ष्मता तथा गहराई से प्रतिपादित किया है जिससे आलोचकों को इन दुरूह सिद्धान्तों को समझने में कठिनाई नहीं होती है। व्याकरण और दर्शन पर आधारित अपने शास्त्रीय लक्षणों से न केवल वे अपनी बात समझाते हैं अपितु अपनी विद्वत्ता की छाप भी अध्येता के हृदय के ऊपर छोड़ते हैं।

अभिधावृत्तमातृका

शब्दशक्ति तथा वाक्यार्थप्रक्रिया पर विचार प्रस्तुत करने वाले आचार्यों में मुकुलभट्ट का विशेष स्थान है। उनकी लघुकृति अभिधावृत्तमातृका की अन्तिम कारिका से हमें सूचना मिलती है कि वे कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् भट्टकल्लट के पुत्र थे।[1] कल्हण ने राजतरंगिणी में कल्लट को अवन्तिवर्मा के समय में हुए प्रतिष्ठित विद्वान् के रूप में उल्लिखित किया है जो लोगों पर कृपा करने को संसार में अवतरित हुए।[2] शिवसूत्रों पर कल्लटकृत वृत्ति स्पन्दकारिका शैवदर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है।[3] इस विद्वान् पिता के पुत्र मुकुलभट्ट भी सभी विषयों में पारङ्गत थे। काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति के टीकाकार इन्दुराज ने मुकुलभट्ट का शिष्यत्व स्वीकार किया था। उनके अनुसार मुकुलभट्ट मीमांसाशास्त्ररूपी वर्षाकाल के लिए जलदरूप, व्याकरण-रूपी समुद्र के लिए चन्द्ररूप, तर्करूपी माणिक्य के लिए कोशरूप, साहित्यरूपी लक्ष्मी के लिए श्रीमुरारि, विद्वज्जनरूपी पुष्पों के लिए वसन्त, विष्णु के चरण-कमलों के लिए भ्रमर, सौजन्य के समुद्र तथा कीर्तिरूपी लता के आलवाल थे। यह इन्दुराज ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त के गुरु थे। अभिनवगुप्त का समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना गया है। मुकुलभट्ट का समय अभिनवगुप्त से पूर्व तथा अवन्तिवर्मा के तुरन्त बाद का होने से नवम शताब्दी का अन्त कहा जा सकता है। मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों उद्भट, कुमारिलभट्ट, भर्तृमित्र, शबरस्वामी तथा काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक का उल्लेख भी किया है।

---

१. भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता।
सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तमातृका॥ अ० वृ० मा० कारिका १५

२. अनुग्रहाय लोकानां भट्टश्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धाः भुवमवातरन्॥ राजत० ५, ६६

३. लब्धं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धोः।
स्पन्दामृतं यद् वसुगुप्तपादैः श्रीकल्लटस्तत्प्रकटीचकार॥ स्पन्दकारिका

अभिधावृत्तमातृका में मुकुलभट्ट ने शब्द की दो शक्तियों अभिधा तथा लक्षणा के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।[1] वैयाकरणों की भांति मुकुल भी शब्दसंकेत जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य इन चारों में स्वीकार करते हैं। शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्यार्थ कहलाता है। जिस प्रकार हाथ आदि शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा मुख की ओर हमारा ध्यान पहले आकृष्ट होता है उसी प्रकार जो अर्थ, प्रतीत होने वाले अन्य सभी अर्थों की अपेक्षा पहले प्रकट होता है वह मुख्यार्थ होता है।[2]

अभिधेयार्थ की प्रतीति के विषय में मुकुलभट्ट ने कुमारिलभट्ट के अभिहितान्वयवाद तथा प्रभाकर मीमांसक के अन्विताभिधानवाद की चर्चा की है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार अभिधा व्यापार के द्वारा पहले पदार्थों का बोध होता है तथा अभिहित पदार्थों का अन्वय करते हुए तात्पर्यशक्ति के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है। अन्विताभिधानवाद के अनुसार पहले से ही अन्वित पदों से अन्वित पदार्थ रूप वाक्यार्थ का बोध अभिधाव्यापार से होता है। मुकुलभट्ट ने इन दो वादों की चर्चा के अनन्तर एक तृतीय मत का उल्लेख किया है। जिसमें इन दोनों मतों का समन्वय मिलता है। इस मत के अनुसार विशिष्ट पदों की अपेक्षा से विचार करने पर अभिहितान्वय तथा वाक्य की अपेक्षा से विचार करने पर अन्विताभिधान को स्वीकार किया जाता है।[3]

चतुर्थ मत अखण्ड वाक्य से अखण्ड वाक्यार्थ की प्रतीति को स्वीकार करने वालों का है जिनके अनुसार पदों का अर्थ है ही नहीं अतः अभिधान से पूर्व या पश्चात् या समुच्चयपूर्वक अन्वय का प्रश्न ही नहीं उठता। इस चतुर्थ मत के पक्ष में लक्षणा नहीं होती (अखण्डे तु वाक्यार्थेऽसौ लक्षणा परमार्थेन नास्ति)। शेष तीन में मुकुलभट्ट ने अभिधा तथा लक्षणा की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा है कि अभिहितान्वयवाद में तो वाच्चयार्थ की प्रतीति के बाद लक्षणा होती है जबकि अन्विताभिधानवाद में वाच्यार्थ की प्रतीति से पूर्व ही लक्षणा का आश्रय लेना

---

१. अभिधावृत्तमातृका—सम्पादन एवं व्याख्या—डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी एवं इन्दु अवस्थी इन्दुप्रकाशन ८/३ रूपनगर दिल्ली।

२. शब्दव्यापाराद् यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वम्। स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्यः अर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते। अ० वृ० मा० प्रथमकारिका वृत्ति

३. अन्येषां तु मते पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः। वाक्यस्य तु परस्परान्विता पदार्था इति पदापेक्षयाभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया त्वन्विताभिधानम्। एवं चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चय इति। सातवीं कारिका तथा आठवीं कारिका पर वृत्ति।

पड़ सकता है। समुच्चयवाद को स्वीकार करने वालों को वाच्यार्थप्रतीति से पश्चात् और पूर्व दोनों अवस्थाओं में लक्षणा स्वीकार करनी होगी।

लक्षणा के विभाजन के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट का मम्मट आदि अन्य आचार्यों से थोड़ा मतभेद है। वह लक्षणा के दो भेद शुद्धा (सादृश्येतरसम्बन्ध) और सोपचारा (सादृश्यसम्बन्ध) स्वीकार करते हैं। शुद्धा के पुनः दो भेद हैं, उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा। आरोप और अध्यवसान भेद से भी शुद्धा और सोपचारा के दो दो भेद और हैं।

गौर्वाहीकः वाक्य में लक्षणा का विवेचन करते हुए मम्मट ने जिन दो पक्षों को प्रस्तुत करके उनका खण्डन किया है उनमें दूसरा आर्थ-आरोप वाला मत मुकुलभट्ट का है। इस प्रकार शब्दव्यापार के क्षेत्र में मुकुलभट्ट का विशिष्ट योगदान रहा है।

काव्यकौतुक

आचार्य भट्टतौत ने काव्यकौतुक नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ इन दिनों उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु उनके शिष्य अभिनवगुप्त तथा उत्तरवर्ती हेमचन्द्र ने अपनी कृतियों में काव्यकौतुक में वर्णित काव्यसिद्धान्तों का उपयोग किया है। इससे यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि काव्यकौतुक भट्टतौत की ही रचना थी। अपने गुरु भट्टतौत का स्मरण करते हुए अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र की टीका लिखना आरम्भ करने से पहले कहते हैं—

सद्विप्रतोतवदनोदितनाट्यवेद—
तत्त्वार्थमर्थिजनवाञ्छितसिद्धिहेतोः।
माहेश्वराभिनवगुप्तपदप्रतिष्ठः
संक्षिप्तवृत्तिविधिना विशदीकरोति ॥[1]

उत्तम ब्राह्मण आचार्यतोत से कहे गये नाट्यवेद के तात्त्विक अर्थ को जानने की अभिलाषा वाले सहृदय जनों की वाञ्छित सिद्धि को प्राप्त करने के लिए शैवमत का अनुयायी अभिनवगुप्त नामक मैं (उनका शिष्य) संक्षिप्त टीका के लिखने की विधि से स्पष्ट कर रहा हूं।

अभिनवभारती के इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिनवगुप्त आचार्य भट्टतौत के शिष्य थे। अभिनवगुप्त की साहित्य रचना का समय ९८०-१०२० ई० के मध्य में माना जाता है अतः उनके कुछ समय पहले ९५०-९८० ई० के मध्य में काव्यकौतुक की रचना होने का अनुमान किया जा सकता है। काव्य-

१. भरतनाट्यशास्त्र के प्रथमाध्याय पर अभिनवभारती टीका का चतुर्थ मंगलश्लोक।

कौतुक पर अभिनवगुप्त ने विवरण नामक टीका लिखी थी, इस बात का प्रमाण उनके द्वारा लिखी गई ध्वन्यालोक की लोचनटीका में मिलता है।[1] इनको तौत और तोत इन दोनों नामों से अभिहित किया गया है।

इस ग्रन्थ के अनुपलब्ध होने के कारण इसके प्रतिपाद्य का पता नहीं चलता है। परन्तु उत्तरवर्ती अभिनवगुप्त की ध्वन्यालोकलोचन और अभिनवभारती टीकाओं, क्षेमेन्द्रकृत औचित्यविचारचर्चा तथा हेमचन्द्र के काव्यानुशासन के उद्धरणों से इनके विशेष मन्तव्यों का ज्ञान हो जाता है। इनके कतिपय रससम्बन्धी सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. मोक्ष की प्राप्ति का साधन होने से तथा सर्वोपरि पुरुषार्थ (मोक्ष) परक होने से शान्त रस सारे रसों में प्रधानतम है।[2]

२. रस प्रीतिस्वरूप होता है, वही नाट्य है और नाट्य में ही उसकी प्रतीति होती है यह हमारे गुरु (भट्टतौत) का मत है।[3]

३. रससमूह ही नाट्य है। यह केवल नाट्य (दृश्य काव्य) में ही नहीं होता है अपितु (श्रव्य) काव्य में भी नाट्यरस जैसा ही आनन्ददायक होता है। काव्यार्थ में प्रत्यक्ष प्रतीति के उदय होने पर रसों का उदय होता है इस प्रकार हमारे उपाध्याय मानते हैं।[4]

४. काव्य में नायक, कवि और श्रोता सभी को समान रूप से रसानुभव होता है।[5]

५. जब तक नाट्य में अभिनय नहीं किया जाता तब तक काव्यरस का आस्वादन सम्भव नहीं है।[6]

---

१. ...स चायमस्मदुपाध्यायभट्टतौतेन काव्यकौतुके अस्माभिश्च तद्विवरणे बहुतरकृतनिर्णयः पूर्वपक्षसिद्धान्त इत्यलं बहुना। ध्वन्यालोक ३,२६ लोचन टीका

२. मोक्षफलत्वेन चायं परमपुरुषार्थनिष्ठत्वात् सर्वरसेभ्यः प्रधानतमः। वही, ३,२६ लोचन टीका

३. प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यं नाट्य एव च वेद इत्यस्मदुपाध्यायाः। ध्वन्यालोकलोचन पृ० १८४

४. रससमुदायो हि नाट्यम्। न नाट्य एव च रसः काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये इत्युपाध्यायाः। नाट्यशास्त्र ६, ३६ अभिनवभारती

५. नायकस्य, कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः॥
ध्वन्यालोकलोचन पृ० ३४

६. तदाह काव्यकौतुके—प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।
नाट्यशास्त्र भाग १ पृ० २९१-९२

इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त अपने गुरु भट्टतौत से बहुत प्रभावित थे। वे सभी स्थलों पर उनका स्मरण आदरपूर्वक करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत के रससूत्र की विस्तृत व्याख्या करके रसनिष्पत्तिप्रक्रिया के सिद्धान्त को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उनकी व्याख्या युक्तियुक्त एवं निर्भ्रान्त मानी जाती है। ध्वन्यालोकलोचनटीका तथा नाट्यशास्त्र की अभिनव-भारती टीका उनके गहन वैदुष्य को द्योतित करती हैं। उनके दार्शनिक और साहित्यशास्त्रीय ज्ञान का लोहा प्राचीन और अर्वाचीन सभी विद्वान् मानते हैं। ऐसे शिष्य के गुरु भट्टतौत भी बहुत बड़े विद्वान् होंगे इसका अनुमान करना कठिन कार्य नहीं।

वक्रोक्तिजीवित

कुन्तक का एकमात्र ग्रन्थ वक्रोक्तिजीवित अपूर्ण ही मिलता है। ग्रन्थ के आरम्भ में कुन्तक ने अपने विषय में कोई चर्चा नहीं की है अतः उनके कालनिर्धारण में उनके ग्रन्थ में उद्धृत कवियों अथवा आचार्यों के नामों से ही कुछ सहायता प्राप्त होती है। ध्वन्यालोक की कुछ कारिकायें वक्रोक्तिजीवित में उद्धृत हैं। राजशेखर तथा उनकी कृतियों का उल्लेख भी कुन्तक ने किया है अतः स्पष्ट है कि वह आनन्द-वर्धन तथा राजशेखर (८६०-९३० ई०) के बाद में हुए होंगे। महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में कुन्तक का उल्लेख मिलता है अतः वह महिमभट्ट (१०२०-१०५० ई०) से पूर्व हुए हैं।

वक्रोक्तिसिद्धान्त को एक स्वतन्त्र काव्यशास्त्रीय सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय कुन्तक को प्राप्त है। उनसे पूर्व भामह तथा दण्डी वक्रोक्ति का उल्लेख कर चुके थे। भामह के अनुसार वक्र अथवा नवीन अर्थ को बताने वाली उक्ति का नाम वक्रोक्ति है। यह वक्रोक्ति सभी अलंकारों का मूल है जिसके बिना किसी अलंकार की सत्ता नहीं रहती। दण्डी ने भामह की तरह वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायवाची स्वीकार करते हुए उसे लोकसीमातिवर्तिनी कहा है। वामन ने सादृश्यसम्बन्ध पर आधारित गौणी लक्षणा को वक्रोक्ति कहते हुए उसे सीमित अर्थ दे दिया है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका लोचन में वक्रोक्ति की शब्दगत तथा अर्थगत वक्रता की चर्चा की है तथा उसे सर्वालंकार-सामान्य माना है। इस पृष्ठभूमि में कुन्तक ने वक्रोक्ति की प्रधानता सभी काव्यांगों में स्थापित करने की चेष्टा की है। काव्य का लक्षण कुन्तक ने इस प्रकार दिया है—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥[1]

---

१. व. जी. १,७

वक्र कविव्यापार से युक्त, काव्य के वेत्ताओं को आह्लाद प्रदान करने वाले रचनाबंध में सुनियोजित, परस्पर सहकारी शब्द और अर्थ ही काव्य हैं। यह शब्द और अर्थ अलंकार्य शरीर हैं जिसे अलंकृत करने वाला अलंकार वक्रोक्ति है।

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥[1]

कुन्तक ने वैदग्ध्यभङ्गीभणिति को वक्रोक्ति कहा है। वैदग्ध्य का अर्थ है प्रतिभायुक्त कवि का निर्माणकौशल, भङ्गी का अर्थ है चमत्कार और भणिति का अर्थ है कथन। इसी पद्य की व्याख्या में कुन्तक ने वक्रोक्ति को प्रसिद्धाभिधानव्यति-रेकिणी विचित्रैवाभिधा अर्थात् लोकव्यवहार या शास्त्रादि में प्रसिद्ध प्रयोगों से दूर हट कर विचित्र कथनशैली कहा है। इस प्रकार कुन्तक के वक्रोक्तिलक्षण में निम्न तथ्य उभरते हैं—

१. वह शास्त्र तथा लोक व्यवहार में प्रचलित शब्दार्थ से भिन्न है अतः विचित्रता लिए होती है।

२. वह कवि की प्रतिभा से उत्पन्न चमत्कार रूप विलक्षणता से युक्त होती है।

३. वह सहृदयों के हृदयों में आह्लाद उत्पन्न करती है।

४. वह समस्त कविव्यापार—वर्ण, पद, वाक्य, प्रकरण आदि में व्याप्त रहती है।

अलंकारवादियों की तरह कुन्तक भी उक्तिवैचित्र्य को काव्य का प्रमुख तत्त्व मानते हैं परन्तु उनकी दृष्टि भाषा शैली तक ही सीमित न होकर अधिक व्यापक है। प्रकरणयोजना तथा प्रबन्धतत्त्व आदि में भी उनकी वक्रोक्ति की पहुंच है। भामह, दण्डी, उद्भट आदि अलंकारवादियों ने रसवदादि अलंकारों की कल्पना करके रस, भावादि को भी अलंकारों की कोटि में रख दिया था परन्तु कुन्तक रस को अलंकार न मानकर अलंकार्य मानते हैं तथा उनके अनुसार रसवत् अलंकार वहां होता है जहां रस के योग से कोई अलंकार विशेष चमत्कारयुक्त हो जाता है। परन्तु रस की महत्ता को स्वीकारते हुए भी उन्होंने वक्रोक्ति को ही काव्य का जीवित माना है और वक्रोक्ति के भीतर सभी काव्यांगों को समेटने की चेष्टा की है।

कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित के प्रथम उन्मेष में वक्रोक्ति के इन छः भेदों का उल्लेख किया है—

१. वर्णविन्यासवक्रता
२. पदपूर्वार्धवक्रता

---

१. व० जी० १,१०

३. पदपरार्धवक्रता
४. वाक्यवक्रता
५. प्रकरणवक्रता
६. प्रबन्धवक्रता।

प्रथम उन्मेष से तीसरे उन्मेष तक की उपलब्ध सामग्री में वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता तथा वाक्यवक्रता का विस्तार से विवेचन किया गया है। चतुर्थ उन्मेष की खण्डित सामग्री प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता का यत्किंचित् विवरण प्रस्तुत करती है।

वर्णविन्यासवक्रता के छः उपभेद बताए हैं।

१. एक वर्ण की थोड़े थोड़े अन्तर से आवृत्ति
२. दो वर्णों की थोड़े थोड़े अन्तर से आवृत्ति
३. दो से अधिक वर्णों की थोड़े थोड़े अन्तर से आवृत्ति
४. वर्गान्तियुक्त स्पर्शों जैसे ङ्क ञ्च ण्ट न्त, म्ब की आवृत्ति
५. त् न् ल् के द्वित्व रूप त्त न्न ल्ल।
६. रकारयुक्त शेष स्पर्शवर्णों की आवृत्ति।

इस प्रकार कुन्तकसम्मत वर्णविन्यासवक्रता में अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकार तथा वर्णाधारित उपनागरिका, परुषा, कोमला आदि वृत्तियों का समावेश है। वर्णवक्रता के प्रयोग के लिए कुन्तक ने कुछ प्रतिबन्धों का उल्लेख भी किया है।

वर्णविन्यासवक्रता

१. विषय के अनुरूप हो — (प्रस्तुतौचित्यशोभिनः)
२. जबरदस्ती न ठोसी गई हो—(नातिनिर्बन्धविहिता)
३. असुन्दरवर्णों से भूषित न हो (नाप्यपेशलभूषिता)
४. गुणमार्ग के अनुरूप तथा वृत्तिवैचित्र्य से युक्त हो (गुणमार्गानुवर्तिनी वृत्तिवैचित्र्ययुक्ता)

पदवक्रता में कुन्तक ने दो वक्रताओं की व्याख्या की है पदपूर्वार्धवक्रता तथा पदपरार्धवक्रता। पाणिनि के अनुसार सुबन्त तथा तिङन्त रूपों को पद कहा जाता है। पहले संज्ञासर्वनामरूप और दूसरे क्रियारूप होते हैं। सुबन्त का पूर्वार्ध प्रातिपादिक होता है तथा तिङन्त का धातुरूप। इस प्रकार प्रातिपदिक तथा धातु से सम्बद्ध वक्रता पदपूर्वार्धवक्रता कही गई है और प्रत्यय से सम्बद्ध वक्रता पदपरार्धवक्रता मानी गई है।

पदपूर्वार्धवक्रता के निम्न ग्यारह भेदों का वर्णन कुन्तक ने किया है।

१. रूढिवैचित्र्यवक्रता—जहां लोकोत्तर प्रशंसा अथवा तिरस्कार के उद्देश्य से प्रसिद्धार्थ (रूढि से असम्भव अर्थ अथवा अतिशयित अर्थ) में शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार अत्यन्ततिरस्कृत वाच्यध्वनि तथा अर्थान्तरसंक्रमित

वाच्यध्वनि दोनों रूढिवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं।

२. **पर्यायवक्रता** में वक्रता अनेक पर्यायों में से किसी विशिष्ट पर्याय के प्रयोग पर आश्रित होती है। इसके छः भेदों में प्रथम भेद वहां होता है जहां पर्याय व्युत्पत्ति की दृष्टि से वाच्यार्थ के निकटतम भाव को प्रकट करता है जैसे किरातार्जुनीय में इन्द्र के लिए वज्रिन् शब्द का प्रयोग उस प्रसंग में वाच्यार्थ के निकटतम भाव को प्रकट करता है। दूसरे भेद में पर्याय वाच्यार्थ का अतिशय पोषक होता है, तीसरे भेद में पर्याय स्वयं या अपने विशेषण के द्वारा वाच्यार्थ को सुन्दर छायान्तर (श्लिष्टार्थ) से अलंकृत करता है। चतुर्थ भेद में पर्याय अपने सौन्दर्य के उत्कर्ष के कारण वर्ण्य विषय को सुन्दर बना देता है जैसे किसी रमणी को काले घुंघराले बालों वाली न कहकर यमुना की तरंगों के सदृश वक्र अलकों वाली कहना। पांचवें भेद में असम्भाव्य अर्थ को सूचित किया जाता है तथा छठे भेद में पर्याय अलंकार से उपस्कृत या उपस्कारी होकर मनोहरता की वृद्धि करता है।

३. **उपचारवक्रता** में सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले प्रस्तुत पर उस अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है जिसके सामान्य धर्म का प्रस्तुत के साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध हो। इस उपचारवक्रता में गौणी लक्षणा और तन्मूलक रूपकादि अलंकारों का समावेश हो जाता है। उपचारवक्रता के हज़ारों भेद हो सकते हैं। कुन्तक ने अमूर्त पर मूर्त, अचेतन पर चेतन, चेतन पर अचेतन के आरोप के कई उदाहरण दिए हैं। मत्तमेघ में मतवालापन चेतन का धर्म होने पर भी अचेतन पर आरोपित हुआ है।

४. **विशेषणवक्रता** में विशेषण के प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौन्दर्य उल्लसित होता है। जैसे धवल शीतल चांदनी से व्याप्त और काफी देर से गुमसुम मनोहारी दिशायें किसी के हृदय में शान्तरस और किसी के हृदय में शृंगार को उत्पन्न करने का कारण बनीं।

५. **संवृत्तिवक्रता** में विचित्रता का प्रतिपादन करने की इच्छा से सर्वनाम आदि के द्वारा पदार्थ को छिपाया जाता है। जैसे तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति।

६. **पदमध्यप्रत्ययवक्रता** में पद के मध्य में स्थित प्रत्यय (कृदादि प्रत्यय) अपने उत्कर्ष से प्रस्तुत की शोभा को बढ़ाता है जैसे स्निह्यत्कटाक्षे दृशौ—उस नायिका की आंखों के कटाक्ष स्नेहयुक्त बनते चले जा रहे हैं। यहां स्निह्यत् में शतृ प्रत्यय का अपना ही चमत्कार है।

७. **पदमध्यागमवक्रता** में आगम का उत्कर्ष प्रस्तुत की शोभा की वृद्धि करता है।

८. **वृत्तिवक्रता** में अव्ययीभाव के साथ कृदन्त, तद्धित आदि का सौन्दर्य प्रकट होता है। अहो धत्ते शोभामधिमधु लतानां नवरसः में अधिमधु शब्द सप्तमी का बोध कराता हुआ नवरस शब्द की श्लेष की शोभा के अधिगत होने से

विचित्रता को प्रकट करता है।

९. **भाववक्रता** में क्रियारूप धातु की साध्यता की अवहेलना करके उसे सिद्ध रूप में प्रकट किया जाता है।

१०. **लिंगवक्रता** में किसी विशिष्ट लिङ्ग का प्रयोग करके चमत्कार लाया जाता है।

११. **क्रियावैचित्र्यवक्रता** में धातुरूप क्रिया कर्ता कारक से सम्बन्ध रखती हुई विचित्रता का सम्पादन करती है जबकि भाववक्रता में कर्ता से निरपेक्ष धात्वर्थ रूप क्रिया की वक्रता होती है। कुन्तक ने इसके पांच भेद कर्त्रन्तरंगवक्रता. कर्त्रन्तरविचित्रता, स्वविशेषणवक्रता, उपचारमनोज्ञता तथा कर्मादिसंवृति किये हैं। प्रथम भेद का उदाहरण कुन्तक ने दिया है—

> किं शोभिताहमनयेति पिनाकपाणेः
> पृष्ठस्य पातु परिचुम्बनं वः।।

पार्वती ने अपने सिर पर शिव की चन्द्रलेखा लगा ली और पूछा—क्या मैं इससे अच्छी लग रही हूं। शिव ने उत्तर में उनका चुम्बन कर लिया। वह परिचुम्बन रूप उत्तर आपकी रक्षा करे। यहां कर्ता के साथ उसकी क्रिया की अन्तरंग स्थिति बताई गई है।

पदपरार्धवक्रता में पदसाधक प्रत्ययों की वक्रता दिखाई गई है। इसके निम्न पांच भेद हैं—

१. **कालवक्रता** में औचित्य का अन्तरङ्ग होने से कालप्रयोग रमणीयता को प्राप्त कर लेता है। जैसे कोई विरही कहता है कि वर्षा ऋतु में तो ये मार्ग मनोरथों के लिए भी दुर्लभ हो जाएंगे तो भविष्यत् का प्रयोग रमणीयता को प्रकट कर रहा है।

२. **कारकवक्रता** में कारकविपर्यय चमत्कार की सृष्टि करता है। सागर की धृष्टता को देखकर राम कहते हैं कि मेरा हाथ बरबस धनुष का स्पर्श करने को दौड़ा जा रहा है। यहां हाथ से धनुष ग्रहण करना चाहता हूं यह कहने के बजाय करणकारक में प्रयुक्त होने योग्य पाणि को कर्तृकारक में प्रयुक्त करके अपूर्व कारकवक्रता को प्रस्तुत किया गया है।

३. **संख्यावक्रता** में वचनविपर्यय विचित्रता की सृष्टि करता है। जैसे शाकुन्तल में दुष्यन्त की उक्ति वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती में वयं बहुवचन प्रयोग द्वारा ताटस्थ्य की प्रतीति कराई गई है।

४. **पुरुषवक्रता** में उत्तम, मध्यम और अन्य प्ररुष के प्रयोग में वक्रता रहती है। तुम स्वयं जानती हो यह कहने के स्थान पर जानातु देवी स्वयम् कहने से मध्यम पुरुष के प्रयोग के स्थान पर अन्यपुरुष का प्रयोग वक्ता के औदासीन्य को प्रकट करता है।

उपग्रहवक्रता में आत्मनेपदी, परस्मैपदी तथा उभयपदी धातुओं के प्रयोग में विचित्रता लाई जाती है।

५. **प्रत्ययान्तरवक्रता** में विहित प्रत्यय के बाद अन्य प्रत्यय प्रयोग जैसे तिङादि प्रत्यय के बाद तरप् तमप् का प्रयोग रमणीयता लाता है।

एक और पदवक्रता भी कुन्तक के मतानुसार होती है जिसमें उपसर्ग अथवा निपात के प्रयोग से चमत्कार की सृष्टि होती है। उपसर्ग और निपात में प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन न होने से उन्हें पदपूर्वार्धवक्रता या पदपरार्धवक्रता में नहीं रखा जा सकता था।

तृतीय उन्मेष में सर्वप्रथम **वाक्यवक्रता** की व्याख्या है। यह सुकुमार आदि मार्गों में विद्यमान वक्र शब्दों, अर्थों, गुणों एवं अलकारों की सम्पत्ति से भिन्न होती है। जैसे सुन्दर चित्रपट, रेखा, रंग, कान्ति आदि की शोभा से अलग समूचे चित्र का सौन्दर्य किसी चित्रकार की अलौकिक कुशलता को प्रकट करता है।

कुन्तक के अपने कथनानुसार वाक्यवक्रता के अन्तर्गत समस्त अलंकारवर्ग आ जाता है। इसी कारण वाक्यवक्रता के हज़ारों भेद सम्भव हैं। यहां अलंकारों से तात्पर्य अर्थालंकारों से है, क्योंकि शब्दालंकार तो वर्णविन्यासवक्रता के अंतर्गत आ जाते हैं तथा कुन्तक ने वाक्यवक्रता को मार्गों से भिन्न कहा है।

वाक्यवक्रता के प्रसंग में कुन्तक ने वस्तुवक्रता की चर्चा की है जो रमणीय स्वाभाविक सुन्दरता से किया वस्तुवर्णन है।

वाक्यवक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने स्वभावोक्ति, वाच्य अलंकार, अलंकार-ध्वनि तथा रस के उदाहरण भी दिये हैं।

चतुर्थ उन्मेष में **प्रकरणवक्रता** के नौ भेदों तथा **प्रबन्धवक्रता** के छह भेदों का वर्णन है। प्रकरण को प्रबन्ध का एकदेशीय रूप स्वीकार करते हुए कुन्तक प्रबन्ध के अन्तवर्ती प्रासंगिक कथाप्रसंगों की समुचित लालित्यपूर्ण योजना को ही प्रकरण वक्रता मानते हैं। प्रकरणवक्रता के नौ भेदों में भावपूर्ण स्थिति की उद्भावना (जैसे रघुवंश में वरतन्तु कौत्स तथा रघु के प्रसंग में याचक और दाता की महत्ता), उत्पाद्य लावण्य (जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में दुर्वासा के शाप की कल्पना), अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव (जैसे उत्तररामचरित के प्रथम अंक में जृम्भाकास्त्रों का वर्णन पंचम अंक की घटना का उपकारक सिद्ध होता है), प्राकरणिक अतिरंजना (जैसे रघुवंश में दशरथ के मृगयावर्णन में एक बात का कई प्रकार से वर्णन है), प्रकरणावतार (जैसे रघुवंश के १६वें सर्ग में राजा कुश की जलक्रीडा का वर्णन), रसनिष्यन्दनिकष (जैसे विक्रमोर्वशीय में उन्मत्ताङ्क जिसमें विप्रलम्भ श्रृंङ्गार रस उद्दीप्त हुआ है), अवान्तरवस्तुयोजना (जैसे मुद्राराक्षस में राक्षस को जीवित पकड़ने का आत्महत्या प्रसंग), प्रकरणान्तर योजना (जैसे बालरामायण नाटक के चतुर्थ अङ्क में सीतास्वयंवर गर्भाङ्क) तथा सन्धिविनिवेशवक्रता जिसमें कार्यावस्थाओं

और अर्थप्रकृतियों के बीच मुखादि सन्धियों का मनोहर विनिवेश होता है।

प्रबन्धवक्रता दृश्यकाव्य, श्रव्यकाव्य आदि की प्रबन्धता से सम्बद्ध कवि-कौशल है। कुन्तल ने इसके छः प्रकार गिनाये हैं। प्रथम प्रकार में आधारभूत कथा के मूल रस के स्थान पर अन्य रमणीय रस का प्रयोग होता है। जैसे शान्त-रसप्रधान महाभारत पर आधारित वेणीसंहार में वीर रस को प्रधान रस बना दिया गया है।

दूसरे प्रकार में इतिहास प्रसिद्ध कथा के नीरस भाग का परिहार करते हुए किसी विशेष प्रकरण पर कथा का समापन कर दिया जाता है जैसे किरातार्जुनीय में कथा को युधिष्ठिर की विजय तक न ले जाकर अर्जुन की तपस्या तथा किरात-वेषधारी शिव से पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति तक समाप्त कर दिया है।

तीसरे प्रकार में आधिकारिक कथावस्तु के सम्बन्ध का तिरोधान कर देने वाले दूसरे कार्य के विघ्न से विच्छिन्न हुई कथा वहीं उस प्रधान कार्य की सिद्धि हो जाने से चमत्कार की सृष्टि कर देती है जैसे शिशुपालवध में यज्ञप्रसंग मुख्य-कथा में विघ्न उपस्थित करता प्रतीत होता है परन्तु उससे शिशुपालवध का औचित्य प्रतिपादित हो जाता है।

चौथे प्रकार में नायक एक फल की प्राप्ति में लगा हुआ अन्य फलों को भी प्राप्त कर लेता है जैसे नागानन्द में जीमूतवाहन केवल शंखचूड को ही नहीं बचाता अपितु राज्यलाभादि अनेक फल प्राप्त करता है।

पांचवें प्रकार में प्रबन्ध काव्य के नाम द्वारा प्रधान कथा की सूचना दी जाती है जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस आदि नामों द्वारा कथा सूचित होती है।

छठा प्रकार वहां होता है जहां एक मूल कथा का आधार लेकर अलग अलग कवि उसे भिन्न भिन्न रूपों में प्रस्तुत करते हैं। एक ही रामकथा नये नये रूपों में रामाभ्युदय, उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण आदि में प्रस्तुत की गई है।

वक्रोक्ति के इन भेदों उपभेदों के अन्तर्गत सभी काव्यांगों को समेटने का का यत्न कुन्तक ने किया है।

वक्रोक्ति और अलंकार—कुन्तक अलंकारवादी आचार्य है तथा सालंकार की काव्यता में विश्वास करते हैं।[1] लोकोत्तर चमत्कार लाने वाले वैचित्र्य की सिद्धि के लिए वक्रोक्ति ही काव्य का अपूर्व अलंकार है। शब्द और अर्थ दोनों अलंकार्य हैं तथा वक्रोक्ति दोनों की अलंकृति है।

अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार, उपनागरिका आदि वृत्तियां तथा वैदर्भी

---

१. सालंकारस्य काव्यता व० जी० १. ६,

आदि रीतियां वर्णविन्यासवक्रता के अन्तर्गत आ जाती हैं।

आरोप मूलक रूपक आदि अलंकार उपचारवक्रता में आ जाते हैं। परिकर, पर्यायोक्त जैसे पर्यायवक्रता के भीतर, स्वभावोक्ति, प्रतीप जैसे अलंकार विशेषण-वक्रता के भीतर, व्याजोक्ति, आक्षेप जैसे अलंकार संवृतिवक्रता के भीतर आ जाते हैं। कुन्तक स्वयं कहते हैं कि वाक्यवक्रता में सारा अलंकार वर्ग समा जाता है।

रस और वक्रोक्ति—कुन्तक रसवत् को सभी अलंकारों का जीवित मानते हैं (स रसवन्नाम सर्वालङ्कारजीवितम्)। वस्तुतत्त्व के भेदोपभेदों की चर्चा में, विशेषणवक्रता, प्रबन्धवक्रता तथा प्रकरणवक्रता के अनेक प्रकारों की व्याख्या के प्रसंग में कुन्तक रस की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं।

ध्वनि और वक्रोक्ति—कुन्तक ध्वनितत्त्व का भी अन्तर्भाव वक्रोक्ति में करते हैं। व्यंग्य का ही पर्याय प्रतीयमान है और कुन्तक इसे विचित्र मार्ग का एक रूप मानते हैं—

प्रतीयमानता यत्र वाक्यार्थस्य निबध्यते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां व्यतिरिक्तस्य कस्यचित्॥

लक्षणामूलक ध्वनि के दोनों भेद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तथा अर्थान्तर संक्रमित-वाच्य, पदपूर्वार्धवक्रता के उपभेदों उपचारवक्रता तथा रूढिवैचित्र्यवक्रता के अन्तर्गत आ जाते हैं। अभिधामूलक ध्वनि के भेद पर्यायवक्रता, विशेषणवक्रता प्रत्ययवक्रता आदि भेदों में अन्तर्भूत हैं।

औचित्य और वक्रोक्ति—कुन्तक ने औचित्य नामक सामान्य गुण की आवश्यकता तीनों मार्गों में मानी है तथा क्रियावक्रता, कालवक्रता, लिङ्गवक्रता वाक्यवक्रतादि प्रकारों में औचित्य का महत्त्व बताया है।

रीति, गुण और वक्रोक्ति—कुन्तक ने मार्गों की व्याख्या करते हुए रीति तथा गुणों को भी वक्रोक्ति के अन्तर्गत माना है।

इस प्रकार कुन्तक ने सभी काव्यांगों को वक्रोक्ति का सहयोगी या अंग बनाकर वक्रोक्ति सिद्धान्त को वक्रोक्ति सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है।

व्यक्तिविवेक

आचार्य महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ लिखा है। इनका दूसरा नाम महिमा भी है और तीसरा नाम महिमक है। महिमा नाम मङ्गलाचरण में तथा महिमक नाम ग्रन्थ की समाप्ति पर लिखा है।[1] राजानक पदवी से विभूषित होने के कारण इनका कश्मीरी होना सुनिश्चित है। ये आचार्य श्री धैर्य के पुत्र तथा

---

१. (क) व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्। व्यक्तिविवेक १, १
(ख) व्यक्तिविवेको विदधे राजानकमहिमकेनायम्॥ वही ३, ३७

श्यामल के शिष्य थे। इनके ग्रन्थ में ध्वन्यालोक और वक्रोक्तिजीवित का खण्डन है अतः इनका समय इन आचार्यों के बाद लगभग १००० ई० में होना चाहिए। इनके उत्तरवर्ती आचार्य मम्मट ने पांचवें उल्लास में ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते कहकर आचार्य महिमभट्ट के अनुमान द्वारा ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाने के मत का खण्डन किया है। इस कारण वे मम्मट से पूर्ववर्ती हैं। मम्मट का समय १०५० ई० से ११०० ई० के मध्य माना जाता है अतः महिमभट्ट का समय १०२० ई० से १०५० ई० के मध्य निर्धारित किया जा सकता है।

अपनी कृति व्यक्ति विवेक में आचार्य महिमभट्ट ने व्यक्ति-व्यञ्जना का विवेक-समीक्षण किया हुआ है। इन्होंने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना इन तीन शब्द-शक्तियों में से व्यंजना शक्ति के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। इसके स्थान पर इन्होंने अनुमानवाद की स्थापना करते हुए यह बताया है कि व्यंग्यार्थबोध तथा रस-प्रतीति अनुमान से ही हो जाती है। इन्होंने अनुमान में ही सर्वविध ध्वनि का अन्तर्भाव करने के लिए ही अपने ग्रन्थ का निर्माण किया है।[1] इसी प्रकार विभावादियों की सहायता से जो रसादियों की प्रतीति होती है वह भी अनुमान के अन्तर्गत आ जातीं है। महिमभट्ट ने ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनकृत ध्वनिलक्षण —यत्रार्थः शब्दो वा में बहुत से दोष बताये हैं। इन्होंने अपने से पहले प्रचलित ध्वनिवाद का खण्डन कर नई विचारधारा प्रवाहित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उत्तरवर्ती आचार्यों ने इनके विचारों को स्वीकार नहीं किया फिर भी इनकी तर्कशक्ति और प्रतिभा प्रभावित किये बिना नहीं रहती। इन्होंने दो प्रकार के अर्थ माने हैं—१. वाच्य और २. अनुमेय। वाच्य अर्थ शब्द व्यापार का विषय है तथा वही मुख्यार्थ है। अनुमेय के तीन प्रकार हैं—वस्तु, अलङ्कार और रस। व्यक्ति-विवेक में तीन विमर्श हैं। इनमें ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव तथा ध्वनि विरोधी मत का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

(१) **प्रथम विमर्श** – इसमें आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा बताये गये ध्वनि के निम्न लक्षण को प्रस्तुत किया गया है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

जहां शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को गौण बनाकर उस प्रतीयमान अर्थ को प्रकट करते हैं विद्वानों ने उस काव्यभेद को ध्वनि कहा है।

---

१. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते……॥ वही १, १

२. ध्वन्यालोक १, १३

इस काव्यलक्षण में प्रयुक्त अर्थ, शब्द, वा आदि शब्दों के ग्रहण करने पर आचार्य महिमभट्ट ने आपत्ति प्रकट की है और इस प्रकार इस कारिका में बहुत से दोष दिखाये हैं। इस ध्वनिलक्षण के स्थान पर उन्होंने ध्वनि का यह वास्तविक लक्षण उपस्थित किया है—

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥[1]

जहां वाच्य अथवा उससे अनुमित अर्थ किसी दूसरे अर्थ को किसी भी सम्बन्ध से प्रकाशित करे वह काव्यानुमिति कही गई है।

इस प्रकार ध्वनि के स्थान पर अनुमान की स्थापना करके इन्होंने शब्द की एक ही अभिधा शक्ति मानी है और अर्थ में लिंगता (साध्यानुमापिका शक्ति) का प्रतिपादन किया है। शब्द औरअर्थ में व्यंजकत्व (व्यंजना) शक्ति का खण्डन किया है।[2] इस प्रकार इनके मतानुसार शब्द और अर्थ अर्थान्तर के व्यंजक नहीं हो सकते और एक ही शब्द में अनेक शक्तियां नहीं रह सकतीं। लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ इन दोनों को अनुमेयार्थ माना जा सकता है।

(२) **द्वितीय विमर्श** – इसमें अनौचित्य के दो भेद बताये गये हैं—

१. अर्थविषयक अनौचित्य तथा २. शब्दविषयक अनौचित्य। पहला अन्तरंग अनौचित्य है और यह विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के बेमेल उपयोग के कारण होता है। दूसरा शब्दविषयक बहिरंग अनौचित्य तब उत्पन्न होता है जब शब्दों का नियोजन अविवेक के कारण गलत हो जाता है। इसी बहिरंग अनौचित्य के निम्नलिखित ५ भेद हैं—

१. विधेयाविमर्श २. प्रक्रमभेद ३. क्रमभेद ४. पौनरुक्त्य ५. वाच्यावचन। इन सभी दोषों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इन भेदों के और उपभेद दिखाकर इनके उदाहरण भी दिये हैं। अन्त में आचार्य आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः इस कारिका में अनेक दोष प्रदर्शित किये हैं।

तृतीय विमर्श—इस विमर्श में ध्वन्यालोक में उदाहृत ४० ध्वनिपद्यों को लिया गया है। उनमें जिस व्यंग्यप्रतीति का प्रतिपादन आनन्दवर्धन ने व्यंजना से माना है उसका ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है इस बात को महिमभट्ट ने युक्ति-पूर्वक सिद्ध किया है। उदाहरणार्थ भम धम्मिअ वीसद्धो (भ्रम धार्मिक विस्रब्धः) भगत जी यहां निश्चिन्त होकर घूमिए यह वाक्यार्थ रूप भ्रमण वाच्य है। स

---

१. व्यक्तिविवेक १, २५

२. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता।
न व्यंजकत्वमनयोः समस्तीत्युपदादितम्॥ व्यक्तिविवेक १, २७

शुनकोऽद्य मारितस्तेन यह दुष्ट कुत्ता आज उस शेर ने मार दिया है यह वाक्य पूर्व वाक्य का हेतु है। इस हेतु से ज्ञान होने वाला भ्रमणनिषेध अनुमेय ही है व्यंग्य नहीं।

महिमभट्ट ने अपनी कृति व्यक्तिविवेक में अपने पूर्ववर्ती आनन्दवर्धनकृत ध्वन्यालोक तथा कुन्तककृत वक्रोक्तिजीवित का खण्डन किया हुआ है। इस प्रकार उन्होंने परम्परा से हटकर कुछ नवीन चिन्तन करने के लिए नये विचार दिये हैं। ध्वन्यालोक की ध्वनि के स्थान पर उन्होंने काव्यानुमिति को काव्य का लक्षण माना है।

जहां अन्य आचार्य शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभाव, लक्ष्यलक्षकभाव तथा व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध मानते हैं वहां महिमभट्ट शब्द और अर्थ में साध्यसाधन-भावसम्बन्ध स्वीकार करते हैं। रस को उन्होंने काव्य में सर्वोपरि स्थान दिया है। उनका कहना है कि आत्मभूत जिस तत्त्व को लेकर काव्य का व्यपदेश हुआ है वह रस ही है इसमें किसी को भी विरोध नहीं है अर्थात् ध्वनिकार को भी यह अभीष्ट है कि काव्य की आत्मा रस है और वही काव्य का संज्ञी (प्रधान तत्त्व) है। हमारा तो ध्वनिकार से संज्ञामात्र में मतभेद है वह जिसे ध्वनि कहते हैं हम उसे काव्यानु-मिति नाम देते हैं। यदि व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना या ध्वनि का हठ छोड़ दिया जाये तो काव्यानुमिति को ही ध्वनि के नाम से व्यवहृत करने में विप्रतिपत्ति क्यों होगी?[1]

इसी प्रकार ध्वनि की तरह वक्रोक्ति को भी उन्होंने अनुमान में ही अन्तर्भूत कर दिया है।[2] महिमभट्ट ने अनौचित्य को ही रसभङ्ग का प्रमुख कारण मानकर इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्।[3]

अभीप्सित रसादि की प्रतीति में विघ्न उपस्थित करना ही अनौचित्य दोष का सामान्यलक्षण है। रसनिबन्ध के लिए तत्पर कवि अलङ्कारों का अपने काव्य में समावेश करने के लिए यत्नशील नहीं होता यह कहकर उन्होंने काव्य में अलंकारों का रसापेक्षया गौण स्थान माना है।[4]

आचार्य महिमभट्ट के ध्वनि और वक्रोक्ति विरोधी सिद्धान्तों को उत्तरवर्ती आचार्यों ने स्वीकार नहीं किया है। मम्मट और विश्वनाथ ने इनके सिद्धान्तों की कटु आलोचना की है। परन्तु इनके द्वारा प्रस्तुत ध्वनि और वक्रोक्ति विरोधी

---

१. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद् विमतिः।
संज्ञायां सा केवलमेषापि व्यक्त्ययोगतोऽस्य कुतः॥ व्यक्तिविवेक १, २६
२. तेन ध्वनिवदेषापि वक्रोक्तिरनुमा न किम्॥
३. वहीं द्वितीय विमर्श आरम्भिक वृत्तिभाग। वही १, ७३
४. न चालङ्कारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः। वही २, ७५

युक्तियों को पढ़कर प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता।

औचित्यविचारचर्चा और कविकण्ठाभरण

आचार्य क्षेमेन्द्र आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य थे। इनके गुरु अभिनवगुप्त का समय सन् ९६० से १०२० ई० के बीच माना जाता है। अपनी कृति औचित्यविचार-चर्चा के अन्त में क्षेमेन्द्र ने तत्कालीन महाराज अनन्तराज का उल्लेख किया है। इन्होंने सन् १०२८ ई० १०६३ तक कश्मीर पर शासन किया था। लगभग यही समय आचार्य क्षेमेन्द्र का भी माना जा सकता है।

क्षेमेन्द्र काव्यशास्त्र के आचार्य होने के साथ साथ स्वयं कवि भी थे। उनका परिवार सम्पन्न था। इन्होंने अपने प्रपितामह का नाम भोगेन्द्र, पितामह का नाम सिन्धु तथा पिता का नाम प्रकाशेन्द्र बताया है।

अभी तक क्षेमेन्द्र की निम्न लिखित १८ रचनायें प्रकाश में आ चुकी हैं।

१. रामायणमञ्जरी २. भारतमञ्जरी ३. बृहत्कथामंजरी ४. दशावतार चरित ५. बौद्धावदानकल्पलता ६. चारुचर्या ७. सेव्यसेवकोपदेश ८. दर्पदलन ९. चतुर्वर्गसंग्रह १०. कलाविलास ११. देशोपदेश १२. नर्ममाला १३. कविकण्ठा-भरण १४. सुवृत्ततिलक १५. औचित्यविचार चर्चा १६. लोकप्रकाश १७. नीति-कल्पतरु १८. व्यासाष्टक।

इनके अतिरिक्त अन्य १८ रचनाओं का नाम भी क्षेमेन्द्र के साथ जुड़ा हुआ है। किन्तु इनका उल्लेख ही अन्य ग्रन्थों में मिलता है ये आजकल उपलब्ध नहीं हैं। ये रचनायें क्षेमेन्द्र के बहुमुखी व्यक्तित्व को प्रकट करती हैं। उनको काव्य-शास्त्रीय आचार्य के रूप में प्रस्थापित करने वाला प्रमुख ग्रन्थ औचित्यविचार-चर्चा है जिसके कारण वे औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं संस्थापक माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में कुल १९ कारिकायें हैं जिनकी वृत्ति भी क्षेमेन्द्र ने स्वयं लिखी थी। विषय को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने स्वरचित तथा कालिदास, भवभूति आदि महाकवियों की कृतियों से लिये गये श्लोकों को उदाहरण के रूप में रखा है।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा देते हुए औचित्यविचारचर्चा में कहा है—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥[1]

अर्थात् जो जिसके सदृश या अनुरूप है उसे उचित कहते हैं। उचित का भाव ही औचित्य कहलाता है।

समवायार्थक उच् धातु से क्त प्रत्यय लगकर बने उचित शब्द का धातुजन्य अर्थ तो समवेत या समूह होना चाहिए। लोकव्यवहार में इस शब्द के अर्थ ठीक,

---

१. औचित्यविचारचर्चा पृ० ६

उपयुक्त, योग्य, संगत, संतुलित, अनुरूप आदि हैं[1] जिनमें समवेतता की (समूह में एकता की) छाया भी विद्यमान है ।

साहित्य, कला, जीवन, सभी क्षेत्रों में यह औचित्य तत्त्व इतना व्यापक है कि कहीं भी इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । ११वीं शती में हुए क्षेमेन्द्र ने औचित्य सिद्धान्त की एक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठा की परन्तु उनसे पूर्व भरत, भामह, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, महिमभट्ट, अभिनवगुप्त आदि सभी आचार्यों ने औचित्य के भाव को स्वीकारा है । कइयों ने औचित्य शब्द का प्रयोग भी किया है । इसी अभिधान से या पर्यायान्तर से इस भाव के महत्त्व को सभी ने माना है ।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत जब कहते हैं कि नाट्य में वय के अनुरूप वेष, वेष के अनुरूप चाल ढाल, चाल ढाल के अनुरूप बोलचाल और बोलचाल के अनुरूप अभिनय होना चाहिए[2] तो औचित्य को ही अनुरूपता के नाम से प्रस्तुत करते हैं । अनुरूपता में कौन किसके अनुरूप है इसका निर्णय लोकवृत्त से होना चाहिए यह भरत की धारणा है ।

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते ।।[3]

रसौचित्य को समझने के लिए भरत की यह उक्ति विचारणीय है—

लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः ।
अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः ।।[4]

जब काव्य में विभाव अनुभावादि लोक के संस्कारी स्वभाव के अनुरूप नहीं होते अर्थात् उनका किसी रूप में अनुचित प्रवर्तन होता है तभी रसभंग अथवा रसाभास आदि उपस्थित होते हैं ।

गुणदोषविवेचन प्रसंग में भामह जब कहते हैं कि असाधु भी विशेष आश्रय-सौन्दर्य से साधु हो जाता है तो वहां वे पर्यायान्तर से औचित्य को ही स्वीकार करते हैं ।[5] पुनरुक्त दोष की चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि भय शोकादि में यही

---

१. औचिती योग्यता। रसगंगाधर द्वितीय आनन

२. वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः
वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ।। ना० शा० १४.६८

३. वही २६. ११३

४. वही ७. ६.

५. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि ।
कान्ताविलोचनन्यस्तमलीमसमिवांजनम् ।। काव्यालंकार १.५५

पुनरुक्त दोष गुण हो जाता है।

भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छगच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥[१]

रुद्रट के काव्यालंकार में अनुप्रास की जातियों के निरूपणप्रसंग में अर्थवर्ती औचित्य का ध्यान रखने को कहा गया है।[२] अनुप्रास की वृत्तियों को कहां रखा जाये कहाँ छोड़ा जाये कहां अधिक रखा जाये कहां कम, यह सब अर्थवर्ती औचित्य पर आधारित होना आवश्यक है। देश, कुल, जाति, विद्या, वित्त, वय, स्थान, पात्रादि के विषय में व्यवहार, आकार, वेष, वचन आदि का अनौचित्य ग्राम्यत्व दोष माना है। उसने कामक्रोध आदि के कारण अनुचित ढंग से प्रवृत्त भाव एवं रस के बन्ध को ऊर्जस्वि अलंकार कहा है।[३]

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने तो औचित्य को रस की परा उपनिषद् कहकर उसे परम महत्त्व प्रदान किया है। उनकी दृष्टि में रसभंग का एकमात्र कारण अनौचित्य ही होता है।

अनौचित्यादृते नास्ति रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥[४]

उन्होंने "विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुणः विधिः कथाशरीरस्य"[५] कहकर यह प्रतिपादित किया है कि विभावादियों का अनुचित प्रवर्तन रस और भाव को रसाभास भावाभास बना देता है। उनके अनुसार महाकवि का मुख्य कर्म रसादि के अनुरोध से वाचकौचित्य (सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध आदि) तथा वाच्यौचित्य (वाच्यार्थ कथाशरीर) को लाना है।[६] संघटना-औचित्य के प्रसंग से ध्वनिकार उसे वक्तृ-औचित्य तथा वाच्य-औचित्य पर आधारित मानते हैं। यदि रामचन्द्र जैसे धीरोदात्त नायक को भय से गिड़गिड़ाता हुआ दिखाया जायगा तो वक्तृ-अनौचित्य होगा। शृंगार या करुण रस में दीर्घसमासा संघटना प्रयोग से

१. वही, ४.१४

२. एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यक् औचित्यमालोक्य यथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः ॥
काव्यालंकार, २.३२

३. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥ काव्यालंकार सारसंग्रह

४. ध्वन्यालोक ३.१५

५. वही, ३.१०

६. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः ॥ वही ३.३२

संघटना-अनौचित्य होगा परन्तु रौद्र रस में संघटना-औचित्य होगा। अलंकारौचित्य के विषय में ध्वनिकार की धारणा है कि अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः।[1]

उनके अनुसार वर्णयोजना प्रस्तुत (वर्ण्यवस्तु) के औचित्य के अनुसार रखनी चाहिए। कुन्तक ने औचित्य की परिभाषा दी है—औचित्यं वस्तुतः स्वभावोत्कर्षः जो औचित्य तत्त्व को अत्यन्त व्यापक बना देती है।

महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में औचित्य को काव्य के सामान्य स्वरूपाधायक तत्त्व के रूप में स्वीकारते हुए उसके पृथक् विवेचन को अनावश्यक बता दिया है। रसादि प्रतीति में विघ्न उत्पन्न करने वाला दोष ही अनौचित्य है। यह अनौचित्य दो प्रकार का है अर्थविषयक तथा शब्दविषयक। महिमभट्ट ने एक ओर तो औचित्य को काव्य का नित्यधर्म बताकर उसे सर्वोच्च स्थान दे दिया है, दूसरी ओर उसके विवेचन को अनावश्यक बता कर उसको साहित्यशास्त्र की परिधि से बाहर निकाल दिया है।

इस प्रकार क्षेमेन्द्र से पूर्व कश्मीर के साहित्याचार्यों की एक लम्बी परम्परा औचित्य की महिमा से परिचित थी। भरत की दृष्टि में नाट्यांगों का परस्पर सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध औचित्य है। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त भी औचित्य को एक सम्बन्ध के रूप में स्वीकारते हैं जिस सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर काव्यीय सामग्री गृहीत होनी चाहिए, परन्तु उनके अनुसार इस सम्बन्ध का निर्धारण रस की दृष्टि से ही होना चाहिए।

क्षेमेन्द्र ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने औचित्य को सम्प्रदाय की कोटि तक पहुंचाया है। किसी सिद्धान्त के सम्प्रदाय बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी परिधि में काव्य के समष्टि रूप को ला सके। जब भरत कहते है कि काव्य में अलंकार रहते हैं तो वे अलंकार सिद्धान्त की चर्चा करते हैं। जब जयदेव कहते हैं कि अलंकार के बिना काव्य नहीं रह सकता तो वह अलंकार सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते हैं। क्षेमेन्द्र से पूर्व के आचार्यों ने औचित्य सिद्धान्त की चर्चा की है तथा उसका महत्त्व भी स्वीकार किया है परन्तु उसे काव्य का प्राण नहीं माना। क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य तत्त्व को काव्यव्यापि तथा काव्यांगव्यापि सिद्ध करके एकमात्र प्रधानतत्त्व के रूप में उपस्थित किया है। यह काव्य का भी जीवित है और काव्य की आत्मा रस का भी जीवित है। औचित्य के अभाव में अलंकार अलंकार नहीं रहते, गुण गुण नहीं रहते। औचित्यविचारचर्चा की तृतीय से सप्तम इन पांच कारिकाओं में औचित्य का यह स्वरूप स्पष्ट हुआ है।

---

१. ध्वन्यालोक २.१६

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारः क्रियतेऽधुना॥
काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥ औ० वि० च०
३-५ कारिका

काव्यानुभूति में चमत्कार के आधायक और रस के प्राणभूत तत्त्व औचित्य का अब विचार किया जाता है।

जिस काव्य के प्राणप्रद तत्त्व औचित्य को सोच समझकर भी नहीं देखा जाता, उसके भीतर अलङ्कारों को भरना बन्द करना चाहिए और बेकार में गिनाये गये गुणों का भी क्या लाभ है? अर्थात् कोई लाभ नहीं है। अलङ्कार तो अलङ्कार हैं और गुण गुण ही होते हैं (ये काव्य की शोभा के आधायक तत्त्व तो हैं किन्तु स्वरूपाधायक तत्त्व नहीं हैं) रससिद्ध (रससिद्ध रस रूप सिद्धिप्रद तत्त्व; प्रसिद्ध रस) काव्य का औचित्य ही स्थायी जीवन (प्राण) भूत तत्त्व है।

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः॥
उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥ वही ६-७

उचित स्थान पर रखने से अलङ्कार अलङ्कार है। औचित्य-अस्खलित गुण ही शाश्वत गुण रहते हैं (अस्थान में पड़े हुए अलङ्कार और गुण बेकार होते हैं)। जो जिसके अनुरूप हो उसे आचार्यगण उचित कहते हैं। उचित होने का जो यह भाव (अनुरूपता) है उसी को औचित्य कहते हैं।

इन कारिकाओं में सबमे प्रमुख विचार बिन्दु है औचित्य को काव्य के बाह्य पक्ष तथा अन्तः पक्ष दोनों के अविनाभावी समष्टि रूप का आधायक तत्त्व सिद्ध करना। क्षेमेन्द्र अभिनवगुप्त के शिष्य होने के कारण रस का खण्डन नहीं करते। 'रससिद्धस्य काव्यस्य' कहकर वह रस को काव्य की आतमा मानते प्रतीत होते हैं। परन्तु रस काव्य की आत्मा होने पर उसका अन्तः पक्ष मात्र ही तो उपस्थित करता है। शरीर के बिना आत्मा भी तो लोक व्यवहार्य नहीं होता। काव्य के अन्तः पक्ष के साथ बाह्यपक्ष का सम्पर्क जुड़ने पर ही वह लोकव्यवहार्य हो सकता है। इसीलिए क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रस का जीवित भी कहा है और रससिद्ध काव्य का जीवित भी वताया है। काव्य में रसौचित्य भी आवश्यक है और पदौचित्य, अलंकारौचित्य आदि भी आवश्यक हैं। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने काव्य में औचित्यतत्त्व को रसतत्त्व की अपेक्षा अधिक व्यापक सिद्ध कर दिया है। वह

काव्यव्यापि भी है और काव्याङ्गव्यापि भी—

काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्। औ वि० च० कारिका १०

यहां च शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि औचित्य काव्य के भीतर ही व्यापक तत्त्व नहीं है अपितु काव्यांगों में भी व्यापक तत्त्व है। समष्टि रूप से काव्य में व्याप्त औचित्य तत्त्व औचित्य का सामान्य रूप है और वह अङ्गी है। व्यष्टि रूप से प्रत्येक काव्याङ्ग में व्याप्त औचित्यतत्त्व औचित्य का विशेष रूप है जो समष्टि-गत सामान्य औचित्य का अंग बनता है। यह उसी प्रकार है जैसे किसी मनुष्य के सुन्दर अवयव उसके समष्टि सौन्दर्य तक हमें पहुंचाते हैं। हाथ सुन्दर है, भुजाएं सुन्दर हैं, नयन आकर्षक हैं, मुख कान्तिमय है, इन सब अंगों का अपना अपना विशेष सौन्दर्य है जो मनुष्य के समष्टि सौन्दर्य का अंग बनता है। इसी प्रकार गुणौचित्य, पदौचित्य, अलंकारौचित्य, रसौचित्य आदि काव्य के समष्टिगत औचित्य के अंग है। व्यष्टि औचित्यों के बीच भी अंगांगिभाव सम्भव हो सकता है। अलंकार औचित्य और रसौचित्य के बीच यही अंगांगिभाव है। श्री हर्ष का एक उदाहरण देते हुए क्षेमेन्द्र स्पष्ट कहते हैं कि यहां वत्सराज की कामदेव से उपमा शृंगारोचित चमत्कारिणी चारूता की अभिव्यक्ति करती है। अर्थात् अलंकार का औचित्य इसमें हैं कि वह रसानुरूप हो।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित कहा है अतः प्रश्न उठता है कि क्या औचित्य नित्य है? उसने औचित्य को काव्य की आत्मा नहीं कहा, जीवित कहा है और इन दो शब्दों का अर्थ भिन्न माना है। जीवन का क्षेत्र बाहर भी है और भीतर भी। बाह्यरूप में जीवन विकासशील और परिवर्तनशील है अतः अनित्य है परन्तु अपने सूक्ष्म रूप में जीवन नित्य है क्यों कि उस का प्रवाह नित्य है। प्राण अनित्य और असीम पदार्थों में सन्निविष्ट होता है तो उस रूप में अनित्य और परिवर्तनशील होता है। वही प्राण नित्य और असीम स्वरूप में अथवा पदार्थों के प्रवाही रूप में स्वनिष्ठ होकर नित्य और स्थिर है।

औचित्य की परिधि इतनी व्यापक है कि इसमें काव्य, काव्यांग और काव्यांग से बाहर की वस्तुएं देश, काल, जाति, व्यवहार आदि सब आ जाती हैं। इस प्रकार औचित्य के अनन्त प्रकार हो सकते हैं। क्षेमेन्द्र ने स्वयं सत्ताईस भेदों का विवरण देकर अन्त में कह दिया है कि इस दिशा से अन्य काव्यांगों में पाठकों को स्वयं औचित्य की स्थिति समझ लेनी चाहिए। ऐसे उदाहरण अनन्त हो सकते हैं अतः अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। औचित्य के जिन प्रकारों की चर्चा उन्होंने की है वे हैं—

पदौचित्य,	वाक्यौचित्य,	प्रवन्धार्थौ चित्य,
गुणौचित्य,	अलंकारौचित्य,	रसौचित्य,
क्रियौचित्य,	कारकौचित्य,	लिङ्गौचित्य,
वचनौचित्य,	विशेषणौचित्य,	उपसर्गौ चित्य,
निपातौचित्य,	कालौचित्य,	देशौचिप्य,
कुलौचित्य,	व्रतौचित्य,	तत्त्वौचित्य,
सत्त्वौचित्य,	अभिप्रायौचित्य,	स्वभावौचित्य,
सारसंग्रहौचित्य,	प्रतिभौचित्य,	अवस्थौचित्य
विचारौचित्य,	नामौचित्य,	आशीर्वादौचित्य ।

उन्होंने प्रत्येक औचित्यप्रकार की परिभाषा देकर फिर उसे उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रथम पदौचित्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है।

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चन्दनम्।।

उदाहरण के लिए श्री हर्ष का एक पद्य उद्धृत किया है जिसमें **कृशाङ्गी पद** सागरिका की विरहावस्था का व्यंजक होने से औचित्यपूर्ण है दूसरी ओर प्रत्युदाहरण में धर्मकीर्ति का पद्य दिया है[1] जिसमें **तन्वी पद** केवल अनुप्रास को लाने को रख दिया गया है और प्रसंग में अनुचित प्रतीत होता है। प्रसंग रमणी के अत्यधिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का है जो **सुन्दरी पद** से अधिक प्रकट हो सकता था।

---

१. परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगादुभयतस्
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः संतापं वदति बिसिनीपत्रशयनाम्।।
अत्र सागरिकाया विरहावस्थासूचकं कृशाङ्ग्या इति पदं परमौचित्यं पुष्णाति।
न तु यथा धर्मकीर्तेः—
लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः।
स्वच्छंदस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्ताज्वरो निर्मितः।।
एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद् वराकी हता। कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता।। तत्र तन्वया इति पदं केवलं शब्दानुप्रासव्यसनितया निबद्धं न काञ्चिद् अर्थौचित्यचमत्कारकणिकामाविष्करोति। सुन्दर्या इति पदमत्रानुरूपं स्यात् तन्वीपदं तु विरहविधुरे रमणीजने प्रयुक्तमर्थौचित्यशोभां जनयति।

रसौचित्य के प्रकरण में क्षेमेन्द्र प्रकृत रस के अनुरूप विभावादियों की आवश्यकता पर बल देते हैं। कालिदास के कुमारसम्भव में से दो उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया है कि एक उदाहरण में तो वसन्त पर कामुक पुरुष का आरोप और वनस्थली पर ललनाओं का आरोप तथा कुटिल एवं रक्तवर्णा पलाशकलिकाओं पर नखक्षतों का आरोप भगवान् शंकर के पार्वती विषयक अभिलाष शृंगार का उचित उद्दीपनविभाव बन पाया है परन्तु दूसरे उदाहरण में कर्णिकार का वर्णन किया गया है और आंगिक रूप में विधाता की निन्दा की गई है परन्तु शृंगाररसोचित उद्दीपनविभाव के अनुरूप कोई बात नहीं की गई।[1]

इसी प्रकार क्षेमेन्द्र ने विभिन्न काव्यरसों के संयोग में औचित्य का ध्यान रखने को कहा है अन्यथा अनौचित्य के संस्पर्श से रससंकर अच्छा नहीं लगेगा।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य के प्रकारों का कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया तथा इन प्रकारों की परिभाषाओं में भेदक तत्त्व स्पष्ट नहीं किये ऐसा डाक्टर शंकरदेव अवतरे का मत है। उनके विचार में औचित्य को साम्प्रदायिक रूप देते हुए भी क्षेमेन्द्र ने वैसी प्रौढि नहीं प्राप्त की जैसी उन्हें प्राप्त करनी चाहिए थी।[2]

उनके इस कथन में सत्यता है परन्तु इसी से क्षेमेन्द्र के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। क्षेमेन्द्र ने औचित्य को साम्प्रदायिक रूप दिया है और उसमें वे सफल हुए हैं। यह बात अलग है कि इस क्षेत्र में उनके मत का अनुसरण नहीं किया गया। फिर भी इतना तो मानना चाहिए कि जीवन की तरह साहित्य में भी औचित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कविकण्ठाभरण—क्षेमेन्द्र की इस कृति में निम्नलिखित पांच सन्धियां हैं—

१. कवित्वप्राप्ति २. शिक्षाकथन ३. चमत्कारकथन ४. गुणदोषविभाग ५. परिचयप्राप्ति।

प्रथम सन्धि में अकवि व्यक्ति के लिए कवि बनने के दो उपाय बताये हैं—१. सरस्वती और शक्ति का ध्यान जिसे दिव्य प्रयत्न नाम दिया है २. पौरुष-कालिदास आदि महाकवियों के काव्य ग्रन्थों का अभ्यास।

---

१. बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीववनस्थलानि॥
वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गंधतया स्म चेतः
प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजा प्रवृतिः॥
तेषां परस्पराश्लेषात्कुर्यादौचित्यरक्षणम्
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससंकरः॥ औ० वि० च०

२. काव्याङ्गप्रक्रिया पृ० २६२।

द्वितीय सन्धि में कवियों के निम्नलिखित पांच प्रकार बताये हैं—१. छायोपजीवी २. पदकोपजीवी, ३. पादोपजीवी ४. सकलोपजीवी ५. भुवनोपजीव्य। पूर्ववर्ती कवियों के भाव को लेकर अपनी रचना में उस भाव को रखने वाला कवि छायोपजीवी है। भल्लटशतक में भल्लट ने कालकूट विष को दुष्टों की वाणी में रहने वाला बताया था। उसके उत्तरवर्ती उत्पलराजदेव ने भी यही भाव लेकर दुष्टों की वाणी में कालकूट की स्थिति बताई है। मुक्ताकण ने यथा तथा और मन्ये शब्दों का प्रयोग करके स्मरानल का वर्णन किया है। उसी का अनुकरण करते हुए चक्रसाल ने यथा, तथा और मन्ये पदों का प्रयोग करके स्मरगज का वर्णन किया है। इस प्रकार के कवि पदकोपजीवी अर्थात् दूसरे कवियों के पदों का अपनी रचना में प्रयोग करने वाले होते हैं। इसी प्रकार किसी पूर्ववर्ती कवि की रचना के एक पाद को लेकर अपनी रचना में उसका समावेश करने वाले कवि पादोपजीवी होते हैं। भाव और शब्द दोनों को अपनी रचना में समाविष्ट करने वाले उत्तरवर्ती कवि सकलोपजीवी कहलाते हैं। भगवान् व्यास जैसे महाकवि के काव्यों का आधार सभी उत्तरवर्ती कवि लेते हुए दिखाईपड़ते हैं। ऐसे महाकवि उपजीव्य की कोटि में आते हैं। इसके अनन्तर यहां काव्यनिष्णात कवि को महाकवियों की सङ्गति, नाटकों के अभिनय को देखना, लोकाचार का ज्ञान, प्रातः जागरण, अविकत्थना आदि गुणों को अपने चरित्र में समाविष्ट करने की बहुत सारी शिक्षा दी हुई है। इनको अपनाकर कविता में नवीन भाव आ जाते हैं।

तृतीय सन्धि में निम्नलिखित चमत्कारों के भेदों को उदाहरण देकर स्पष्ट किया है—

१. अविचारितरमणीय २. विचार्यमाणरमणीय ३. समस्तसूक्तव्यापी ४. सूक्तैकदेशदृश्य ५. शब्दगत ६. अर्थगत ७. शब्दार्थगत ८. अलङ्कारगत ९. रसगत १०. प्रख्यातवृत्तिगत।

चतुर्थसन्धि में शब्दवैमल्य, अर्थवैमल्य और रसवैमल्य नामक तीन काव्यगुण बताये हैं। शब्दकालुष्य, अर्थकालुष्य और रसकालुष्य नामक तीन काव्यदोष गिनाये हैं। सगुण, निर्गुण, सदोष, निर्दोष और सगुणदोष नाम के पांच प्रकार के काव्यभेद किये हैं। इन सभी को पद्यकादम्बरी, वेणीसंहार और सूर्यशतक आदि कृतियों से उदाहरण दिखाकर स्पष्ट किया है।

पांचवीं सन्धि में तर्क, व्याकरण, भरत, चाणक्य, वात्स्यायन, महाभारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्मज्ञान, धातुवाद, रत्नपरीक्षा, वैद्यक, ज्यौतिष, धनुर्वेद, गजलक्षण, तुरगलक्षण, पुरुषलक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल, चित्र, देश, वृक्ष, वनेचर, औदार्य, अचेतनचेतनाध्यारोप, भक्ति, विवेक और प्रशम का परिचय पद्यकादम्बरी, देशोपदेश और मुक्तावली आदि के श्लोकों के उद्धरणों से कराया है।

काव्यप्रकाश

मम्मट ने अपने समय तथा वंश आदि के विषय में कोई सूचना नहीं दी है। मम्मट नाम उनका कश्मीरी होना बतलाता है। काव्यप्रकाश के टीकाकार भीमसेन के अनुसार मम्मट उव्वट के बड़े भाई थे। राजानक आनन्द की निदर्शना टीका में मम्मट को शैवमतानुयायी कश्मीरी बताया गया है। मम्मट ने अपने ग्रन्थ में अभिनवगुप्त को उद्धृत किया है, जिनका समय १०१५ ई० है। उदात्तालंकार के प्रसंग में भोजराज का उल्लेख किया है, जिनका समय १०५४ ई० है अत: स्पष्ट है कि काव्यप्रकाश की रचना १०५० ई० से पूर्व नहीं हुई होगी। काव्यप्रकाश की प्राचीनतम टीका संकेत माणिक्यचन्द्र की है जिसका रचनाकाल ११६० ई० है। तब तक काव्यप्रकाश की ख्याति फैल चुकी होगी। इस प्रकार मम्मट का समय १०५० ई० से ११५० के बीच रखा जा सकता है।

आचार्य मम्मट ने दो ग्रन्थों—काव्यप्रकाश और शब्दव्यापारविचार की रचना की थी परन्तु उनकी कीर्ति का आधार स्तम्भ काव्यप्रकाश है जिसकी लोकप्रियता का अनुमान उसपर लिखी गई पिचहत्तर टीकाओं से लगाया जा सकता है। काव्यप्रकाश में १४२ कारिकायें हैं जिनपर वृत्ति लिखी गई है। आचार्य विद्याभूषण, आचार्य महेश्वर आदि कुछ विद्वानों के अनुसार मम्मट केवल वृत्तिकार हैं, काव्यप्रकाश की कारिकायें भरतनिर्मित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रसविषयक कुछ कारिकायें भरत के नाट्यशास्त्र से ली गई हैं परन्तु अन्य कारिकायें मम्मट की ही रचना प्रतीत होती हैं। काव्यप्रकाश के किसी भी प्राचीन टीकाकार ने कारिकाकार और वृत्तिकार को अलग अलग नहीं बताया है। जहां मम्मट भरत के मत को उद्धृत करते हैं वहां उनका उक्तं हि भरतेन आदि कहना भी यही सिद्ध करता है कि वे स्वयं ही कारिकाभाग और वृत्तिभाग के रचयिता हैं। माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाश की टीका में लिखा है—अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थित इति द्विखण्डोऽपि संघटनवशादखण्डायते अर्थात् इस ग्रन्थ का आरम्भ किसी एक ने किया और समर्थन दूसरे ने किया किन्तु दो खण्ड होने पर भी रचनाकौशल के कारण यह एक ही प्रतीत होता है। टीकाकार सोमेश्वर ने भी इसी प्रकार कहा है कि यह ग्रन्थ अपूर्ण रहा था जिसे दूसरे ने पूर्ण किया है। राजानक आनन्द ने काव्यप्रकाशनिदर्शन में लिखा है कि मम्मट ने यह ग्रन्थ परिकर अलंकार तक लिखा था और शेष भाग अलक ने पूरा किया।[1] कहीं अलक के स्थान पर अल्लट भी मिलता है। श्री दासगुप्त और डे का भी यही मत है कि मम्मट काव्यप्रकाश को परिकर अलंकार तक ही लिख पाए थे, शेष भाग अन्य की

---

१. कृत: श्रीमम्मटाचार्यवर्यै: परिकरावधि:।
प्रबन्ध: पूरित: शेषो विधायालकसूरिणा ॥ का० प्र० नि०

रचना है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ के रूप में काव्यप्रकाश भारतीय काव्यशास्त्र का बहुमूल्य ग्रन्थ है। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर भोज के शृंगार प्रकाश तक की सभी काव्यशास्त्रीय विचारधाराओं का मन्थन करके मम्मट ने उन्हें यथासंभव समन्वित रूप में अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। महामहोपाध्याय पी० वी० काणे के शब्दों में शताब्दियों से साहित्यशास्त्र के अनेकानेक अंगों का विकास हो रहा था। उस विकास का विचार इसमें किया हुआ है एवं उस का सार इसमें संगृहीत है। भावी काव्यमीमांसा पद्धति एवं तद्विषयक सभी बातों का उद्गम इसमें उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ का विशेष गुण यह है कि इसमें विवेचन पूर्ण एवं सर्वाङ्गीण होने पर भी जहां तक हो सके संक्षेप में किया गया है। नाट्य को छोड़कर साहित्यशास्त्र के सभी उपयोगी विषयों का निरूपण अत्यन्त संक्षिप्त रूप से सूत्र शैली में हुआ है। जैसा कि ग्रन्थ के नाम काव्यप्रकाश से भी प्रतीत होता है, ग्रन्थ का मुख्य विषय अंगों उपांगों सहित काव्य को लक्षित करना है। काव्यप्रकाश में दस उल्लास हैं जो मम्मट द्वारा बताये हुए काव्यलक्षण 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' की ही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम उल्लास में मङ्गलाचरण के पश्चात् काव्य के प्रयोजन, काव्य के कारण, काव्यलक्षण और काव्यभेद बताये गये हैं। काव्य के छः प्रयोजनों में परम्परा प्राप्त सभी काव्य प्रयोजनों का संग्रह तात्पर्यतः कर दिया गया है।

भरत प्रतिपादित धर्म्य और आयुष्य को मम्मट ने शिवेतरक्षति में समेट लिया है। बुद्धिविवर्धन मम्मट के व्यवहारविदे के अन्तर्गत आ जाता है। लोकोपदेश-जनन को मम्मट ने कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे कहकर अधिक आकर्षक रूप दे दिया है। भरत का विश्रान्तिजनन प्रयोजन मम्मट के सद्यः परनिर्वृति में अन्तर्हित है। इसी प्रकार भामहप्रतिपादित प्रयोजन चतुर्वर्गफलप्राप्ति, कलावैचक्षण्य, कीर्ति तथा प्रीति मम्मट के शिवेतरक्षति, अर्थ, व्यवहारविदे, कान्तासम्मितोपदेश, यशस् तथा सद्यः परनिर्वृति से प्रकट हो रहे हैं। काव्यकारणता के विषय में मम्मट की अपूर्व देन यह है कि उन्होंने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास को संयुक्त रूप से हेतु रूप में स्वीकारा है। दण्डी ने भी प्रतिभा, श्रुत (ज्ञान) तथा अभियोग (अभ्यास) को संयुक्त रूप से काव्यकारण कहा है परन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि प्रतिभा के अभाव में भी शास्त्रज्ञान और अभ्यास से काव्य रचा जा सकता है।

मम्मट ने काव्यलक्षण में वक्रोक्ति, अलंकार, रीति, रस, ध्वनि आदि सभी प्रमुख तत्त्वों का समाहार करते हुए एक समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि कहकर उन्होंने भामह की तरह शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य स्वीकारा है। शब्दार्थों के तीन विशेषणों द्वारा मम्मट ने दोषपरिहार और गुणसमावर्जन को भी काव्यलक्षण में

स्थान दे दिया है तथा अलंकार की सत्ता को न नकारते हुए उसे गौण स्थान दिया है। रस को शब्दतः न कह कर सगुणौ अदोषौ से अभिव्यक्त करते हुए मम्मट यह सिद्ध करना चाहते थे कि रस कभी भी वाच्य नहीं होता। मम्मट के काव्यलक्षण की कई परवर्ती आचार्यों ने आलोचना की है। जयदेव को अनलंकृति पुनः क्वापि पर आपत्ति है तो शब्द को काव्य मानने वाले पण्डितराजजगन्नाथ को शब्दार्थौ का प्रयोग ठीक नहीं लगा है। विश्वनाथ ने तीनों विशेषणों की कटु आलोचना की है परन्तु अन्ततः मम्मट का काव्यलक्षण ही साहित्यशास्त्र में सर्वाधिक स्वीकृत हुआ है। पूर्वाचार्यों की मान्यतायें भी इस लक्षण में आ जाती हैं। परवर्ती आचार्यों जयदेव, वाग्भट, विद्यानाथ, अच्युतराय धर्मसूरि आदि पर मम्मट के काव्यलक्षण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। मम्मट से पूर्ववर्ती आचार्यों ने भाषासंरचना आदि के आधार पर काव्य के भेद प्रस्तुत किये थे। मम्मट ने व्यञ्जना के आधार पर काव्य के तीन भेद उत्तम, मध्यम तथा अवर बताए हैं।

द्वितीय उल्लास में शब्द, अर्थ और उनकी वृत्तियों के बारे में विस्तृत चर्चा की गई है। मम्मट ने तीन प्रकार के शब्दों वाचक, लक्षक एवं व्यंजक का, तीन प्रकार के अर्थों वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य का तथा तीन प्रकार की वृत्तियों अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना का अस्तित्व स्वीकार किया है।[२] चतुर्थ तात्पर्यार्थ तथा तात्पर्या वृत्ति की चर्चा भी मम्मट ने व्यंजना का महत्त्व सिद्ध करने के प्रसंग में की है। साक्षात् सांकेतिक अर्थ की प्रतीति कराने वाली शब्द की प्रथमा शक्ति अभिधा है। संकेत का ग्रहण कैसे होता है, इस प्रसंग में मम्मट ने सभी मतों का परिचय देते हुए वैयाकरणों के मत को स्वीकार किया है जो जाति, व्यक्ति, गुण और क्रिया चारों में संकेतग्रहण मानते हैं। पतञ्जलि के चतुष्टयी सिद्धान्त के आधार पर मम्मट ने उपाधिवाद की स्थापना की है। इस क्षेत्र में वे विशेषरूप से मुकुलभट्ट के ऋणी हैं। लक्षणा की परिभाषा देते हुए मम्मट ने कहा है कि मुख्यार्थ का बाध होने पर उस (मुख्यार्थ) के साथ सम्बन्ध होने पर प्रसिद्धि से या प्रयोजन से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वह (शब्दों में) आरोपित वृत्ति लक्षणा है। मुकुलभट्ट ने लक्षणा के जो छः भेद प्रस्तुत किये थे, मम्मट ने थोड़े बहुत संशोधन के साथ उन्हें स्वीकार कर लिया है। लक्षणावादियों के विशिष्टलक्षणावाद का खण्डन करके उन्होंने व्यंजना की स्थापना की है। व्यंजना के दो भेदों शाब्दी और आर्थी का उल्लेख करके शाब्दी व्यंजना की चर्चा भी द्वितीय उल्लास में की गई है।

---

१. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। काव्यप्रकाश ५, वृत्तिभाग

२. स्याद्वाचको लाक्षणिक : शब्दोऽत्रव्यंजकस्त्रिधा। वही २, १
वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः। वही २, २

३. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्। वही २, ६

तृतीय उल्लास में आर्थी व्यंजना के भेदों के उदाहरण दिये गये हैं। ये भेद या प्रकार वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल तथा चेष्टादि की विशेषता पर आधारित हैं।

चतुर्थ उल्लास में ध्वनि के प्रमुख दो भेदों अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) तथा विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) का विवेचन किया गया है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु, अलङ्कार और रस ये तीन भेद वर्णित हैं। ध्वनिप्रस्तारक्रम में अभिनवगुप्त ने ७४२० भेदों की गणना की थी, मम्मट ने ध्वनि के १०४५५ भेद गिनाये हैं। रसध्वनि के प्रसंग में मम्मट ने रस के स्वरूप को भरत के रससूत्र के आधार पर प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार लोक में रति आदि की उत्पत्ति के जो कारण हैं वे विभाव, जो कार्य हैं वे अनुभाव तथा जो सहकारी कारण हैं वे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। इन्हीं विभावों, अनुभावों, और व्यभिचारिभावों का स्थायिभाव के साथ संयोग होने से रस की निष्पत्ति होती है। भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त इन चार आचार्यों के रससूत्रविषयक विचारों को उपस्थित करते हुए अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित मत की ओर अपना झुकाव दिखाया है। भरत के नाट्यशास्त्र में आठ रस बताए गये हैं। मम्मट ने उद्भट की तरह शान्त को भी परिगणित करके रसों की संख्या नौ बताई है। पञ्चम उल्लास में आठ प्रकार के गुणीभूतव्यंग्य को उदाहरण सहित समझाया गया है। इसी उल्लास में व्यंजना वृत्ति की स्थापना के लिए विपुल सामग्री उपस्थित की गई है। व्यंजनाविरोधियों में सर्वप्रथम मीमांसकों को लक्ष्य बनाया गया है। मीमांसकों के विभिन्न वर्ग यथा अभिहितान्वयवादी (कुमारिल भट्ट) अन्विताभिधानवादी (प्रभाकर आदि), तत्परत्ववादी (लोल्लट आदि), निमित्तनैमित्तकवादी आदि अपने अपने ढंग से व्यंजना का खण्डन कर रहे थे। मम्मट ने मीमांसकों के अप्राप्तविधि सिद्धान्त का सहारा लेकर सिद्ध कर दिया है कि व्यंजना के बिना व्यंग्यार्थ प्राप्त नहीं किया जा सकता।

नैयायिकप्रमुख महिमभट्ट ने व्यंग्य को अनुमेय बनाने के लिए जो जो हेतु दिये थे उनको सव्यभिचार, विरुद्ध, असिद्ध आदि दिखाकर मम्मट ने उन हेतुओं को हेत्वाभास बता दिया है। और न्यायशास्त्र के अनुसार हेत्वाभास से कभी साध्यसिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार व्यञ्जना के विरोध में आ सकने वाले सभी तर्कों का सयुक्तिक खण्डन करते हुए व्यञ्जनासिद्धि के लिए उपलब्ध सामग्री का एकत्र संकलन इस उल्लास में कर दिया गया है। छठे उल्लास में चित्रकाव्यों का निरूपण किया गया है। इस उल्लास तक काव्यलक्षण के शब्दार्थों पद की ही व्याख्या है। आगे सप्तम उल्लास में अदोषौ पद की विवेचना करने के लिए सोलह पददोष, सात पदांशदोष, इक्कीस वाक्यदोष, तेइस अर्थदोष तथा दस रसदोष उदाहरण सहित दिखाये गये हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र में दोषों की चर्चा की है

परन्तु कोई वर्गीकरण प्रस्तुत नहीं किया। वामन ने सर्वप्रथम एक वैज्ञानिक वर्गीकरण प्रस्तुत करके दोषों को चार वर्गों—पददोष, पदार्थदोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष में रखा है। रसदोष का उल्लेख आनन्दवर्धन ने किया है। मम्मट ने दोषविषयक सारे उपादानों का संग्रह करके एक सुव्यवस्थित वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। काव्यलक्षण में प्रयुक्त सगुणौ शब्द की व्याख्या के लिए मम्मट ने आठवें उल्लास में गुणलक्षण, उनकी संख्या, व्यञ्जकता आदि पर प्रकाश डाला है। गुण और अलङ्कारों में अभेद मानने वालों के मत का खण्डन करते हुए उन्होंने गुण और अलङ्कारों की पृथक्ता सिद्ध की है तथा रसधर्म के रूप में गुणों की प्रतिष्ठा की है। समस्त काव्यजगत् में यह उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। वामनप्रदर्शित दस शब्दार्थ गुणों का तीन गुणों में अन्तर्भाव करना भी मम्मट की महत्त्वपूर्ण देन है।[1] माधुर्य आदि गुणों की तारतम्यता के विषय में दो ही आचार्यों आनन्द-वर्धन तथा मम्मट ने विचार किया है। आनन्दवर्धन संयोगश्रृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ श्रृंगार में, विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण में माधुर्यगुण की उत्तरोत्तर अधिकता मानते हैं[2] परन्तु मम्मट संयोगश्रृंगार की अपेक्षा करुण में, करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ में तथा उसकी अपेक्षा शान्त में माधुर्य की उत्तरोत्तर अधिकता बताते हैं।[3] इसी प्रकार ओजस् के सम्बन्ध में भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं।

अलंकारों के महत्त्व को भी स्वीकार करते हुए मम्मट ने नवम तथा दशम उल्लासों में शब्दालंकारों तथा अर्थालङ्कारों को बताया है। नवम उल्लास में गौडी आदि रीतियों के साथ वक्रोक्ति आदि छः शब्दालङ्कारों के सोदाहरण लक्षण दिये हैं। श्लेषविषयक विविध भ्रान्तियों का निराकरण भी इस उल्लास में किया गया है। दशम उल्लास में उपमादि इकसठ अर्थालङ्कारों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अर्थालङ्कारों के क्षेत्र में पूर्वप्रचलित कई भ्रान्तियों का निराकरण करने का प्रयास भी किया गया है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में सभी विषयों को परस्पर सम्बद्ध बनाकर सुनियोजित रूप में रखा है। इस बात का पूरा प्रयास किया है कि अपेक्षित सामग्री छूटे नहीं और अनपेक्षित सामग्री बीच में आने न पाये। नाटकीय कथावस्तु, रूपकों के भेद तथा नायकनायिकाभेद को छोड़कर काव्य के सभी उपयोगी तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन काव्यप्रकाश में मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र में गुणदोषों का विवेचन नहीं के बराबर है। भामह और दण्डी ने अलंकारों पर तो खूब लिखा है पर शब्दशक्तियों तथा रसध्वनि पर विचार नहीं किया

---

१. माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश। काव्यप्रकाश ८.६८

२. श्रृंगारेविप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्॥ ध्वन्यालोक २, ८

३. आह्लादकत्वं माधुर्यं श्रृंगारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥ काव्यप्रकाश ८.६८-६९

वामन ने गुण दोष अलंकार और रीति पर लिखा है परन्तु रस की उपेक्षा कर दी है। आनन्दवर्धन ने तो अपने विवेचन को ध्वनि तक ही सीमित रखा है। ध्वनि स्थापना के लिए उन्होंने जो युक्तियां रखीं उन्हें परवर्ती महिमभट्ट ने बुरी तरह खण्डित कर दिया और यदि मम्मट अपनी युक्तियों से पुनः इस सिद्धान्त की स्थापना न करते तो ध्वनिसिद्धान्त को वह मान्यता प्राप्त न होती जो उसे आज प्राप्त है। राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में रस, ध्वनि और अलंकार का विशद-विवेचन नहीं किया। कुन्तक ने रसादि तत्त्वों को छोड़ दिया। धनञ्जय का दशरूपक तो नाट्य के भेदोपभेद बताता है परन्तु नाट्य में अलंकारों का भी कोई स्थान होता है यह बताने की आवश्यकता उसमें नहीं समझी गई। विपुल विषय-सामग्री की दृष्टि से भोज का शृङ्गारप्रकाश ही काव्यप्रकाश के समकक्ष ठहरता है। मम्मट की सर्वोपरि विशेषता उनका समन्वयवादी दृष्टिकोण है। आचार्य विश्वेश्वर मम्मट की तुलना एक मधुमक्षिका से करते हुए कहते हैं—"उन्होंने एक सहस्रवर्ष के दीर्घकाल में फैले हुए विस्तीर्ण साहित्योद्यान के सैंकड़ों सुन्दर पुष्पों से मधुसञ्चय करने में जो श्रम किया है वह तो प्रशंसनीय है ही पर उसके साथ ही उसको जिस रूप में सजाकर काव्यप्रकाश में उपस्थित किया है वह उनकी कलात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। काव्यप्रकाश में दस उल्लास हैं, उनमें प्रति-पाद्य विषय या सञ्चित मधु को इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि बस देखते ही बनता है।"[1] काव्यप्रकाश की बहुत कम सामग्री सर्वथा मौलिक कही जा सकती है। अधिकांश सामग्री पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से संगृहीत की गई है। परन्तु उस चयन की गई सामग्री को समन्वित रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय मम्मट को ही है। मम्मट से पूर्व अलंकारवादी, रीतिवादी और रसवादी अलंकार या रीति या रस को ही काव्य की आत्मा मानकर एक तत्त्व पर ही विशेष बल दे रहे थे। मम्मट ने सभी तत्त्वों को समुचित स्थान प्रदान कर सभी पूर्व प्रचलित सम्प्रदायों का अपने मत में अन्तर्भाव कर दिया है। काव्यलक्षण के अदोषौ विशेषण में औचित्य सम्प्रदाय का अन्तर्भाव है क्योंकि औचित्य में दोषराहित्य की भावना ही प्रमुख रूप से निहित है। सगुणौ के भीतर रीति सम्प्रदाय आ जाता है क्योंकि गुण और रीतियों में अभेद सम्बन्ध है। यहां गुण के साथ रस का आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है इस कारण रस सम्प्रदाय का भी ग्रहण हो जाता है। अनलंकृती पुनः क्वापि से अलंकार सम्प्रदाय का समावेश किया गया है। काव्यप्रकाश के अन्तिम पद्य में मम्मट ने स्वयं अपनी इस समन्वयात्मक पद्धति को प्रकट करते हुए कहा है—"इस भांति (भामह, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धनादि प्राचीन) विद्वानों का (अलंकार-सम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय आदि रूप में) भिन्न भिन्न

१. काव्य प्रकाश विश्वेश्वरकृत हिन्दी टीका भूमिका भाग

प्रभासित होने वाला यह काव्यनिरूपण मार्ग भी जो इस ग्रन्थ में समन्वित रूप में निरूपित होकर अभिन्न सा लग रहा है, यह कोई विचित्र बात नहीं है क्योंकि भले ढंग से समन्वय करने की भावना से की हुई रचना ही इसका कारण है।"[1]

अलंकारसर्वस्व और साहित्यमीमांसा

अन्य प्राचीन आचार्यों की भांति कश्मीरी आचार्य रुय्यक ने अपने जीवन का परिचय नहीं दिया है। इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट (११०० ई०) की कृति काव्यप्रकाश पर संकेत नामक टीका लिखी है। महिमभट्ट (१०५० ई०) के व्यक्तिविवेक पर भी एक टीका का निर्माण किया है। बिल्हण (१०८५ ई०) के विक्रमांकदेवचरित के कुछ पद्य अलंकारसर्वस्व में मिलते हैं। इसलिए इनका समय ग्यारहवीं शती के बाद का प्रतीत होता है। कश्मीरी कवि मङ्खक रुय्यक के शिष्य थे। वे कश्मीर के राजा जयसिंह के शासनकाल (११२८-११४८ ई०) में सान्धि-विग्रहिक रूप में राजसेवा में रहकर जीवनयापन कर रहे थे। इससे उनके समय का निर्धारण १२वीं शताब्दी का मध्यभाग किया जा सकता है। रुय्यक के अतिरिक्त इनका दूसरा नाम रुचक भी था। इनके पिता तिलक थे। पिता पुत्र दोनों ही विद्वत्ता के क्षेत्र में प्रसिद्ध थे और दोनों को ही राज दरबार से राजानक की उपाधि प्राप्त हुई थी।

रुय्यक के प्रमुख प्रकाशित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१. अलंकारसर्वस्व २. साहित्यमीमांसा ३. सहृदयलीला ४. व्यक्तिविवेक-विचार ५. काव्यप्रकाशसंकेत।

अलंकारसर्वस्व आचार्य रुय्यक की सर्वाधिक प्रौढ़ रचना है। भरत से लेकर मम्मट तक की परम्परा में विद्यमान अलंकारसम्बन्धी विचारों को रुय्यक ने समन्वित एवं परिष्कृत रूप प्रदान किया है। इन्होंने कुल ८२ अलंकारों को अपने ग्रन्थ में रखा है। काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती भामह, उद्भट, वामन आदि आचार्यों के मतों का सार दे दिया है। कश्मीरी परम्परा के अनुसार अलंकार सर्वस्व के सूत्र, वृत्ति और उदाहरण इस त्रिगुणात्मक स्वरूप के रचयिता स्वयं रुय्यक ही हैं। परन्तु त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित अलंकार सर्वस्व की पुष्पिका में अलंकारसर्वस्व के वृत्तिभाग के रचयिता के रूप में कश्मीरी आचार्य मङ्खक को

---

१. इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता संघटनैव हेतुः॥
का० प्र० १०.१४२ वृत्ति

माना गया है।[1]

अलंकारसर्वस्व के १८ सूत्रों में अलंकारों के लक्षण दिये हुए हैं। वृत्ति और उदाहरणों से इन्हीं लक्षणों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने रुय्यक द्वारा विभाजित अलंकारों का इस प्रकार वर्गीकरण प्रस्तुत किया है[2]—

१. शुद्धखण्ड

(१) शब्दालंकारवर्ग या पौनरुक्त्यवर्ग पौनरुक्त्यविच्छित्ति

(१) अर्थपौनरुक्त्य — पुनरुक्तवदाभास
(२) व्यञ्जनपौनरुक्त्य — छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास
(३) स्वरव्यञ्जनपौनरुक्त्य — यमक
(४) शब्दार्थोभयपौनरुक्त्य — लाटानुप्रास
(५) स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्य — चित्र

(२) अर्थालंकारवर्ग

(१) सादृश्यविच्छिति
(क) भेदाभेदतुल्यतामूलक उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा,
(ख) अभेदप्राधान्यमूलक स्मरण
(अ) आरोपाश्रित रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति
(आ) अध्यवसायाश्रित उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति,
(ग) गम्यौपम्यमूलक — तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना
(घ) भेदप्राधान्यमूलक — व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति
(२) विशेषणविच्छिति—
(क) केवलविशेषणविच्छित्ति समासोक्ति, परिकर
(ख) सविशेष्यविशेषणविच्छित्ति श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अर्थान्तरन्यास
(३) गम्यार्थताविच्छित्ति पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप
(४) विरोधविच्छित्ति
(क) शुद्धविरोध विरोध

---

१. इति मंखुको वितेने काश्मीरक्षितिपसन्धिविग्रहिकः।
सुकविमुखालंकारं तदिदमलंकारसर्वस्वम्॥
अलंकारसर्वस्व त्रिवेन्द्रम् संस्करण पुष्पिकाभाग

२. अलंकारसर्वस्वः डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी १९७१ भूमिका पृ० ४६-४७

(ख) कार्यकारणभावाश्रितविरोधमूलक विभावना, विशेषोक्ति, अतिशयोक्ति, असंगति, विषय, सम, विचित्र, व्याघात

(ग) आश्रयाश्रयित्वविरोधमूलक अधिक, विशेष

(घ) व्यतिहारविरोधमूलक अन्योन्य

(५) शृंखलाविच्छित्ति कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार

(६) न्यायविच्छित्ति काव्यलिंग, अनुमान, यथासङ्ख्य, पर्याय, परिवृत्ति

(क) तर्कन्यायमूलक परिसङ्ख्या, अर्थापत्ति, विकल्प

(ख) वाक्यन्यायमूलक समुच्चय, समाधि

(ग) लोकन्यायमूलक प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर

(६) गूढार्थपरताविच्छित्ति

(क) शुद्ध, सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति

(ख) स्फुटार्थता भाविक

(ग) उदात्तता उदात्त

(घ) चित्तवृत्याश्रित रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि भावशबलता

२. मिश्रखण्ड

(१) संसृष्टि (क) शब्दालंकारसंसृष्टि
(ख) अर्थालंकारसंसृष्टि
(ग) उभयालंकारसंसृष्टि

(२) संकर

शेष पांच में चार अलंकारों को वैपरीत्य के आधार पर प्रस्तुत किया है—

(१) विनोक्ति सहोक्ति-विपरीत

(२) अप्रस्तुतप्रशंसा समासोक्ति—विपरीत

(३) विशेषोक्ति विभावना—विपरीत

(४) सम विषम—विपरीत

शेष बचता है अर्थान्तरन्यास इसको अप्रस्तुतप्रशंसा के सन्दर्भ में रखने के कारण वृत्तिकार ने सामान्यविशेषभाव और उस पर आश्रित समर्थ्यसमर्थकभाव माना है।

अलङ्कारसर्वस्व पर चार टीकाओं के टीकाकारों के निम्नलिखित नाम हैं— राजानक अलक, समुद्रबन्ध, विद्या चक्रवर्ती और जयरथ।

अलङ्कारसर्वस्व की विशेषताओं के सम्बन्ध में डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने कहा है—

आलङ्कारिक रूप में रुय्यक के यशःशरीर का सर्वस्व अलङ्कारसर्वस्व है। किसी विषय के अधिकारी विद्वान् की भाषा में गाम्भीर्य, संयम और समास के

गुण सहज होते हैं। वामन और आनन्दवर्धन की प्रतिपादन शैली में जो विश्वास और प्रौढिमा है वही सर्वस्व की शैली में है। युगों की अलङ्कारचिन्तना के नवनीत को विज्ञ अध्येता के समक्ष रखना, अपने वैयक्तिक चिन्तन का योग, आक्षेप, प्रत्याक्षेप की कालिमा में न पड़कर अधिकारी स्वर के साथ विषयविवेचन, इन सभी दृष्टियों से सर्वस्व का स्थान कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं ले सकता है। यही कारण है कि अर्वाचीन सभी ग्रन्थों पर उसका प्रभाव पड़ा है। सभी अलङ्कारों के संक्षेप में किन्तु गम्भीर और स्पष्ट स्वरूप निरूपण की दृष्टि से अलङ्कारसर्वस्व की महत्ता प्राचीन सभी अलङ्कार ग्रन्थों से अपनी निजी विशेषता रखती है। जयरथ का तो कथन है कि खोजने पर भी अलङ्कारसर्वस्व की भांति अलङ्कारों का निरूपण करने वाला दूसरा ग्रन्थ नहीं मिलेगा। ग्रन्थ का विस्तार करने पर भी दूसरा आचार्य इतना सुन्दर विवेचन नहीं कर सका है।[1]

विमर्शिनी टीका—अलङ्कारसर्वस्व की कश्मीरी आचार्य जयरथ ने विमर्शिनी नामक टीका लिखी है। जयरथ ने पृथ्वीराज चौहान के शौर्य का वर्णन किया हुआ है। पृथ्वीराज सन् ११९३ में मोहम्मद गौरी के द्वारा वन्दी बनाये गये थे इससे इनका समय १२वीं शती का उत्तरार्ध तथा १३वीं शती के पूर्वार्ध के बीच है। जयरथ के गुरु शंखधर और सुभटदत्त थे। अलङ्कारविमर्शिनी की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम श्रीशृंगार था और वे सतीसर स्थान के राजा राजराज के प्रधानमन्त्री थे।[2]

त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरिज़ द्वारा प्रकाशित अलङ्कारसर्वस्व की समुद्रबन्ध (१३वीं शती का उत्तरार्ध) कृत टीका इतनी विद्वत्तापूर्ण नहीं है जितनी विमर्शिनी टीका है। सञ्जीवनी नाम की एक टीका विद्या चक्रवर्ती के द्वारा लिखी गई है। इनका समय

---

१. न ह्येवविधमेतदभिधायक प्रकरणान्तरमस्ति। तस्यान्विष्यमाणस्याप्युपलम्भयोग्यस्यानुपलम्भात् विमर्शिनी पृ० ३
एवं ग्रन्थसंक्षेपेणापि सर्वेषामलङ्काराणां विस्तृत
एव यथासम्भवि स्वरूपमुक्तमिति प्राच्यालङ्कार—
ग्रन्थेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमपि ध्वनितम्। तत्र ग्रन्थ—
विस्तरेणाप्येतत्स्वरूपस्यानमिधानात् वि० पृ० २५७
अलङ्कारमीमांसा डॉ० रामचन्द्रद्विवेदी प्रथम अध्याय पृ० ८

२. शक्राधिकश्रियस्तस्य श्रीशृङ्गार इति श्रुतः।
गुणातिक्रान्तधिषणो मन्त्रिणामग्रणीरभूत्॥
तदात्मजन्मा वैदग्ध्यबन्धु र्जयरथाभिधः।
व्यधादिदमसामान्यं श्रवणाभरणं सताम्॥
अलंकारसर्वस्व सूत्र १८ पर विमर्शिनी टीका का अन्तिम श्लोक

१४वीं शती का पूर्वार्ध है। जयरथ की विमर्शिनी टीका का पूरा नाम अलङ्कार-विमर्शिनी है। इस टीका में सैकड़ों नवीन, सुन्दर और उपयुक्त काव्यपद्यों का समावेश किया गया है। अलङ्कारसर्वस्व के उदाहरणों में जहां उन्हें शिथिलता दिखाई पड़ती है वहां वे अपना भी उदाहरण दे देते हैं। अलंकारसर्वस्व की इस टीका में इनके गहरे वैदुष्य और कठिन परिश्रम के दर्शन होते हैं। उन्होंने अलंकारोदाहरण नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी अलंकारों के सम्बन्ध में लिखा है। इन्होंने अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक की व्याख्या लिखने के बाद अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

पदे वाक्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि
प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः।
तथाप्यस्यामङ्ग क्वचन भुवि नास्ति त्रिकदृशि
क्रमार्थे वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः॥[1]

यद्यपि मैं जयरथ व्याकरण, मीमांसा और तर्कशास्त्र में सम्पूर्ण शैवदर्शनशास्त्र में प्रशंसनीय प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका हूं तथापि त्रिकदर्शन और क्रमदर्शन में मुझसे अधिक कोई विद्वान् इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर नहीं है।

साहित्यमीमांसा (त्रिवेन्द्रम सीरिज़ में १९३४ ई० में प्रकाशित) भी आचार्य रुय्यक की महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण रखकर आठ प्रकरणों में वाच्य, वाचक, कविभेद, काव्यभेद. दोष, गुण, अलंकार, रसवृत्ति, भाषा, कविसमय, कवि की साधना, विविध प्रान्तों की स्त्रियों के गुण, प्रवृत्ति, ऋतु, खेल, त्यौहार और काव्य के आस्वादन जैसे काव्यशास्त्रीय और सांस्कृतिक विषयों का निरूपण एवं विवेचन है। इन्होंने व्यंजना न मानकर तात्पर्यवृत्ति का प्रतिपादन किया है। **सहृदयलीला** के चार उल्लेखों में युवतियों के रूप वर्ण आदि दस गुण, रत्न, स्वर्ण आदि अलंकारद्रव्य, सौन्दर्यप्राण यौवन तथा सौन्दर्य को बढ़ाने वाले साधनों का वर्णन है। **व्यक्तिविवेकविचार** में रुय्यक ने महिमभट्ट कृत व्यक्ति-विवेक की व्याख्या की है। इन्होंने काव्यप्रकाश की संकेत नाम की टीका की है।

अलंकाररत्नाकर

त्रयीश्वर[2] के पुत्र शोभाकरमित्र ने अपने ग्रन्थ अलंकाररत्नाकर की रचना रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का खण्डन करके अलंकारसम्प्रदाय के क्षेत्र में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने के लिए की थी। रुय्यक मङ्ख के गुरु थे और मङ्ख कश्मीर के राजा जयसिंह (११२९ ई० से ११५० ई०) के सान्धिविग्रहिक अर्थात् विदेशमन्त्री थे, अतः रुय्यक का समय बारहवीं शती का प्रारम्भ प्रतीत होता है। रुय्यक के प्रतिस्पर्धी

---

१. तन्त्रालोक ३७ आह्निक के अन्त में ४१ परिचय पद्य

२. कुछ हस्तलेखों में त्रयीश्वरमित्र तथा कुछ में त्रयीश्वर मन्त्री पाठ मिलता है।

शोभाकरमित्र रुय्यक के समकालीन या उनके कुछ समय बाद के रहे होंगे। रुय्यक के अलंकारसर्वस्व पर जयरथ ने विमर्शिनी टीका लिखी है जिसमें शोभाकरमित्र द्वारा किये गये आक्षेपों का प्रत्युत्तर देकर रुय्यक के मत का समर्थन किया गया है। इससे स्पष्ट है कि शोभाकरमित्र का समय जयरथ के समय से पूर्व है। जयरथ कश्मीर के राजा जयसिंह के मन्त्री शृङ्गार का पुत्र था। इस प्रकार जयरथ तेरहवीं शती के प्रारम्भ में हुआ होगा। जयरथ से पूर्व हुए तथा रुय्यक के पश्चात् हुए शोभाकरमित्र का समय बारहवीं शती का अन्त माना जा सकता है। कश्मीर के कवि यशस्कर ने शोभाकरमित्र के अलंकारसूत्रों के उदाहरणों के रूप में देवीशतक की रचना की है। इससे अलंकाररत्नाकर की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। अप्पयदीक्षित तथा पण्डित जगन्नाथ ने भी अलंकाररत्नाकरकार के मतों का उल्लेख करते हुए उनका खण्डन अथवा मण्डन किया है।

अलङ्काररत्नाकर में १११ अलङ्कारों का विवेचन किया गया है। अलङ्कारों का लक्षण कारिका भाग में दिया गया है जिसकी व्याख्या लेखक द्वारा स्वयंरचित वृत्तिभाग में दी गई है। उदाहरण पूर्वरचित ग्रन्थों से संगृहीत हैं। परिकर श्लोकों में लेखक ने अपने मत को सार रूप में प्रस्तुत किया है। प्रथम छ: कारिकाओं में छ: शब्दालंकारों पुनरुदा भास, यमक, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास लाटानुप्रास तथा चित्र अलंकार की चर्चा है। सातवीं कारिका से लेकर एक सौ नौवीं कारिका तक एक सौ पांच अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। अन्तिम तीन कारिकाओं में अलङ्कार की परिभाषा दी गई है तथा संसृष्टि और संकर को पृथक् रूप से अलंकार मानने का विरोध किया गया है।

अलंकारसम्प्रदाय के क्षेत्र में शोभाकरमित्र को जो विशिष्ट स्थान प्राप्त होना चाहिये था वह विमर्शिनीकार जयरथ की कृति के कारण प्राप्त नहीं हो सका क्योंकि जयरथ ने रुय्यक के अलंकारसर्वस्व की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर दी जिससे शोभाकरमित्र के अलंकाररत्नाकर का महत्त्व कम हो गया। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि शोभाकरमित्र अलंकारसम्प्रदाय के एक मौलिक विचारक हैं।

पुनरुक्तवदाभास को रुय्यक ने अर्थालंकार माना है परन्तु शोभाकर का कहना है कि यहां तुल्यार्थत्व शब्द के आश्रित होता है अतः यह शब्दालंकार ही है। व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, भ्रान्तिमान्, समासोक्ति, समाधि, सूक्ष्म, व्याघात, उदात्त आदि अलंकारों के लक्षण शोभाकर ने रुय्यक के अलंकार सर्वस्व में दिये लक्षणों से भिन्न दिये हैं तथा युक्तियां देकर अपने मत की पुष्टि की है। रुय्यक उत्प्रेक्षा वहां मानते हैं जहां अध्यवसाय होता है। परन्तु शोभाकरमित्र का आक्षेप है कि उत्प्रेक्षा अध्यवसाय में मानने पर विषयविषयी के अभेद को निश्चयात्मक मानना पड़ेगा जबकि उत्प्रेक्षा में वस्तुत: अभेद सन्देहात्मक होता है। रसगंगाधरकार जगन्नाथ

भी रुय्यक के मत पर यही आक्षेप करते हैं।

भ्रान्तिमान् अलंकार के विषय में शोभाकरमित्र का मत है कि भ्रान्ति का सादृश्य पर आधारित होना अनिवार्य नहीं है।

समासोक्ति का रुय्यक का दिया लक्षण 'अप्रस्तुतस्य गम्यत्वम्' भी शोभाकर मित्र को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यदि अप्रस्तुत का ज्ञान हो जायेगा तो समासोक्ति अलंकार समासोक्ति न रहकर रूपक अलंकार हो जायेगा। उनके अनुसार समासोक्ति में विशेषणों के साम्य के कारण प्रस्तुत का अप्रस्तुत के गुण क्रियादि-रूप धर्मों से अवच्छेद प्रतीत होता है। अप्रस्तुत के धर्मों की प्रतीति होती है स्वयं धर्मी की नहीं।

अलंकारों के गौणप्रधान भाव की चर्चा करते हुए शोभाकर मित्र ने यह मत व्यक्त किया है कि अलंकार वहीं मानना चाहिए जहां वह अङ्गी अर्थात् प्रधान होकर उपस्थित हो। यह प्रधानभाव रस के साथ नहीं अपितु अन्य अलंकारों के साथ होता है जो प्रधान अलंकार के अङ्ग रूप में उपस्थित होते हैं। अलंकार कहीं भी नितान्त अकेला नहीं आता, किसी न किसी अन्य अलंकार की छाया अवश्य उसके संग रहती है। इस कारण संसृष्टि को अलग से अलंकार मानने का कोई लाभ नहीं। इसी प्रकार संकर भी स्वतन्त्र अलंकार नहीं है। प्रधान या अङ्गी अलंकार का अङ्ग अलंकार ही संकर कहलाता है। जहां अलंकार है वहां संसृष्टि भी है और संकर भी। अलंकारविवेचन के क्षेत्र में यह एक नया विचार शोभाकर मित्र ने दिया कि अलंकार विशुद्ध रूप से अकेला आ ही नहीं सकता। शब्दालंकार तथा अर्थालंकार की प्रायः एकत्र स्थिति होती है, एक अर्थालंकार प्रायः दूसरे अर्थालंकार के संसर्ग में प्रयुक्त होता है। और नहीं, तो अलंकारों के साथ रस-वदादि अलंकार ही अवश्यभावी होगा। रसादि के अभाव में काव्यत्व का भी अभाव मानना होगा। इस प्रकार किसी अलंकार का शुद्धत्व सम्भव ही नहीं सर्वत्र संसृष्टि या संकर है। शोभाकर मित्र की इस प्रस्थापना की भी जयरथ ने आलोचना की है। फिर भी यह तो स्वीकार करना चाहिए कि शोभाकरमित्र का ग्रन्थ अलंकाररत्नाकर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करता है।

□□

नामानुक्रमणिका

डॉ० वेदकुमारी

जन्म : १६ नवम्बर, १९३२, जम्मू तवी।

शिक्षा : एम० ए० (संस्कृत), एम० ए० (प्राचीन इतिहास एवं भारतीय संस्कृति), पी एच० डी० संस्कृत, डिप्लोमा (जर्मन तथा डैनिश)

रचनायें : नीलमतपुराण—भाग एक (सांस्कृतिक अध्ययन-अंग्रेज़ी में) भाग दो (मूलपाठ तथा अंग्रेज़ी अनुवाद)

निबन्ध : कश्मीरदर्पण

सहयोगी प्रकाशन : सांस्कृतिक और साहित्यिक निबन्ध, राजेन्द्रकर्णपूरः, भल्लटशतक, ऊर्मिका (संस्कृतकविता-सङ्ग्रह) मेरे गीत : तुम्हारे गीत (हिन्दी कविता-सङ्ग्रह)

सम्मान : १९८६ से १९८८ तक के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा नेशनल फैलोशिप से सम्मानित

सम्प्रति : प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू तवी

अभिरुचि : बालशिक्षा, बालसेवा, प्राकृतिकचिकित्सा तथा धार्मिक प्रवचन